।। वाल्लभ दृष्टि ।।

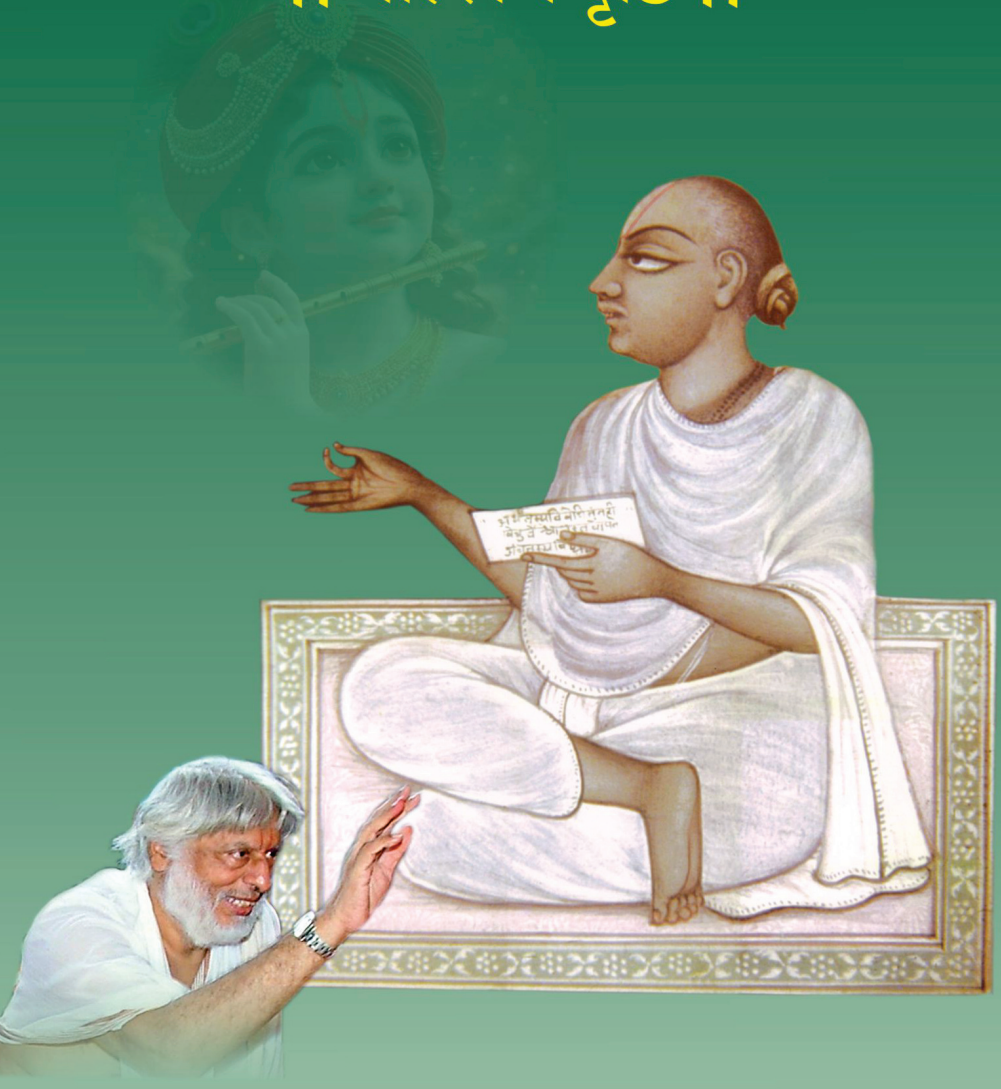

गोस्वामी श्याममनोहर

वाल्लभ दृष्टि

गोस्वामी श्याम मनोहर

सहयोगप्रकाशन : १.कन्हैयालाल शाहके लिए
उनकी पुत्रवधु कीर्ति शाह
२.प्रफुल्लाबेन, अमेरिका.
३.आशाबेन, अन्धेरी, मुंबई.
४.भरतभाई, कान्दिवली, मुंबई.
५.कौमुदीनि संघवी कान्दिवली, मुंबई.
६.हितेन्द्रभाई शाह, कान्दिवली, मुंबई.

आलेखप्रस्तुति : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : श्रीप्रभुचरणप्राकट्योत्सव वि.सं.२०८२

प्रति : ३००

निःशुल्कवितरणार्थ

Also available on App : PUSHTIVIDYA,
Free download pdf available on website :
WWW.PUSHTIMARG.NET

मुद्रक : पूर्वी प्रेस प्रा.ली.,
गोंडल रोड,
राजकोट.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ
   - खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
   - खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
   - खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

ष. प्रकाश-रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
   - खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड ३. द्वितीयाध्याय
   - खंड ४. तृतीयाध्याय
   - खंड ५. चतुर्थाध्याय

३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
   - खंड १. प्रथम (प्रथम खंड. अध्याय १-८)
     तृतीयस्कन्ध (दो खंड) श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी) द्वारा प्रकाशित.
   - खंड ४. जन्मप्रकरण
   - खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
   - खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
   - खंड ७. तामसफलप्रकरण
   - खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
   - खंड ९.राजससाधन-फलप्रकरण
   - खंड १०.सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण
   - खंड ११. गुणप्रकरण तथा यावत्प्राप्य एकादशस्कन्ध

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
   - खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
   - खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
   - खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१ष

५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (हिन्दी-गुजराती)

१३. वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत) (हिन्दी)

१४. पुष्टिविधानम्[गुजरातीपाठाली, व्रज तथा संस्कृत संस्करण]

१५. वादावली

ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चित-प्रकृत्यधिकरण-समालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद,सृष्टिभेदवाद,आविर्भावतिरोभाववाद,ख्यातिवाद,प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः,उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः,भगवत्प्रतिकृति-पूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवाद:, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

१७. सत्सिद्धान्तमार्तण्ड:. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.

१८. वेदान्तचिन्तामणी. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.

१९. प्राभञ्जन-मारुतशक्ति. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.

२०. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः.

२१. श्रीमत्प्रभुचरणकृताः स्तोत्रवज्ञप्तयः.

२२. श्रीमद्भगवद्गीताध्यायप्रतिपाद्यसंक्षेप. लेखक : गो.श्या.म.

२३. लघुग्रन्थसंग्रह १-२. लेखक : गो.श्या.म.

४क्र.१, ष तथा ४/१, ४/ष को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

२४. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी) २५. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)

२६. विवेक (हिन्दी-गुजराती) २७. विशोधनिका (चार खंड) (गुज-हिन्दी)

२८. पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी) २९. नवरत्नम् (गुजराती)

३०. नवरत्नोपदेशका मानस विश्लेषण (हिन्दी-गुजराती)

३१. श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी-गुजराती) ३२. सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)

३३. सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती) ३४. भगवद्गीतासु भक्तियोग (हिन्दी-गुजराती)

३५. पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजी) ३६. चतुःश्लोकी(हिन्दी)

३७. रसदृष्टिनी तरफेणमां(हिन्दी-गुजराती)३८. गृहसेवा और व्रजलीला(गुजराती-हिन्दी)

३९. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ (हिन्दी-गुजराती)

४०. ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय) ४१. सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)

४२. चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुज) ४३. पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य

४४. अणुभाष्य(साधनफलाध्याय) भूमिका (गुज.)

४५. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप

४६. शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)

४७. धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
४८. भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार : एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४९. साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
५०. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.)
५१. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न, सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.)
५२. वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति (वार्ता : गदाधरदास-महावनकी क्षत्राणी-दिनकरदास शेठ-दिनकरदास मुकुंददास)
५३. श्रीदामोदरदासजी-श्रीकृष्णदास मेघनजी : वार्ताविवेचना. (हिन्दी-गुजराती)
५४. श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान
५५. सूक्तित्रय : सिद्धान्त, उत्सव, भक्ति.
५६. वचनामृतत्रय (श्रीमन्महाप्रभुश्रीवल्लभवचनामृत, श्रीमद्प्रभुचरण-गोस्वामि-विट्ठलनाथ-वचनामृत, श्रीवल्लभ(श्रीगोकुलनाथ)वचनामृत)
५७. पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण (कुशंका, खिलवाड-समाधान)
५८. ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की नानावादानुरोधिता (लघुग्रन्थसंग्रह-२)
५९. पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी
६०. अमृतका आचमन
६१. कृष्णएव तात्पर्यम्
६२. अहंकारमीमांसा १,२ (हिन्दी-गुजराती)
६३. मूलाचार्यवाणी (सुबोधिनी तथा अणुभाष्य)
६४. षोडशग्रन्थ परिचय
६५. भक्तिवर्धिनी (सूक्तिसंकलन)
६६. आधुनिक न्यायप्रणाली एवं पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणलीका आपसी टकराव (हिन्दी-गुजराती)
६७. सिद्धान्तवचनावली
६८. अणुभाष्य (संक्षिप्त अनुक्रमणिका)
६९. पुष्टिमार्गीय स्वयंशिक्षक
७०. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो
७१. आत्मकथा:श्रीकृष्णस्वरूपानन्द सरस्वतीनी
७२. जयन्त कागना अनेक जन्मोनी कथा(लघुनाटक)
७३. श्रीमद् भागवत पूजन (गुजराती)
७४. शिक्षाश्लोका (गुजराती)
७५. भक्तिवर्धिनी (पीपरीया)(गुजराती)
७६. गोपीगीत सुबोधिनी (सविवरण)
७७. नलकूबेरमणिग्रीवकृतस्तुति(सविवरण)
७८. भक्तिरस
७९. वार्तान्कीसैद्धान्तिक संगति:राणाव्यास
८०. सुबोधिन्या (प्रथम-द्वितीय-तृतीय स्कन्ध)
८१. ख्यातिवाद
८२. अणुभाष्यसंक्षिप्तानुक्रमणिकाविवेचनम् (हिन्दी,अंग्रेजी)
८३. सैद्धान्तिकतात्पर्यम्
८४. वेदस्तुति
८५. श्रीव्रजराज ग्रंथावली
८६. मेरी कहानियां
८७. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, ८०३, एकमे एजन्सी, सोनी मोनी शोरूमके उपर, एस.वी.रोड, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई-५६. मो.९८२०६ १५४३४ email : paresh.shah363@gmail.com

विडियो/ओडियो प्रवचन और उपरोक्त प्राप्य ग्रंथो के लिये संपर्क करे :
पुष्टि अस्मिता संवर्धन केन्द्र, राजकोट-१. मो. ९४२७४ ९५१५९

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	१०	प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	निःशुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी)	निःशुल्क	पुष्टिप्रवेश १–२ ले. : गो.शरद् (गुज)	२०
पुष्टिप्रवेश–१–२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	१०	पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	३०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	२०	प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	५०
Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद्			६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा	अप्राप्य	साधनाप्रणाली संगोष्ठी	अप्राप्य
अधिकारपरिचर्चा	दुर्लभ	पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी	अप्राप्य
शरणागति विचारगोष्ठी	५०	सेवा–समर्पण विचारगोष्ठी	५०
पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध	१००	जघन्याधिकार विचारगोष्ठी	८०
पुष्टिफलमीमांसा	१००		
पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच			२५
पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत–संक्षिप्तविवरण)			१००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा	२००	अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी	२००	प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	२००		
वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी			निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठ:

पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	२०	पुष्टिपाठावली (गुजराती)	२०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ			१०
पुरुषोत्तमसहस्रनाम–त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद)			२०

सन्दर्भग्रन्थ:

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका			१०
Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद			१५
अमृत वचनावली (गुजराती)	निःशुल्क	अमृत वचनावली (हिन्दी)	निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

पुष्टिविधानम्–२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका पदच्छेद–अन्वय– शब्दपरिचय–वृत्तिपरिचय १००

पुष्टिविधानम्–३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ–श्लोकार्थ–विवेचन–पादानुक्रमणिका १५०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००

श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री ५००

श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण सहित ५०
विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
सेवा[हिन्दी] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवा[गुज.] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी अप्राप्य
रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवाकौमुदी[(हिन्दी)],विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म. अप्राप्य
भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य
कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद अप्राप्य
जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य,
सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र,
पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)(संस्कृत-गुज.-हिन्दी) १००
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-६(उपनिषद्-गीताविवृति) संस्कृत २००
श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १-१९) संस्कृत २००

इतिहास

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५
आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध	१००	द्वितीयस्कन्ध	१००
तृतीयस्कन्ध (१-२)	४००	दशमस्कन्ध(जन्मप्रकरण)	१५०

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य	निःशुल्क	श्रीगोपीनाथप्रभुचरण	निःशुल्क
महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण			निःशुल्क

गोशाला : मांडवी-कच्छ में प्राकृतिक वातावरणमें गोपाल गोशाला.

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज.

पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात-३८९३५०. फोन : 02676-225171

व्होट्स्एप द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करें : विद्यापीठ : 02676-225171

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/
http://www.pushtimarg.net/

टेलि कोन्फरन्स्-पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओं केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com

Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**

Like our page on Facebook : Sri Vallabhacharya Vidyapeeth

Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :**

आधुनिक संसाधनों का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमें रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनोंको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमें पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलेंडर), उत्सवोंका परिचय, सिद्धान्तसूक्तियाँ, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथों का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योंकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमें क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायेंगे।

पुरोवाक्

श्रद्धेय गोस्वामी श्याममनोहर जी द्वारा लिखित ग्यारह आलेखों के इस संग्रह को मैं प्रकरणैकादशी के रूप में समझता हूँ। ये आलेख स्वतन्त्र हैं, कई एक तो परस्पर सम्बद्ध भी नहीं हैं और कई एक दूसरे से सम्बद्ध भी हैं। एक को तो स्वतन्त्र लघु प्रकरण ग्रन्थ के रूप में समझा जाये तो अधिक सही होगा। इस संग्रह में तीसरा आलेख "साकारब्रह्मवादमूलो हि शुद्धाद्वैतवादः" गोस्वामी श्याममनोहर जी द्वारा संस्कृत में एक सौ चौबीस श्लोकों में निबद्ध एक मौलिक पद्यमय प्रकरण ग्रन्थ है। इन ग्यारह आलेखों में अन्तिम आलेख आंग्ल भाषा में लिखित है जिसमें अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत के मौलिक सिद्धान्तों के मध्य संक्षिप्त तुलना की गयी है। एक बात जो इन समस्त आलेखों को जोड़ती है वह यह कि ये आलेख मुख्यतया वाल्लभ दर्शन पर केन्द्रित हैं। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन आलेखों का दायरा बहुत विस्तृत है। वैषयिक दृष्टि से जिस प्रकार इस ग्रन्थ में वैविध्य है इसी प्रकार भाषिक दृष्टि से भी वैविध्य है क्योंकि इसमें तीन भाषाओं में आलेख संग्रहीत हैं संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी। विषय की दृष्टि से इस ग्रन्थ का आयाम बहुत विस्तृत है क्योंकि गोस्वामी श्याममनोहर जी के चिन्तन का दायरा

पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों दर्शनों के सुदूर छोरों को तो छूता ही है, उनके अध्ययन की सीमा में मनोविज्ञान, विज्ञान, साहित्य तथा संगीत भी अन्तर्भूत होते हैं। इस कारण उनके विचार प्रतिष्ठित तो भारतीय शास्त्र परम्परा में रहते हैं, लेकिन वे समकालीन चिन्तनों तथा वैचारिक चुनौतियों से भी एक गम्भीर संवाद स्थापित करते हैं।

बीसवीं शताब्दी के मध्य तक शुद्धाद्वैत वेदान्त एक विशिष्ट चिन्तन परम्परा के रूप में दर्शन के सामान्य विद्यार्थियों के बीच जाना नहीं जाता था। यद्यपि एस एन दासगुप्त जैसे विद्वानों ने शुद्धाद्वैत वेदान्त को पृथक् दर्शन परम्परा के रूप में युक्तिपुरस्सर स्थापित किया है। परन्तु शुद्धाद्वैत वेदान्त को एक विशिष्ट वेदान्त की चिन्तन परम्परा के रूप में स्थापित करने में गोस्वामी श्याममनोहर जी का योगदान अद्वितीय है। वे अपने आलेखों के क्रम में शुद्धाद्वैत वेदान्त की अन्य वेदान्ती परम्पराओं से विविक्त अपनी स्वतन्त्र दृष्टि क्या होगी इस विषय पर विशेष सावधान रहते हैं। इस कारण जिन बिन्दुओं पर शास्त्रों में सुस्पष्ट प्रतिपादन नहीं मिलता उनका विवेचन करने के क्रम में गोस्वामी श्याममनोहर जी शास्त्रों के वैचारिक विकास को भी आगे बढ़ाते हैं।

इन आलेखों में प्रथम आलेख है "वेदादिशास्त्रीय धर्ममीमांसा में धर्म की अवधारणा तथा गीताभागवतोक्त धर्म पर आधारित वाल्लभ विमर्श"। शीर्षक को देखा जाये तो लगता है कि ये दो आलेख सम्भवतः जोड़ दिये गये हैं क्योंकि "वेदादिशास्त्रीय धर्ममीमांसा में धर्म की अवधारणा" अपने आप में एक पूर्ण आलेख होने की योग्यता रखता है। यदि उसी वेदादिशास्त्रीय धर्ममीमांसा में धर्म की अवधारणा पर आधारित वाल्लभ विमर्श किया जाता तो फिर भी यह सम्बद्ध होता। परन्तु गीताभागवतोक्त धर्म पर आधारित वाल्लभ विमर्श को इसके साथ जोड़ देने का प्रथमदृष्ट्या आपाततः कोई सम्बन्ध दिखता नहीं। लेकिन आलेख का गम्भीर अनुशीलन यह बतलाता है कि वस्तुतः गीताभागवतोक्त धर्म ही वेदादिशास्त्रीय धर्ममीमांसा से उभर कर सामने आता है। गीता को समस्त उपनिषदों का सार मानने का सिद्धान्त इसी कारण तो है। इसी गोस्वामी जी की दृष्टि वेद से विवेचन को प्रारम्भ कर भागवत पर पहुँचती हुई इनमें एकरूपता देखती है।

धर्म की अवधारणा को समझने के लिए प्रथमतया व्यक्ति के स्वातन्त्र्य को समझना आवश्यक है। किसी भी कृत्य का सही या गलत होना तभी विचारित किया जा सकता है जब उस कार्य को करनेवाला स्वतन्त्र हो। इसीलिए न तो मशीन को ही किसी भी कार्य के प्रति जिम्मेदार नहीं ठहराया

जा सकता है और न तो मनुष्य को ही शरीर में अकस्मात् घटित होने वाली वमन आदि क्रियाओं के प्रति कर्ता स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए कर्तृत्व के लिए कुछ शर्तों का पूरा होना आवश्यक है। नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न इन तीनों की सम्पत्ति होने पर ही व्यक्ति का कर्तृत्व सम्भव होता है। स्वतन्त्र ज्ञान से इच्छा तथा इच्छा से प्रयत्न तथा प्रयत्न से शारीर व्यापार के क्रम से व्यक्ति का कर्तृत्व सम्भव होता है। व्यक्ति के स्वातन्त्र्य में कम से कम संकल्प का स्वातन्त्र्य तो आवश्यक ही होगा, अन्यथा व्यक्ति का कर्तृत्व नहीं हो सकता। मनुष्य के शरीर में अकस्मात् घटित होने वाली वमन आदि क्रियाओं के प्रति मनुष्य को कर्ता न स्वीकार करने का आधार यही है कि ये क्रियाएं बुद्धिपूर्वक नहीं होतीं। इसलिए धर्म की कोई बुद्धिग्राह्य परिभाषा होनी चाहिए। यदि किसी कृत्य के सही या ग़लत होने को बुद्धि के द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता हो तो बुद्धिपूर्वक होने वाली कृति का भी कर्तृत्व मनुष्य का नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धि के द्वारा इस कार्य, कृति में कोई वैशिष्ट्य नहीं हो सकता। फलतः उस कार्य का कर्तृत्व मनुष्य नहीं हो सकेगा। चूंकि मनुष्य एक बुद्धिमान प्राणी है तथा उस बुद्धि के द्वारा किसी भी कृत्य के सही या ग़लत होने का निर्धारण वह कर सकता है इसलिए धर्म की बुद्धिग्राह्य परिभाषा का अन्वेषण अपेक्षणीय है। कांट जैसे

पश्चिम के विभिन्न विचारकों ने धर्म की बुद्धिग्राह्य परिभाषा का अन्वेषण करने का गम्भीर प्रयास किया है। इन चिन्तकों का प्रयास एक सार्वभौम अवधारणा को खोजने का रहा है। भारतीय परम्परा इसके विपरीत धर्म के विभिन्न प्रारूपों को प्रस्तावित करती है। इसलिए पारम्परिक वैदिक दृष्टि से देश, काल, अधिकारी आदि के भेद से धर्म भी अधर्म तथा अधर्म भी धर्म बन जाता है।

गोस्वामी जी वैदिक परम्परा का अनुसरण करते हुए धर्म के विभिन्न विधाओं का परिगणन करते हैं। सर्वसाधारण सनातन धर्म जिसमें धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रियनिग्रह इत्यादि आते हैं। विशेष धर्म जिसमें कि नित्य धर्म संध्या वन्दन इत्यादि आते हैं। विशेष नैमित्तिक धर्म जो कि किसी खास समय पर, किसी खास अवस्था में किए जाते हैं। किसी खास वर्ण विशेष के लोगों के द्वारा या किसी आश्रम विशेष के लोगों के द्वारा किए जाते हैं। गुण धर्म के हिसाब से भी जो की जिसमें कि आपद्धर्म, चांद्रायण इत्यादि व्रत की चर्चा की जाती है। इन सबकी भी परिगणना गोस्वामी श्याममनोहर जी व्यवस्थित तरीके से करते हैं।

इन सारे विवेचनों को ध्यान में रखते हुए धर्ममीमांसा के संदर्भ में भागवत में आए हुए संदर्भ को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं जहां पर विराट् ईश्वर के हृदय को धर्म और उसके

पृष्ठ भाग को अधर्म कहा गया है। इसका निहितार्थ इसमें है कि भगवान् के स्वरूप में धर्म और धर्म दोनों ही पूर्व भाग और पृष्ठ भाग में अवस्थित हैं और इसी वजह से उपनिषदों में आता है कि जिससे ईश्वर अच्छा कार्य करना चाहता है उसको अच्छे कार्य में प्रवृत्त करता है और जिससे असत् कार्य कराना चाहता है उसको असत्कार्य में प्रयुक्त करता है। परंतु यह निश्चित है कि धर्म कर्तव्य के रूप में और अधर्म अकर्तव्य के रूप में, त्याज्य के रूप में परिगणित है। अधर्म की भी पांच विधाएं हैं। भागवत पुराण के अनुसार उनको यहां पर संग्रहीत किया गया है विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म और छल इनको अधर्म की शाखाओं के रूप में परिगणित किया गया है। हैं तो ये भी धर्म ही, इसलिए इनका त्याग अपेक्षित नहीं है, तथापि जिसके लिए जिन परिस्थितियों में इनका विधान है, उससे भिन्न परिस्थितियों में इनकी करणीयता नहीं है। इसका निष्कर्ष यह है कि धर्म का प्रत्यय नितान्त निरपेक्ष प्रत्यय नहीं है।

अधर्म के उपर्युक्त पांच प्रभेदों की तरह धर्म के भी दो भेद भागवत पुराण में बताए गए हैं जो कि बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो सकैतव धर्म और दूसरा निष्कैतव धर्म। जिसमें निष्कैतव धर्म की महत्ता स्वीकार की गयी है। जैसा कि श्रीमद् भागवत में निष्कैतव धर्म को महत्त्व देते हुए प्रतिपादित किया गया है कि यहाँ पर कैतव रहित धर्म

प्रतिपादित है। वल्लभाचार्य जी के वचनों का अनुसरण करते हुए कपट से रहित धर्म ही वास्तविक धर्म है तथा उसकी पूर्णता पुष्टि भक्ति में होती है। क्योंकि यह आलेख वेद से प्रारंभ होकर वेदान्तों के माध्यम से गीता तथा श्रीमद् भागवत की तरफ पहुंचता है।

भारतीय दर्शन परंपरा में धर्म के विषय में विवेचन करने का प्रारंभ विधि के विषय में विवेचन से प्रारंभ होता है। विधि के बारे में विभिन्न पक्षों की संभावना होती है। निश्चित रूप से जो कार्य करने वाला है उसकी स्वतंत्रता अपेक्षणीय है। क्योंकि यदि उसकी स्वतंत्रता ना हो तो किसी भी कार्य का कृतित्व उसका संभव नहीं हो पाएगा जैसा कि ऊपर बताया गया। विधि के बारे में गोस्वामी श्याममनोहर जी 6 पक्षों की संभावना व्यक्त करते हैं–स्वरूप, अभिप्राय ज्ञान, भावना, अभिधा, आज्ञा और इष्टसाधनताज्ञान। इसी से जुड़ा हुआ वेदों के पूर्वकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड के द्वंद्व की भी समस्या है जिसमें एक कर्मकांडपरक तो दूसरा ज्ञानकांडपरक माना जाता है। इस विषय में अनेक आधुनिक विद्वानों के द्वारा इसे पुरोहितों और क्षत्रिय विद्वानों के परस्पर संघर्ष के रूप में व्याख्यात किया जाता है। गोस्वामी श्याम मनोहर जी ने इस विरोध को सर्वथा अनुचित मानते हुए ब्राह्मणवग्गो इत्यादि बौद्ध ग्रन्थों में जो ब्राह्मण को आदर्श के रूप में स्वीकार किया है वह वैदिक परंपरा में ब्राह्मणों को आदर्श के

रूप में स्वीकृति से भिन्न नहीं है बल्कि उसके समान ही है। इसलिए बौद्ध धर्म में भी कहीं पर भी ब्राह्मण द्वेष उस तरह से नहीं है जैसा आधुनिक लोग दावा करते हैं। इसके विपरीत ब्राह्मणवग्गो इत्यादि बौद्ध ग्रन्थों में ब्राह्मण के प्रति आदर भाव ही है। तथापि अद्वैत की स्वीकृत होने पर भेद मूलक भक्ति किस प्रकार से संभव हो सकेगी और जब ईश्वर को कर्ता और कारयिता दोनों स्वीकार किया जाएगा तो जीव की स्वतंत्रता किस तरीके से संभव हो सकती है?

यहां यह भी स्मरणीय है की वाल्लभ परंपरा के अनेक ग्रन्थों में पुष्टि भक्ति को कर्तव्य के रूप में बताया गया है। यहां पर यह विचारणीय है कि पुष्टि भक्ति में जीव का किस प्रकार का स्वातंत्र्य है? समाधान के रूप में गोस्वामी श्यामममनोहर जी अद्भुत तरीके से जीव का स्वातन्त्र्य प्रतिपादित करते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के दृष्टिकोण से ब्रह्म की अद्वितीयता कोई तार्किक और सांख्यिकी बंध्या एकता नहीं है बल्कि वस्तुसिद्ध तादात्म्य का प्रतिपादन है। जिसमें जड़, जीव, ईश्वर, आत्मा, नाम, रूप इत्यादि अनेक द्वैत उस अद्वैत के विरोधी नहीं होते। इसलिए भक्ति में जीव का स्वतंत्र भी बन जाता है।

द्वितीय आलेख का शीर्षक "वाल्लभ वेदान्त" है और इस आलेख में वाल्लभ वेदान्त की प्रमाण दृष्टि, प्रमेय दृष्टि,

साधन दृष्टि और फल दृष्टि से विवेचना की गई है। यह आलेख अपने प्रतिपादन तथा विषय की स्पष्टता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस आलेख के अवगाहन से आचार्य शंकर के अद्वैत तथा वल्लभ के अद्वैत में क्या अन्तर है, यह सुस्पष्ट हो जाता है। लेख के एकदम प्रारम्भ में ही गोस्वामी श्याममनोहर जी यह स्पष्ट कर देते हैं कि "वाल्लभ वेदान्त बौद्धिक ऊहापोहात्मक दर्शन न होकर वेदादि शास्त्रों के विविध वचनों के परस्पर समन्वय की गवेषणा के रूप में प्रकट व्याख्यारूप दर्शन है"। यह प्रतिष्ठापना वाल्लभ वेदान्त की तार्किक दृष्टि तथा उसकी दार्शनिक प्रस्थिति को समझने के लिए आधारभूमि का कार्य करती है। प्रमाण के विषय में मुख्यतः आचार्य शंकर की प्रतिज्ञा का अनुसरण करते हुए जिसमें सूत्रों को वेदान्त वाक्यरूपी फूलों को गूँथने के लिए उपयोगी सूत्र माना गया है तदनुसार ही वाल्लभ वेदान्त में भी स्वीकृति है। इतना अवश्य है कि जहां अन्य दार्शनिक और वेदान्ती वेदों के विभिन्न वचनों को लाक्षणिक स्वीकार कर लेते हैं, वहीं वल्लभाचार्य के दर्शन में वेदों को इस अर्थ में प्रमाण माना जाता है जो उनका वाच्य अर्थ है क्योंकि किसी वेद वाक्य को लाक्षणिक स्वीकार करने का तात्पर्य यह हुआ कि उस वेदवाक्य का वाच्यार्थ में तात्पर्य नहीं है या वाच्यार्थ में उसका प्रामाण्य नहीं है। इसके अलावा शंकर के अद्वैत और वल्लभ के अद्वैत में एक प्रमुख अंतर यह है कि

जहां शांकर अद्वैत पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता का भेद स्वीकार करता है और उस भेद को स्वीकार कर वेदान्तों के प्रामाण्य की व्यवस्था करता है। इस दर्शन के अनुसार वेदान्तों के द्वैतपरक वाक्य अपूर्व अर्थ का बोधन नहीं करते हैं, लौकिक अनुभव से प्राप्त द्वैत का ही पुनः प्रतिपादन करते हैं, अनुवादमात्र करते हैं। इसलिए अनुवादक होने के कारण उनका द्वैत अर्थ में प्रामाण्य नहीं है। वहीं वाल्लभ वेदान्त में प्रमाण चतुष्टय की एकवाक्यता के आधार पर एकमेवाद्वितीय ब्रह्म स्वरूप और इच्छित द्वैत को स्वीकार कर संगति बनाई गई है। प्रमेय दृष्टि का मुख्यतः चार दृष्टियों से विचार किया गया है शास्त्र प्रतिपाद्य दृष्टि के अनुसार, तत्व दृष्टि के अनुसार, देवशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार और सर्वदृष्टिसंग्राहिका दृष्टि के अनुसार। "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" के अनुसार समस्त वेदों के द्वारा ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। यह प्रतिपादन विधानात्मक दृष्टि से तथा अपोहन दृष्टि से उभयथा होता है। इस कारण जहाँ आचार्य शंकर की दृष्टि में ब्रह्म का प्रतिपादन केवल लक्षणावृत्ति के द्वारा होता है, नेति नेति के द्वारा निषेधमुखेन होता है, वहीं आचार्य वल्लभ की दृष्टि में निषेधमुखेन भी होता है और विधिमुखेन भी। इसलिए ब्रह्म निर्गुण भी है सगुण भी। साकार भी और निराकार भी। क्योंकि वेदान्तों में उभयथा प्रतिपादन प्राप्त होता है। तत्व दृष्टि से 28 तत्त्वों के रूप में कारणकोटिरूप

ब्रह्म तथा अनन्त नामरूपकर्मात्मक तत्त्व कार्यकोटि ब्रह्म। देवशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाये तो गोस्वामी श्याममनोहर जी इसको ब्रह्माद्वयानेकदेववाद के रूप में परिभाषित करते हैं। यह देवशास्त्रीय दृष्टि समस्त वैदिक परम्परा की समन्वय दृष्टि समझी जा सकती है। सर्वदृष्टिसंग्राहिका दृष्टि के अनुसार वाल्लभ अद्वैत दृष्टि सर्ववादानवसर तथा नानावादनुरोधि है। साधन दृष्टि से विचार किया जाये तो कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग से होते हुए पुष्टि भक्ति के रूप में साधन की परिनिष्ठता को समझा जा सकता है। फलदृष्टि से विचार किया जाये तो सुप्रसिद्ध चतुःपुरुषार्थवाद को स्वीकारा जा सकता है या भक्तिसमन्वित पंचपुरुषार्थवाद को स्वीकृति दी जा सकती है।

"साकारब्रह्मवादमूलो हि शुद्धाद्वैतवादः" शीर्षक तृतीय आलेख वस्तुतः आलेख न होकर एक स्वतन्त्र प्रौढ़ प्रकरण ग्रन्थ है। इसका प्रणयन गोस्वामी श्याममनोहर जी ने संस्कृतभाषामय श्लोकों में किया है तथा इसका भाषानुवाद मैत्री गोस्वामी ने किया है। यह बहुत गम्भीरता से शुद्धाद्वैत का विवेचन करता है तथा उसकी सम्भावना किस प्रकार है इसको विवेचित करते हुए स्थापित करता है। द्वैत कितने प्रकार का हो सकता है? या द्वैत पर कितने प्रकार से विचार किया जा सकता है? तत्त्व की दृष्टि से, बोध की दृष्टि से इन दो प्रकारों से द्वैत की निरुक्ति सोची जा सकती है। जिस

प्रकार से कार्यकारणकोटिगत विविध तत्त्वों की स्वीकृति वाल्लभ वेदान्त में स्वीकृत है, तदनुसार न तो तत्त्व की दृष्टि से और न तो बोध की दृष्टि से ही अद्वैत की सम्भावना बन सकती है यह पूर्वपक्षीय प्रश्न होता है। इसी पूर्वपक्षीय प्रश्न को लेकर विचार करते हुए तात्त्विक अद्वैत तथा ऐच्छिक द्वैत को स्वीकार करते हुए शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना इस आलेख में की गयी है। वाल्लभ वेदान्त के अनुसार मायासम्बन्धरहित शुद्ध अद्वैत द्वैत विरोधी या द्वैत असहिष्णु न होकर द्वैतसहिष्णु है। नञर्थ छह हैं, इसलिए अद्वैत पद में नञ् का अर्थ अभाव ही माना जाये यह आवश्यक नहीं है। इसके उदाहरण के रूप में अमित्र पद को गोस्वामी श्याममनोहर जी लेते हैं। अमित्र का अर्थ मित्राभाव नहीं होता है और न तो मित्र ही होता है, बल्कि मित्र से भिन्न होता है उसी प्रकार अद्वैत में भी अद्वैत का अर्थ द्वैत से भिन्न ही लेना उचित है। यह वाल्लभ वेदान्तसम्मत अद्वैत तादात्म्यरूप है, इस कारण यह द्वैत सहिष्णु भी है तथा अद्वैतसहिष्णु भी। इस कारण वाल्लभ मत में भी शांकर मत की तरह ब्रह्म देश, काल तथा स्वरूप से अपरिच्छिन्न तो है, परन्तु शांकर मत से भिन्न रीति से इच्छावश वही ब्रह्म परिच्छिन्न नामरूपकर्मों को धारण करता है। इस तरह यह मत साकारब्रह्मवाद के रूप में प्रतिष्ठित होता है। वह साकार ब्रह्म एक है, उसका अद्वैत होने के

कारण शुद्धाद्वैतमत इसको कहा जाता है। बहुत ही व्यवस्थित रीति से इस आलेख में शुद्धाद्वैत के अंग के रूप में नौ उपवादों को संगृहीत किया गया है। शुद्धाद्वैतवाद को समझने के लिए ये नौ उपवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, इसी कारण विद्वान् लेखक ने इनको प्राणरूप में उपस्थापित किया है। इन नौ उपवादों को विरुद्धधर्माश्रयवाद, अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद, सत्कारणतावाद, सत्कार्यवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, अविकृतपरिणामवाद, कार्यकारणतादात्म्यवाद, अंशांशितादात्म्यवाद तथा लीलया सृष्टिवाद के रूप में समझा जा सकता है।

अग्रिम आलेख "ब्रह्मवादीया विरुद्धर्माश्रया वादप्रक्रिया" विषयविस्तार तथा विषयगाम्भीर्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस आलेख का प्रारम्भ इस विचारसरणि से होता है कि ब्रह्म नाम का प्रत्यय किस रीति से हमारे विचार का विषय हो सकता है? द्रष्टा और दृश्य ये दो हर किसी के अनुभव में आते हैं। उस द्रष्टा को बाह्य अर्थ प्रतीयमान तो होता ही है। उस प्रतीयमान बाह्य अर्थ को सत् मानने के पक्ष में उसको द्रष्टा से भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न या भिन्नाभिन्नविलक्षण मानने के ये चार विकल्प सम्भव हैं। इसी प्रकार प्रतीयमान बाह्य अर्थ को असत् मानने के पक्ष में भी उसको द्रष्टा से भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न या भिन्नाभिन्नविलक्षण मानने के ये चार

विकल्प सम्भव हैं। इसी प्रकार से प्रतीयमान बाह्य अर्थ को सदसत् मानने के पक्ष में तथा सदसद्विलक्षण मानने के पक्ष में भी यही चार-चार पक्ष सम्भव हैं। इन सोलह प्रकारों में भारतीय दर्शन परम्परा के प्रमुख दर्शनों तथा पाश्चात्य दर्शन परम्परा के कई एक का अन्तर्भाव सम्भाव्य है। जो भी हो उपनिषदों में ब्रह्म की अवधारणा आती तो अवश्य है। बहुतेरे उपनिषद्वाक्यों में ब्रह्म का प्रतिपादन प्राप्त है। उपनिषदों से प्रतिपादित ब्रह्म को द्विधा देखा जा सकता है। उपनिषदों में ब्रह्म को अवाच्य भी कहा गया है तथा बहुतेरे विशेषणों से अभिधेय भी कहा गया है। इन दोनों में विरोध दिखता है। तो क्या माना जाये? वाल्लभ दृष्टि यह है कि विरुद्धधर्माश्रयतया उभयविध ब्रह्म को स्वीकार कर लेना चाहिए। इस विषय में वाद की भूमि यह है कि क्या वाल्लभ दृष्टि से ब्रह्म को विरुद्धधर्माश्रय स्वीकार किया जा सकता है या मायावाद का अंगीकार करते हुए अद्वैत को स्वीकार करना चाहिए, अथवा अद्वैत का तिरस्कार करते हुए द्वैत को ही स्वीकार कर लेना चाहिए? लम्बे विचार के उपरान्त गोस्वामी श्याममनोहर जी यह सिद्धान्तित करते हैं कि गौणी वृत्ति का स्वीकार अनुचित है तथा तात्पर्यनिर्णायक लिंगों के द्वारा वेदों और उपनिषदों का समन्वय इसी वाल्लभ मत में किया जा सकता है। आचार्य शंकर भी इसी के पक्षपाती हैं कि वेदों तथा उपनिषदों के वाक्यों का समन्वय जिस पक्ष में

किया जा सके उसी को स्वीकार करना चाहिए। फिर तो मायावाद पर आधारित अद्वैत को स्वीकार करने के बजाये मायासम्बन्धरहित अद्वैत ही स्वीकार करना श्रेयस्कर है।

"सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति" यह आलेख आनन्द को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। वेदों में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता या आनन्दमयता का प्रतिपादन किस रीति से किया जाये इसी को आधार बनाकर यह आलेख लिखा गया है। यूँ तो आनन्द तथा सुख को पर्याय के रूप में बहुधा लिया जाता है। परन्तु क्या उपनिषदों में जिस आनन्द की चर्चा की जाती है वह सुखस्वरूप ही है या सुख से भिन्न? निश्चित ही उपनिषद् ही इस विषय में मार्ग दिखाते हैं जब छान्दोग्य उपनिषद् बताती है कि "यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति"। इस उपनिषद् वाक्य के द्वारा सुख तथा आनन्द में एक श्रेणीविभाग तो मिलता ही है, अल्प है तो वह वस्तुतः सुख ही नहीं है। इस कारण उपनिषद् में निरतिशय सुख के लिए ही आनन्द शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु सुख का यह निरतिशयत्व क्या है? क्या सुख का यह निरतिशयत्व दुःखाभावमात्र है जैसा कि नैयायिक तथा वेशेषिक मानते हैं या दुःखात्यन्ताभाव से संवलित सुख है? इसका समाधान बृहदारण्यक उपनिषद् की इस दृष्टि में देखा जा सकता है, जहाँ यह बताया गया है कि "एषो अस्य परम आनन्दः

एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति", यही इसका परम आनन्द है कि इसी आनन्द की मात्रा से अन्य भूत आनन्द का अनुभव करते हैं। इसीलिए दुःखात्यन्ताभाव से संवलित सुख के रूप में निरतिसुख को नहीं खोजा जा सकता है क्योंकि इस स्थिति में बीभत्स, भयानक आदि रसों के अनुभव में होनेवाले रसानन्द की व्याख्या इस पक्ष में सम्भव नहीं हो सकेगी। आनन्द की औपनिषदिक विवेचना के आलोक में व्याख्या करते हुए उसकी परिनिष्पत्ति इसमें होती है जिसमें आनन्द को एक ऐसे धर्मी के रूप में ब्रह्माभिन्नतया स्वीकार करना उचित जान पड़ता है जिसमें सुख या दुःख क्रिया के रूप में अनेकविध रूपों में प्रकट होते हैं।

"ब्रह्मवादी चिन्तन की सहिष्णुता" शीर्षक अग्रिम आलेख शुद्धाद्वैत की सर्ववादानवसरता के साथ-साथ नानावादानुरोधित्व को स्थापित करता है। कई एक सिद्धान्त हैं जो इस प्रकार का दावा करते हैं। गौड़पाद का अजातिवाद, माध्यमिक शून्यवाद तथा जैन स्याद्वाद इस विषय में उदाहरण का कार्य करते हैं। परन्तु इन सबको साधकावस्था में वाद के लिए उपस्थित ही होना पड़ता है। इसी कारण तो वैतण्डिक मुद्रा में माध्यमिक को सभी मतों का प्रत्याख्यान करने के लिए कटिबद्ध होना पड़ता है और आचार्य शंकर तथा गौड़पाद दोनों ही अद्वैत मत से अतिरिक्त सभी मतों

को मिथ्या या व्यावहारिकता की भूमि पर स्थापित करते हैं। स्याद्वादी भी अन्य मतों को एकान्तवाद के रूप में या सात भंगों में से किसी एक भंग के रूप में ही स्वीकार करते हुए अनेकान्तवाद को ही पारमार्थिकता का पूर्ण ज्ञानमीमांसीय चित्र स्वीकार करते हैं। शुद्धाद्वैत की सर्वमतसमावेशिता तथा सर्ववादानवसरता इस कारण है कि यहाँ ब्रह्म का स्वाभाविक अद्वैत तथा ऐच्छिक द्वैत स्वीकारते हुए उसकी श्रुतितात्पर्यवशात् विरुद्धधर्माश्रयता भी स्वीकार की जाती है। इस कारण इसमें समस्त मतों को एक ही स्तर पर स्वीकृत किया जा सकता है। यह आलेख आधुनिक विज्ञान तथा अज्ञेयवादी तत्त्वमीमांसा से प्रारम्भ होता है। यह विज्ञानसम्मत अज्ञेयवादी तत्त्वमीमांसा श्रुति के लिए मार्ग छोड़ देती है। वस्तुतः तर्क तथा विज्ञान की सीमा का अतिक्रान्त किये विना वेदान्ती तत्त्वमीमांसा के लिए अवसर नहीं बन सकता। वस्तुतः अज्ञेयवादी तत्त्वमीमांसा तथा अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा के मध्य न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, जैन आदि समस्त मत आ जाते हैं। अब विचारणीय बिन्दु यह है कि अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा कैसी होनी चाहिए आचार्य शंकर द्वारा स्वीकृत निर्विशेष अद्वैत या सविशेष व साकार अद्वैत। गोस्वामी श्याममनोहर जी आचार्य शंकर के मत में श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदों के वचनों से विरोध दिखलाते हैं। यदि सूत्रों का कार्य वेदान्तवाक्यरूपी फूलों का चयन करना ही है तो

वेदान्तवाक्यों के अभिप्राय से ही ब्रह्म का स्वरूप निर्वचन करना उचित तथा युक्तिसंगत होगा। तदनुसार ब्रह्म को साकार तथा निराकार, निर्गुण तथा सगुण, अद्वैत तथा द्वैत दोनों ही मानना उचित होगा। यहाँ पर द्वैत अद्वैत का विरोधी नहीं होता बल्कि द्वैतसहिष्णु अद्वैत की स्वीकृति होने से ब्रह्मवादी चिन्तन सर्वमतसहिष्णु ठहरता है।

"श्रीशंकरात् प्राग् अद्वैतवादी चिन्तन" आलेख आचार्य शंकर से पूर्व अद्वैतदृष्टि का ऐतिहासिक विवेचन करता है। यद्यपि इस विषय में एकाधिक विद्वानों ने चिन्तन किया है। श्री मुरलीधर पांडेय द्वारा लिखित ग्रन्थ श्रीशङ्करात् प्रागद्वैतवादः अत्यन्त प्रसिद्ध तथा चर्चित है। तथापि वैचारिक गम्भीरता की दृष्टि से यह आलेख ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से अपने चिन्तन को प्रारम्भ करते हुए कैसे अद्वैत का चिन्तन करना अपेक्षणीय है, इस विषय से अपने विचार को प्रारम्भ करते हैं। पूर्व के भी आलेखों में इस विषय का विवेचन आता है कि किस प्रकार से अद्वैत को द्वैत का विरोधी होना आवश्यक नहीं है, द्वैतसहिष्णु अद्वैत की स्वीकृति में उपनिषदों का अभिप्राय अधिक संगत प्रतीत होता है। नासदीय सूक्त आदि श्रुतिवचनों के तर्ज़ पर बौद्ध मत में विज्ञानवाद तथा शून्यवाद विकसित होने की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता है। गोस्वामी श्याममनोहर जी तो ऐसा ही मानते हैं। अद्वैत शब्द के अर्थ का निर्वचन किस

प्रकार से किया जाये इसको पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि जैसे महान् वैयाकरणों के चिन्तन से समझना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। महाभाष्य के उदाहरणों की समीक्षा अविकृतपरिणामवाद की ओर ही संकेत करती दिखती है। इसलिए गोस्वामी श्याममनोहर जी मानते हैं कि वार्तिककार तथा महाभाष्यकार की दृष्टि में अभिप्रेत अद्वैतवाद निषेधात्मक अद्वैत न होकर विधानात्मक अद्वैतवाद है। कालिदास की कविता जो कि निश्चय ही शंकर से पूर्वकालीन है। उसमें किस प्रकार की अद्वैत दृष्टि दिखती है वह निषेधात्मक अद्वैतदृष्टि न होकर विधानात्मक अद्वैतदृष्टि ही है। गौड़पाद के अजातिवाद सिद्धान्त को जिस प्रकार से आचार्य शंकर के विवर्तवाद के साथ संगत किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार से उसकी संगति अविकृतपरिणामवाद के साथ भी हो सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। न केवल इतना ही अपितु भर्तृहरि की शब्दाद्वैतदृष्टि भी अविकृतपरिणामवाद के साथ संगत है। अद्वैत को यदि शंकरप्रतिपादित निषेधात्मक केवलाद्वैत के रूप में देखें तो वल्लभ का मत विधानात्मक अद्वैत का है। जिसको शुद्धाद्वैत कहा जाता है। इसके नौ उपवाद हैं। इस बात को तृतीय आलेख में बहुत संक्षेप में बताया गया है। उसका स्फुट विस्तार इस आलेख में देखा जा सकता है। गोस्वामी श्याममनोहर जी का अभिमत है कि जो विचारक

इन उपवादों में से जितने उपवादों को स्वीकार करता है वह उसी मात्रा में शुद्धाद्वैती है। यहाँ पर यह बात अद्भुत रूप से महत्त्वपूर्ण है कि आचार्य शंकर की इनमें से अधिकांश उपवादों को स्वीकार करते हैं ऐसा शांकर भाष्य तथा उनके व्याख्याकारों के उद्धरणों से गोस्वामी श्याममनोहर जी पुष्ट करते हैं। कई एक तो शांकरानुयायी अद्वैती अपने आपको शुद्धाद्वैती ही कहलाना पसन्द करते हैं।

"अद्वैतमहोत्सव" शीर्षक आलेख भी एक प्रकार से तृतीय आलेख तथा सप्तम आलेख का विस्तार है तथा आचार्य शंकर की भारतीय चिन्तन परम्परा में क्या भूमिका तथा क्या महत्त्व है, इसको रेखांकित करता है।

"दुर्गासप्तशती और शक्तिभाष्य का तुलनात्मक विमर्श वाल्लभवेदान्ती दृष्टिकोण से" आलेख अल्पप्रसिद्ध शाक्तवेदान्त का वाल्लभवेदान्ती दृष्टिकोण से विवेचन करता है। ब्रह्मसूत्र शक्तिभाष्य के प्रणेता रहे हैं बीसवीं शताब्दी के आचार्य पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य। गोस्वामी श्याममनोहर जी के अनुसार यह भाष्य ग्रन्थ सरूपाद्वैतवाद का प्रतिष्ठापक है तथा शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त के अत्यन्त समीप है। इसी कारण इस सिद्धान्त की वाल्लभ वेदान्ती दृष्टिकोण से विवेचन तथा तुलना का अवसर भी बनता है। इस अवसर पर केवलाद्वैतवाद, औपाधिकद्वैताद्वैतवाद तथा

शुद्धाद्वैतवाद तीनों ही किस प्रकार से विविध वेदान्ती सन्दर्भों के द्वारा औपनिषदिक मत हैं, तथा इसकी पुष्टि किस रीति से सम्भव हो पाती है, इसका सुस्पष्ट निदर्शन है। एकमेवाद्वितीयं इस श्रुति के साथ इन्द्रो मायाभिः पुरुरुप ईयते इस श्रुति का संयोजन किया जाये तो केवलाद्वैत, यदि परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते का संयोजन करें तो औपाधिकद्वैताद्वैतवाद और यदि तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय का संयोजन करें तो शुद्धाद्वैतवाद औपनिषदिक चिन्तन से निकलकर सामने आता है। इन तीनों में अन्तर इस प्रकार से आते हैं कि प्रथम कल्प में द्वैत मायिक भ्रान्ति है तो द्वितीय कल्प में शक्त्युपाधिक होने पर भी वास्तविक है, शुद्धाद्वैत के अनुसार द्वैत न तो स्वाभाविक है न तो मायिक, न तो औपाधिक अपितु ब्रह्म की सर्वभवनसामर्थ्य तथा संकल्प से प्रकट होनेवाला ऐच्छिक है। यहाँ पर विचारणीय यह है कि आचार्य पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य द्वारा प्रतिपादित सरूपाद्वैतवाद औपाधिकद्वैताद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद में से किसके अधिक समीप है? ऊपर नौ उपवादों की चर्चा की जा चुकी है, उन नौ वादों को शुद्धाद्वैतवाद की कसौटी के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। ऐसा ही गोस्वामी श्याममनोहर जी करते भी हैं। उनकी विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सरूपाद्वैतवाद को भी शुद्धाद्वैतवाद के ही एक प्रकार के रूप

में देखा जा सकता है क्योंकि इन नौ वादों की उपपत्ति सरूपाद्वैतवाद में देखी जा सकती है। यद्यपि इस प्रश्न के प्रति गोस्वामी श्याममनोहर जी सावधान हैं कि क्या आचार्य पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य को यह स्वीकार्य होगा? बहुतेरे स्थलों पर अणुभाष्य की प्रतिपादन रीति के साथ-साथ आचार्य पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य की प्रतिपादनरीति को भी देखा जा सकता है जिसमें दोनों की प्रतिपादनरीति समान ही है। आचार्य पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य शांकरमत की तरह निर्विशेष को अपरिच्छिन्न तथा सविशेष को परिच्छिन्न मानते हैं, अन्तर सिर्फ़ इतना रहता है कि जहाँ शांकरमत में निर्विशेष पारमार्थिक तथा सविशेष अपारमार्थिक है वहीं इनके मत में निर्विशेष तथा सविशेष दोनों ही पारमार्थिक हैं। इस कारण इनका मत औपाधिकद्वैताद्वैतवाद की ओर जाता हुआ दिखता है, तथापि शुद्धाद्वैतमत तथा आचार्य पंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य के मत कुछ आधारभूत समानताएँ हैं, जैसे ये दोनों ही तादात्म्य से पृथक् समवाय सम्बन्ध को मान्यता नहीं देते, भट्टाचार्य जी के मत में तादात्म्य भेदाभेदरूप है। इसी प्रकार ऊपर प्रतिपादित नौ उपवादों की उपपत्ति के कारण इस मत को भी वैष्णव शुद्धाद्वैतवाद के एक शाक्त संस्करण के रूप में मान्यता देने का पक्ष गोस्वामी श्याममनोहर जी रखते हैं।

"पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणाली" आलेख पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणाली की दार्शनिक पृष्ठभूमि तथा इसके दार्शनिक आधारशिला का गम्भीर विवेचन करता है। इसके साथ-साथ इसके जो साहित्यशास्त्रीय तथा संगीतशास्त्रीय आयाम हैं उनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन इस आलेख में है। इससे वाल्लभ पुष्टिभक्ति में इस कीर्तनप्रणाली की क्या भूमिका है यह भी स्पष्ट हो जाता है।

"श्रीकृष्णभक्ति की उफनती दिव्यसरिता मीराँ" आलेख वाल्लभ तत्त्वदर्शन धर्मसाधना तथा साम्प्रदायिक इतिवृत्त का सन्दर्भ ग्रहण करता है। यह आलेख सम्प्रदाय शब्द की विवेचना करता हुआ यह भी स्पष्ट करता है कि किस प्रकार से प्राचीन काल में सम्प्रदाय शब्द एक आदरास्पद शब्द होता था न कि आज की तरह निन्दित। यह आलेख प्रसंगवश आधुनिक साम्प्रदायिक सैद्धान्तिक मतभेदों को व्यावहारिक स्तर पर किस प्रकार गरिमामय रीति से सुलझाया जाये, इसका भी सांकेतिक पदावली में प्रतिपादन करता है।

"Advaita Viśiṣṭādvaita & Śuddhādvaita" शीर्षक एकमात्र आलेख जो आंग्लभाषा में है अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत इन तीनों की विभाजक विशिष्टताओं को रेखांकित करने के लिए लिखा गया है। यह कार्य महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ये तीनों ही हैं तो अद्वैत के ही विशिष्ट प्रकार। अद्वैत

वस्तुतः उपनिषदों की प्रमुख दृष्टि है। इसीलिए अद्वैतवादी दृष्टि का वेदान्ती परम्परा में प्राधान्य है। अनेक आचार्यों ने अद्वैती व्याख्या उपनिषदों की है। गोस्वामी श्याममनोहर जी इन तीनों की तुलनात्मक समीक्षा के क्रम में यह पक्ष रखते हैं कि यदि अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद को जोड़ दिया जाये तो उससे शुद्धाद्वैतवाद बन जाता है। अद्वैतवेदान्त की ब्रह्म की अवधारणा को शुद्धाद्वैत वेदान्त की अक्षरब्रह्म के साथ साम्य दिखलाया जा सकता है। सगुण ब्रह्म की अवधारणा तो विशिष्टाद्वैत के ब्रह्म की अवधारणा के समतुल्य तो है ही।

इन एकादश आलेखों के अध्ययन से शुद्धाद्वैत वेदान्त की एक अच्छी समझ निर्मित हो सकती है। किस प्रकार शुद्धाद्वैतवाद निर्विशेषाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि विभिन्न वेदान्ती मतवादों से भिन्न है, इससे सरलतया परिचय प्राप्त हो सकता है। शुद्धाद्वैतवाद की क्या मूलभूत अवधारणा या प्रतिष्ठापना है, तथा क्या मौलिक सिद्धान्त हैं, जिस पर आधारित होकर शुद्धाद्वैतवाद का प्रासाद निर्मित होता है, इन सबका भी परिचय बहुत ही आसानी से प्राप्त हो जाता है। तथा यह सब गोस्वामी श्याममनोहर जी जैसे शुद्धाद्वैतवेदान्त के परिनिष्ठित आचार्य से आता है तो इसमें भ्रान्ति की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है। मैं आदरणीय गोस्वामी श्याममनोहर जी को इस ग्रन्थ के प्रणयन के लिए

साधुवाद देता हूँ तथा ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूँ वह गोस्वामी श्याममनोहर जी को दीर्घायु बनाये जिससे कि हम इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों से भी परिचित हो सकें।

सच्चिदानन्द मिश्र

सदस्य सचिव,

भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

कृतज्ञतांगीकृति

प्रस्तुत प्रकाश्यमान ग्रन्थ कुछ विचारसंगोष्ठियोंमें मेरे द्वारा प्रस्तुत आलेखपत्रों, प्रस्तावना अथवा वक्तव्यों का संकलन है.

इन्हें संकलित करनेका श्रेय सर्वप्रथम श्रीपरेश शाहको जाता है. इन्हें संकलित कर संमाननीय स्नेही विद्वान् श्रीसच्चिदानन्द मिश्रजीको अवलोकन कर पुरोवाक् लिखनेका अनुरोधके साथ भेजा गया. 'विद्वान्'पदका एक अन्यतम स्पृह्यपर्याय दोषज्ञ भी होता है परन्तु अपने स्नेहसुलभ "गुणज्ञाः सारभागिनः" स्वभावके अनुरूप अपनी अनेकविध व्यस्तताके बावजूद जो अनुरोध स्वीकार कर पुरोवाक् लिखा तदर्थ अतीव हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं. अन्य भी वाल्लभ ग्रन्थोंके प्रकाशनमें सर्वदा सन्नद्ध श्रीमती मनीषा प. शाह. श्रीमती-श्री पद्मिनी धर्मेन्द्र झाला, श्रीअनिल भाटिया, श्रीजगदीश शेठ तथा श्रीराजेशभाई आदिके स्पृहणीय परिश्रमके फलरूप यह प्रकट होने जा रहा है. इसके मुद्रित हो जानेके बाद तीन [१]पुरुषोत्तम अक्षरब्रह्म और जगत् [२]पुरुषोत्तमविवेक तथा [३]जैन और वाल्लभ धर्म-दर्शनका तुलनात्मक विमर्श ये मेरे वक्तव्य भी खोज कर लिपिबद्ध कर लिये गये सो इस संकलनके साथ परिशिष्टतया योजित कर दिये गये हैं.

इनके मुद्रणोपयोगी उत्तरदायित्वका वहन राजकोटके कर्मठ श्रीप्रवीण डढाणिया तथा श्रीपीयूषभाई गोंधिया ने सुचारुरूपेण किया वह कृतज्ञतापूरित हृदयको करता ही है.

ग्रन्थकार

दि.फाल्गुनशुक्ला अष्टमी वि.सं.२०८२ गोस्वामी श्याम मनोहर

विषयानुक्रमणिका

आलेखक्रम	पृष्ठक्रम
१.वेदादिशास्त्रीय धर्ममीमांसामें धर्मकी अवधारणा तथा गीता-भागवतोक्त धर्मपर आधारित वाल्लभ विमर्श	**१-४८**
मंगलाचरण	१
उपक्रम	१
(१) 'धर्म'के प्रत्ययकी सम्भावना	१
(२) 'धर्म' प्रत्ययकी बुद्धिग्राह्य परिभाषाकी खोज	५
(३) अनुष्ठेय धर्मकी प्रामाण्यव्यवस्था	१०
(४) भागवतपुराणके अनुसार सकैतव धर्म और निष्कैतव धर्म का प्रभेद	१२
(५) भागवतानुसारी 'धर्म' प्रत्यय	१६
(६) भागवतानुसारी 'धर्म' के लक्षण और प्रमाण	१८
(७) भागवतानुसारी 'धर्म' प्रत्ययके बारेमें स्वीकृत प्रामाण्यव्यवस्था	२२
उपसंहार श्लोका:	४७
२.वाल्लभ वेदान्त	**४९-८३**
उपक्रम	४९
प्रमाणदृष्टि	५०
प्रमेयदृष्टि	५९
साधनदृष्टि	६६
फलदृष्टि	७४
उपसंहार	८३
३.साकारब्रह्मवादमूलो हि शुद्धाद्वैतवाद:	**८४-१२४**
मंगलाचरणम्	८४

पूर्वपक्षके रूपमें उपक्रम ८४
ब्रह्मकी तत्त्वरूपताकी दृष्टिसे समाधान ८५
इष्टसिद्धिग्रन्थप्रयुक्त युक्तियोंका निरूपण ८७
शुद्धाद्वैतवादको पुष्ट करनेवाले तदंगभूत नौ वाद ८९
ब्रह्मबोधकी दृष्टिसे भी समाधान ९१
पुनः एक आशंका होनेपर उसका समाधान ९५
ब्रह्मके शब्दसे अवाच्य होनेके मतका निरसन ९९
शास्त्रमें आत्यन्तिकद्वैतका निषेध किया है
ऐच्छिकद्वैतका नहीं १०६
एक अन्य शंकाका निरास १०७
द्वित्वके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित अद्वैत है. तादात्म्य
नहीं है ऐसी शंका एवं समाधान ११०
उपसंहार ११४
४.ब्रह्मवादीया विरुद्धधर्माश्रया वादप्रक्रिया १२५-१६९
वादसन्दर्भ १२५
(१) बाह्यार्थसद्वाद १३१
(२) बाह्यार्थअसद्वाद १३२
(३) बाह्यार्थसदसद्वाद १३२
(४) बाह्यार्थसदसद्विलक्षणवाद १३२
वादभूमि १३५
वादप्रक्रिया १४१
विविदिषाकाल या विवादयिषाकाल में उपयोगी निकष १४२
प्रथम वादनिकष १४२
द्वितीय वादनिकष १४६
तृतीय वादनिकष १४८
चतुर्थ वादनिकष १५२

पञ्चम वादनिकष १५३
उपक्रमः १५५
वेदार्थस्वरूपविचारः १५६
वेदवेदान्तयोः अभेदो भेदो वेति शंका समाधाने १५६
तत्र समाधानम् १५६
उपसंहारः १५७
षष्ठ वादनिकष १५८
वादोपकरण १६८
५.सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति १७०-१८३
६.ब्रह्मवादी चिन्तनकी सहिष्णुता १८४-२१८
मंगलाचरण १८४
उपक्रम १८४
आधुनिक विज्ञान और अज्ञेयवादी तत्त्वमीमांसा १८५
आधुनिक विज्ञानके सन्दर्भमें कर्ममीमांसा तथा
ब्रह्ममीमांसा का द्वैत १८८
विश्लेषणवादके सन्दर्भमें परिवर्तनशील और
अपरिवर्तनशील तत्त्वोंका स्वरूप १९३
ब्रह्मवाद २०२
ब्रह्मका वेदान्तप्रतिपादित स्वरूप २०५
विविध मतोंको परस्परासहिष्णु बनानेवाले
कतिपय विवादग्रस्त मुद्दे २०९
मूलभूत श्रौतप्रश्न २१२
उसका श्रौतसमाधान २१३
७.श्रीशंकरात्प्राग् अद्वैतवादी चिन्तन २१९-२५९
मंगलाचरण २१९
उपक्रम २१९

विषय-द्वैत और/अथवा अद्वैत २२०
उपसंहार २५९
८.अद्वैतमहोत्सव २६०-२७१
९.दुर्गासप्तशती और शक्तिभाष्य का तुलनात्मक विमर्श वाल्लभवेदान्ती दृष्टिकोणसे २७२-३१०
उपक्रम २७२
(१) ब्रह्मवाद २७९
(२) विरुद्धधर्माश्रयतावाद २८०
(३) अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद २८२
(४) सत्कारणतावाद २८३
(५) सत्कार्यवाद २८३
(६) आविर्भावतिरोभाववाद २८४
(७) अविकृतस्वरूपपरिणामवाद २८५
(८) कार्यकारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद २८६
(९) लीलार्थ सृष्टिवाद २८८
दुर्गासप्तशतीका तुलनात्मक विमर्श २८९
ब्रह्मसूत्रपर शाक्त भाष्य और वाल्लभ भाष्य का तुलनात्मक विमर्श २९५
उपसंहार ३०८
१०.पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणाली ३११-३२१
११.श्रीकृष्णभक्तिकी उफनती दिव्य सरिता मीराँ ३२२-३४७
१.वाल्लभ तत्त्वदर्शन-धर्मसाधनाका सन्दर्भ ३२३
२.सांप्रदायिक इतिवृत्तका सन्दर्भ ३३२
परिशिष्ट १
पुरुषोत्तम-अक्षरब्रह्म-जगत् वाल्लभ विमर्श ३४८-३८५
ब्राह्मिक विमर्श ३४८

सृष्टि/जगत् विमर्श ३५४
अक्षरब्रह्मका विमर्श ३६५
पुरुषोत्तम विमर्श ३७६
परिशिष्ट २
पुरुषोत्तमविवेक ३८६-३९०
परिशिष्ट ३
जैन और वाल्लभ धर्म-दर्शनका
तुलनात्मक विमर्श ३९१-४१४
परिशिष्ट ४
Advaita Viśiṣṭādvaita & Śuddhādvaita ४१५-४३०
उद्धरणतालिका ४३१-४५६
उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका ४५७-४६०

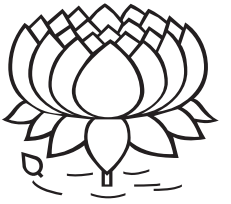

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

वेदादिशास्त्रीय धर्ममीमांसामें धर्मकी अवधारणा तथा गीता-भागवतोक्त धर्मपर आधारित वाल्लभ विमर्श

यः छन्दसां ऋषभो विश्वरूपः छन्दोभ्यो अधि अमृतात् सम्बभूव, स मा इन्द्रो मेधया स्पृणोतु, अमृतस्य देवधारणो भूयासं, शरीरं मे विचर्षणं, जिह्वा मे मधुमत्तमा, कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवं, ब्रह्मणः कोशो असि मेधया पिहितः.

वेदोंके मन्त्रोंमें श्रेष्ठ ॐकार जो अविनाशी सर्वात्मा ब्रह्मसे प्रकट हुवा वह मुझे ब्राह्मिकी मेधासे सम्पन्न करे, ताकि उस अविनाशी ब्रह्मको मैं धारण कर, मेरा शरीर विविध रूपोंमें विचरण करता हो पर मेरी जिह्वा अतिमधुर बनी रहे कि कर्णेन्द्रियसे ॐकार रूप ब्रह्मकोश मेरी लौकिक मेधासे ढंका न रहे.

(तैत्ति.उप.१।४)

(मंगलाचरण)

नमोऽस्तु धर्मरूपाय कृष्णाय परमात्मने॥
नमोऽनुग्रहशीलाय नमः पुष्टिप्रियाय च॥

(उपक्रम)

(१) 'धर्म'के प्रत्ययकी सम्भावना :

जिस व्यक्तिका अन्तर्मन इस बातकी गवाही देता हो कि मेरी अपनी बुद्धिशालिता इच्छाशालिता और प्रयत्नशालिता के बारेमें

मैं परनिर्भर नहीं हूं, उसे स्वयंकी अहंकारास्पदतामें स्वतन्त्रताका आभास भी नियततया होता ही है.

महर्षि पाणिनिके "**स्वतन्त्रः कर्ता**" (पाणि.सू.१।४।५४) सूत्रकी विवक्षा भी अतएव "**क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितो अर्थः कर्ता**" ही स्वीकारी गयी है. यह विवक्षा चेतनव्यक्तिकी, जैसे स्वयंके बारेमें हो सकती है, वैसेही अचेतनपदार्थके बारेमें भी हो सकती है. किसीभी क्रियाके आविष्करणार्थ स्वभाव या सामर्थ्य के रूपमें आरोपित स्वातन्त्र्यवाला कोई अचेतन पदार्थ भी हो ही सकता है. वैसा प्रयोग भी असाधु नहीं माना जाता है. अज्ञान अनिच्छा और अयत्न वशात् शरीरमें प्रकट होनेवाली क्रियाओंमें हमें कर्तापनेका भाव उभरता नहीं है; पर ज्ञानेच्छायत्नपूर्वक प्रकट होते कर्मोंमें कर्तापनेका अनुभान उभर ही जाता है. ऐसा कर्म जब एक व्यक्ति दूसरेके साथ करता है तो वह व्यवहार बन कर उभरता है. पर जब किसी दूसरेका स्वयंके प्रति किया गया व्यवहार स्वीकार्य न हो तो स्वयंको भी जो पराये व्यक्तिको न सुहाये ऐसा व्यवहार न करना चाहिये, ऐसी सावधानीके साथ किया जाता कर्म व्यवहारसे ऊपर उठ कर नीति या नय बन जाता है. जिस प्रकारके व्यवहार या कर्म धार्मिक या सामाजिक शास्त्रोंद्वारा अनुमोदित हों वे धर्मादिके रूपमें बिरदाये जाते हैं. फिरभी कोई कलाकार जब नीतियुक्त या अनीतिपूर्ण व्यवहारका अभिनय कलाभिव्यक्तिके लिये करता हो तो वह रसाभिनय ही माना जाता है, नीति या अनीति नहीं. अभिनय, परन्तु, दर्शकके भीतर रसानन्द प्रकट करनेके लिये प्रदर्शनार्थ होता है. स्वयंके भीतर भरी, परन्तु, उमंगके आविष्करणार्थ प्रकट होता अभिनय अभिनयसे ऊपर उठ कर स्वभावजात क्रियाकी तरह ही लीलारूप निष्प्रयोजन कर्म बन जाता है.

मूलमें वस्तु या व्यक्ति के स्वभावसे प्रकट होती क्रियाके अलावा अन्य सभी प्रकारके कर्म व्यवहार आदि स्वयंचेतन व्यक्तिके ज्ञान इच्छा और प्रयत्न के प्रयोगान्वित हो पानेकी तात्कालिक सुविधाके आधारपर स्वातन्त्र्यकी अनुभूति प्रदान करते एक मानसिक आश्वासन हैं. यह आश्वस्तता मन और तन के बीचमें निरन्तर आन्दोलित होती रहती है. दूसरे शब्दोंमें 'सायकोसोमेटिक् फिनोमिना' भी इसे कहा जा सकता है, यदि इस टर्मको केवल डिस्ऑर्डरके अभिप्रायमें सीमित न कर दिया जाये तो.

डरनेके कारण व्यक्ति नहीं दौड़ता पर दौड़ कर बचनेकी मनोवृत्ति डरके रूपमें भासित होती है, ऐसा माननेवाले जॅम्स्लॅन्ग् जैसे विचारकोंकी कथा भिन्न है. इसी तरह यदृच्छावादिओं अथवा नियतिवादिओं की भी. क्योंकि वे इसे आत्मभ्रमिक प्रत्यय मान सकते हैं. वास्तविकता तो यही है कि आत्मसंवेदना एक नहीं अनेक उपाधिओंसे घिरी रहती है. यथा सॅल्युलर् कल्चर्, बायोलोजिकल् कल्चर्, जॅनेटिक् बायोलोजिकल् कल्चर्, फिज़िकल् कल्चर्, फेमिली कल्चर्, सोशियल् कल्चर्, जीओअॅनवायर्मॅन्टल् कल्चर्, पॉलिटिकल् कल्चर्, नॅशनल् कल्चर्, ग्लोबल् कल्चर्, प्रिवेलिन्ग् मोरल् कल्चर्, स्पिरिच्युअल् कल्चर् या विभिन्न धर्मोंकी थियोलॉजिकल् कल्चर्, ऐसे पर्यावरणकी परिधिसे बहिर्भूत विशुद्ध चेतना मानवीय चेतना हो ही नहीं सकती, रोबोटिक् कल्चर्के सदृश बन्धनोंसे सर्वथा निर्मुक्त, उसे भी एक्टिवेट होनेको अपने निर्माताद्वारा चिप्में आरोपित किसी प्रकारकी कल्चरका सहारा तो लेना ही पड़ेगा.

मानवेतर प्राणियोंमें यह सायकोसोमेटिक् इन्डिपॅन्डन्स्की अनुभूति यथार्थ या अयथार्थ, जो भी मानी जाती हो, होती है पर्यावरणसे पराभूततया आक्रान्त परनिर्भर ही. मानवेतर प्राणिओंको भी बरतना

तो ऐसे ही पड़ता है. उनकी अहंकारानुभूतिमें अत: यह कितनी अनुस्यूत होती है या नहीं, यह तो जॅनेटिक् सायकॉलोजीके लिये गवेषणीय विचारबिन्दु लगता है.

हर सूरतमें एक धर्मकर्ताके भीतर स्वयंके स्वतन्त्र ज्ञाता होना, स्वतन्त्र इच्छासमर्थ होना या स्वतन्त्र प्रयत्नशील होना एक अनिवार्य प्राग्-अनुबन्ध जैसा होता है.

कर्तृस्वातन्त्र्यके अभावमें अनुष्ठित कोई भी कर्म कर्म न हो कर केवल तनुजा क्रिया ही रह जाती है. कर्तृत्वभावरहित अकस्माद् घटित होते वमन या विरेचन अथवा मूत्रोत्सर्जन या अंगकम्पन आदि कर्म न हो कर शरीरमें प्रकट होती क्रियामात्र होते हैं. आन्तरिक हेतुओंके वश या अज्ञानवश या प्रमादवश यथाकथञ्चित् होती क्रियाओंमें कर्तृभाव भासित होनेपर भी वह स्वीकार्य नहीं हो पाता. अपनेसे बलवान किसी परपुरुषद्वारा हठात् करवा ली गई क्रिया भी, चेतनाके भीतर कर्तृत्वभावसे मंडित नहीं हो पाती. अत: ऐसे अनेक उदाहरणोंमें धर्मकर्ता होनेका अनुभाव प्रकट कर पाना शक्य नहीं लगता. यूरोपीय अस्तित्ववादिओंको यह मान्य न हो तब भी. पराये पुरुषद्वारा बलप्रयोगद्वारा करवालिये गये कार्योंको मनुस्मृतिकार भी कृतकर्मकी गरिमाका वाहक नहीं मानते हैं **''सर्वान् बलकृतान् अर्थान् अकृतान् मनुः अब्रवीत्''** (मनुस्मृ.८।१६८).

फिरभी मानवीय अहंकारकी पराकाष्ठापन्न विडम्बना यह एक और है कि बलवान समुदाय बहुधा निर्बल व्यक्तिओंसे कभी हठात् तो कभी बिभीषिका लालच या छद्मद्वारा निजधर्म अनुष्ठान करवा ही लेता है. और तो और हम बहुधा गृहपालित पशु-पक्षियोंसे

भी स्वधर्मपालन हठात् करवानेके शोखीन होते हैं. दाना-पानी या दंडेके बलपर उनसे अपना मनचाहा काम करवा लेते हैं. और इसमें हमारे क्षुद्र मानवीय अहंकारको भ्रामक संतुष्टि भी मिलती ही है. जैसे तोतेसे अपनी धार्मिक आस्थाके वचन बुलवाना, अथवा मांसाहारी पशुपक्षिओंको निरामिष आहारभक्षी बना देना, या कुत्ता बन्दर भालु शेर हाथी जैसे पशुओंसे सरकसके करतब करवा लेना, या उन्हें मनुष्यकी तरह दो पैरोंसे चलवाना वस्त्र पहना देना या नचाना आदि. ऐसा ही होता है सायकोसोमॅटिक् धर्मस्वातन्त्र्यके भी यान्त्रिक होनेका अद्भुत चमत्कार!

वैसे स्वयं अपनी अपराधीनताको मानव स्वयंका एकाधिकार मानता होनेपर भी अन्योंके बारेमें उसे मान्य रखना नहीं चाहता! क्योंकि अन्यके अहंकारका हमें अनुव्यवसाय होता ही नहीं है.

इस तरह देखा जा सकता है कि धर्मके आचरणकी सम्भावनामें रही किसी प्रकारकी वैचारिक या व्यावहारिक जटिलताकी उपेक्षा बरती जाती है. उसे स्वयंसिद्ध मान कर हम चलते हैं.

ऐसे अनिर्वचनीय धर्माचरणको, किन्तु, परिभाषित करने जानेपर तो लेशमात्र भी अग्रसर होते हि विचारयात्रामें जटिलताओंके अम्बारका ढेर उभर कर विचारयात्रामें अडंगा लगाना शुरु कर देता है.

(२)'धर्म' प्रत्ययकी बुद्धिग्राह्य परिभाषाकी खोज :

स्वतन्त्र ज्ञानेच्छायत्नवान होनेके अनुभानमूलक व्यक्तिके धर्माचरणोंके अधिकारी होनेकी अनिवार्यता धर्ममीमांसामें दो तरह उभारी गई है : किसीके अनुसार अधिकारविधिवश तो अन्यके

अनुसार नियोगवश. अधिकारविधिका मूल वैयक्तिक आत्मानुसन्धानमें निहित होता है. नियोगका मूल, जबकि, सामुदायिक/सामाजिक पशुके रूपमें सामाजिक व्यवस्थाके पराधीन होनेके अनुसन्धानमें निहित होता है.

यहां एक विलक्षण तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि भारतप्रभव श्रुति स्मृति इतिहास पुराण या तन्त्र आदि शास्त्रोंमें उपलब्ध होते विधि-निषेध मूलत: प्राय: सर्वाधिकारक नहीं माने गये हैं. प्रत्युत तत्तद् व्यक्ति/समुदायको देशकालादि निमित्तोंके वशात् ही ये विधि-निषेध अधिकारी/नियोज्य मान कर प्रवृत्त हुवे हैं. अर्थाद् व्यक्तिको तत्तद् धर्माचरणार्थ अधिकृत करते हैं या नियुक्त करते हैं. क्योंकि कोई भी असमर्थ या अनभिलाषी पुरुष स्वयंको तब-तक किसी धर्मके आचरणार्थ अधिकारी या नियोज्य मान लेने उद्यत ही नहीं हो पाता, जब-तक उसके कर्तृत्वघटक ज्ञानेच्छाप्रयत्न रूपी व्यापारमें उसे स्वयंकी सामर्थ्य या अभिलाषिता का अनुव्यवसाय प्रकट नहीं होता. अतएव, अविहित या निषिद्ध, देश काल द्रव्य कर्ता मन्त्र और कर्म के सन्दर्भमें अनुष्ठित धर्म भी अधर्म बन जाता है. धर्मका अर्थोपाजनार्थ अनुष्ठान अधर्म होनेपर भी शास्त्रविहित अर्थोपार्जन धर्म माना गया है. स्वच्छन्द कामाचार अधर्म होनेपर भी शास्त्रविहित काम धर्म्य होता है **''धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि''** (भग.गीता.७।११). और तो और मोक्ष जिसे सर्वोपरि पुरुषार्थ माना गया, वह भी अनधिकारीके लिये पातित्यहेतु माना गया है **''ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेद् अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजति अध:''** (मनुस्मृ.६।३५).

बस, विचारयात्राके इस पड़ावपर पहुंचते ही धर्माचरणको परिभाषित करनेका प्रयास प्रथम सोपानपर ही फिसल कर नीचे

आ धमकता है. क्योंकि स्वतोबाह्य सदसद् विवेकके बारेमें पुरुषका अनवगत या अनिश्चित होना तो साधारणतया समझमें आनेवाली बात होती है. परन्तु आत्मनिष्ठ अभिलाषा/अनभिलाषा या कर्तव्याकर्तव्यबोध के बारेमें अनवगत या अनिश्चित होना तो वयस्क व्यक्तिमें अवांछनीय बाल्यस्वभावकी अनुवृत्ति लगती है.

बाल्यावस्थामें तो वात्सल्यप्रेरक चेष्टाओंमें निरत प्राणी बालक अपने इर्दगिर्द रहे गुरुजनोंके मूक-अनुकरणद्वारा अपने इष्टानिष्ट या कर्तव्याकर्तव्यके प्रति मुग्धभावके साथ सभान होने लगता है. इस कारण वह अन्यमुखापेक्षी हो कर बरतता है. अतः नियोक्ता गुरुजनोंको भी वात्सल्यवश अभिलषित नियोग या विधि-निषेध करना आवश्यकतासे कहीं अधिक होता है. वह किसी एक बालककी तुलनामें अतएव अधिक नियोगाकांक्षी बन जाता है. बाल्यावस्थाके बाद ये नियोग, सिगमंड फ्रॉयड्की शब्दोंमें कुछ कहना हो, तो 'ईड'(निरुपाधिक) को नकारनेवाले 'सुपर-ईगो' (सोपाधिक) के रूपमें चेतनारूढ़ हो जाते हैं.

इस सन्दर्भमें यह विशेषतः अवधेय है कि धर्मकी एक नहीं अनेक विधा वैदिक परम्परामें स्वीकारी गयी हैं :

> [१]सर्वसाधारण सनातन धर्म **''धृतिः क्षमा दमो अस्तेयं शौचम् इन्द्रियनिगृहो ह्रीः विद्या सत्यम् अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्:''/''सत्यं दमः तपः शौचं सन्तोषो ह्रीः क्षमा आर्जवं ज्ञानं शमो दया ध्यानम् एष धर्मः सनातनः'',(इन्द्रियनिगृहो निषिद्धेभ्यः इन्द्रियनिवारणं, ह्रीः अकार्यनिवृत्तिः, सत्यं यथार्थप्रियवचनं/भूतहितार्थवचनं वा, तपः स्वधर्मवर्तिता, क्षमा**

द्वन्द्वसहिष्णुता, आर्जवं समचित्तता, ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः, दया भूतहितैषिता, ध्यानं निर्विषयं मनः).

[२]विशेषधर्मके अन्तर्गत [क]त्रैवर्गिक नित्य धर्म वर्णाश्रमाचारादि तथा [ख]आपवर्गिक कर्मज्ञानोपासना-भक्ति आदि.

[३]विशेष नैमित्तिक धर्म : निमित्तम् एकम् आश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते नैमित्तिकः स विज्ञेयः.

[क]कालविशेषधर्म : अन्ये कृतयुगे धर्माः त्रेतायां द्वापरे तथा अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमेव च द्वापरे यज्ञमेव आहुः दानमेव कलौ युगे. कृतेतु मानवो धर्मो त्रेतायां गौतमस्यतु द्वापरे शंखलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः.

[ख]देशविशेषधर्म : देशजातिकुलानां ये धर्माः तत्प्रवर्तिता तथैव ते पालनीयाः प्रजाः क्षुभ्यते अन्यथा.

[ग]वर्णविशेषधर्म : वर्णत्वमेकम् आश्रित्य यो धर्मः सम्प्रवर्तते स वर्णधर्मः उक्तो यथा उपनयनं किल.

[घ]आश्रमविशेषधर्म : यस्तु आश्रमत्वम् आश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते सएव आश्रमधर्मः भिक्षादण्डादिकं यथा.

[ङ]गुणधर्म : यो गुणेन प्रवर्तेत स गुणधर्मः उच्यते यथा मूर्धाभिषिक्तस्य पुरुषस्य प्रजानां परिपालनम्.

(द्रष्ट.स्मृ.च.संस्का.).

[च]आपद्धर्म तथा क्रच्छ्र-चान्द्रायणादि प्रायश्चित्तरूप धर्म आदि. जैसाकि ''मटचीहतेषु कुरुषु आटिक्या सह जायया उषस्तिः ह चाक्रायणः इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास. स ह इभ्यं कुल्माषान् खादन्तं

बिभिक्षे... नवा अजीविष्यन् इमान् अखादन्...'' (छान्दो.उप.१।१०।१-४) वचनमें दरसाया गया है. **''एवं चतुर्णां वर्णानाम् आपद्धर्माः निरूपिताः तान् सम्यग् अनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम्''**. इसी तरह कृच्छ्र-चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त **''प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तम् इति स्मृतम्''**.(मनुस्मृ.१०।१३०,-११।४७).

धर्ममीमांसाके अन्तर्गत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भागवतोक्त दो बिन्दु नितान्त अविस्मरणीय मुझे लगते हैं :

१.''धर्मः स्तनाद् दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम्,
अधर्मः पृष्ठतो यस्माद् मृत्युः लोकभयंकर''.
(भाग.पुरा.३।१२।२५)

अर्थात् भगवान्के स्वरूपाद्वैतमें धर्म और अधर्म दोनों ही पुरोभाग और पृष्ठभाग में अवस्थित हैं. अतएव उपनिषद्में भी विधान मिलता है **''एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते, एष उ एवैनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते''** (कौषी.ब्रा.उप.३।९). क्योंकि एकमात्र कर्ता-कारयिता परमात्मा ही स्वयं जडजीवेश्वरात्मना अनेकविध बना है, जीवात्माका धर्माधर्मकर्तृत्व परमात्माके कारयितृत्वका अनुभाव है :

२.''[१]विधर्मः [२]परधर्मश्च [३]आभासः [४]उपमा [५]छलम्, अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञो अधर्मवत् त्यजेत्. धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मो अन्यचोदितः उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभित् छलो यस्तु इच्छया

कृतः पुम्भिः आभासोहि आश्रमात् पृथक् स्वभावावि-
हितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये''.

(भाग.पुरा.७।१५।१२-१४)

यहां विधर्म आदिकी जिन पांच विधाओंकी अधर्मकी तरह त्याज्यत्वेन परिगणना हो रही है, उनमें परधर्म धर्माभास उपधर्म तथा धर्मोपम पर ध्यान देना आवश्यक है. क्योंकि ये शास्त्रविहित धर्म होनेपर भी जिन देश काल द्रव्य कर्ता मन्त्र कर्म रूपी छह अंगोंमें से एकाद अंगके भी विगुण होनेके कारण अधर्म माने गये हैं. इन न्यूनताके चलते कोई किसी धर्मके आचरणका अधिकारी न रह जाता हो तो ऐसे धर्माचरणका भी अधर्ममें पर्यवसान दिखलाया जा रहा है.

एतावता फलित होता है कि 'धर्म'का प्रत्यय सर्वथा निरपेक्ष या ऐकान्तिक नहीं होता. क्योंकि धर्मानुष्ठानकी अधिकारिता स्वैच्छिक न मान कर स्वभावानुरूप होनेपर भी शास्त्रानुज्ञप्त होनेपर ही स्वीकारी गयी है.

(३)अनुष्ठेय धर्मकी प्रामाण्यव्यवस्था :

एतदर्थ स्वतः अविज्ञात नियतानुष्ठेय कर्मभान प्रकट करनेवाले अर्थात् धर्मरूप क्रियाके प्रवर्तक शाब्दिक व्यापारको धर्मविधि माना गया है. इसे ''कृतिसाध्यत्वे सति बलवद्-अनिष्ट-अननुबन्धी इष्टसाधनके बोधक वचन'' होनेके रूपमें. इसे वैयक्तिक सन्दर्भमें निहारनेपर तो लौकिक कर्तव्योंको भी धर्मकर्मतया खपाया जा सकता है. परन्तु ऐसे कर्मको धर्मतया प्रकट करना हो तो 'शास्त्रविहितत्व' विशेषण जोड़ा जाना भी आवश्यक है. अतएव वैदिक परम्परामें

''चोदनालक्षणो अर्थो धर्मः'',''तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इह अर्हसि'',''वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मः तद्विपर्ययः'' (जैमि.मी.सू.१।१।२, भग.गीता.१६।२४, भाग.पु-रा.६।१।४०) इन वचनोंके आधारपर यह विशेषण अपरिहार्य लगता है.

अतः चेतन-अचेतन पदार्थोंकी साधारण परिभाषामें ''**'आधेय'प-दार्थो धर्मः. यथा 'द्रव्यं गुणवद्' इत्यादौ गुणो धर्मः. यथा सन्दिग्धसाध्यधर्मत्वं पक्षत्वम्**'' (न्या.को.) लक्षणमें प्रतिपादित धर्म ही ज्ञानेच्छायत्नवान् व्यक्तिके सन्दर्भमें शास्त्रविहित कृतिसाध्य बननेपर कर्तव्यरूप धर्म बन जाता है. उसके अनुष्ठानांगभूत व्यापार जब प्रबल अनिष्ट न लगते हों तो ऐसे किसी इष्टके साधक व्यापार होनेके कारण कर्मको धर्म माना गया है.

इसे थोड़ी और गहराईमें जा कर समझना चाहिये कि गुणवाचक धर्म तो सिद्ध पदार्थ होता है और अनुष्ठेय क्रियारूप धर्म तो साध्य होता है, तो उन्हें एकवत् कैसे समझना! इसका समाधान विवक्षाभेदवशात् माना गया है. जैसे कृतिशील पुरुषमें कृतिमत्त्वरूप धर्म सिद्ध पदार्थ होता है. उसी धर्मकी, परन्तु, समानाधिकरण क्रियारूपा कृति साध्यरूपा ही होती है.

यह बात सुननेमें तो सरल ही लगती है परन्तु किसी कर्मका कृतिसाध्य होना देश काल बोध शक्ति अवस्था तथा अन्योंद्वारा कोई प्रतिबन्ध खड़ा न किया जाना आदि अनेकविध उपाधिओंकी अपेक्षा रखता होनेसे इसका स्वरूपबोध अतिशय जटिल बन जाता है.

यही कथा किसी व्यापारके प्रबल अनिष्ट और किसीके

अभीष्ट होनेके बारेमें भी विचारी जा सकती है. क्योंकि यहां भी देश आदिकी उपाधिओंके कारण ही कोई बात अति-अनिष्ट या अत्यभीष्ट बनती होती है. पौराणिक शास्त्रोंके उपाख्यानोंमें कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि चिरकालसे तपोनिरत ऋषियोंको भी कैसे मत्स्य-पक्षि-पशुओंके युगलके दृष्टिगोचर होनेपर कामेच्छा प्रकट हो जाती थी. अत: इष्टानिष्टके भी गौण या प्रमुख होनेमें देशादि उपाधि अन्तराल तो बन ही सकती है. सर्वथा हमारे आत्मतन्त्र होनेकी धारणाको यह तथ्य झुटला देता है. ऐसी स्थितिमें ज्ञानेच्छायत्नसामर्थ्य रूपी स्वातन्त्र्यका नियामक या निकष होना कैसे सिद्ध हो पायेगा ?

(४)भागवतपुराणके अनुसार सकैतव धर्म और निष्कैतव धर्म का प्रभेद :

इस तरह देशादि षट्कसापेक्ष आविद्यक अहन्तामममताध्यासके स्वभाववश अनुष्ठेय त्रैवर्गिक अथवा आपवर्गिक धर्मोंकी संक्षिप्त झांकी कर लेनेके बाद अब अवसरोपात्त देशादिषट्कनिरपेक्ष भगवदानुग्रहिक भागवत धर्म के तुलनात्मक प्रभेदकी गवेषणाके लिये तत्पर हुवा जा सकता है.

इस विषयमें भागवतपुराणके **''धर्म: प्रोज्झितकैतवो अत्र परम:''** (भाग.पुरा.१।१।२) अर्थात् अन्यत्र सकैतव धर्मके उपदेशके विपरीत भागवतपुराणमें निष्कैतव धर्म प्रतिपादित हुवा है, इस विधानकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं :

''धर्मो ज्ञानं च साधनं, भगवदाविर्भाव: साध्य:.
एतत् सर्वं भागवतादेव भवति...

विधिसम्बन्धो धर्मलक्षणं, वेदश्च प्रमाणम्. तत्र यज्ञेषु पूर्वोक्तन्यायेन अतद्हेतोरपि फलसाधनतया, उक्तरूपेण 'स्वर्गा'दिपदभ्रमजननाद् वा, कापट्यं सम्भवति.

आचारेऽपि 'शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु' इत्यादिन्यायेन प्रवृत्तिसंकोचार्थं गुणदोषौ विधीयेतेइति कापट्यम्.

सर्वत्र विहितनिषेधात् कापट्यम्. तपःप्रभृतिषु च 'कः क्षेमो निजपरयोः ? कियान् वा अर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ?','कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम् अचेतसः' इति वाक्यात् कापट्यम्. सर्वत्र विहितनिषेधात् कापट्यप्रतीतिः''

(सुबो.१।१।२).

इसके अलावा भी—

''परोक्षवादो वेदो अयं बालानाम् अनुशासनं, कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते हि अगदं यथा. नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयम् अज्ञो अजितेन्द्रियः विकर्मणा हि अधर्मेण मृत्योः मृत्युम् उपैति सः. वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगो अर्पितम् ईश्वरे नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः''

(भाग.पुरा.११।३।४४-४६).

यह वचन सुस्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादित करता है कि कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेके लिये कर्मरूप उपाय वेदादि शास्त्रोंमें उपदिष्ट हुवे

हैं. अत: वेदादि शास्त्रोक्त होनेके कारण कर्ममार्गकी धर्मरूपता नि:संदिग्ध होनेपर भी धर्म भी कुछ एक दिव्यकैतवतया उपदिष्ट हुवा है, उदाहरणतया, मीठी-मीठी चाय पीनेकी आदत छुड़ानेको शक्करके बजाय सेक्रीन डाल कर जैसे पिलायी जाती है. यह सदाशय भरा होनेपर भी होता है एक कैतव ही. अथवा किसी जिद्दी बच्चेकी छुरासे खेलनेकी हठको छुड़ानेके लिये जैसे कोई खिलोना या मिठाई हाथ या मूंह में थमा दी जाती है.

अतएव जब उद्धवजीने भगवान्से पूछा **''गुणदोष-भिदा-दृष्टि: निगमात् ते नहि स्वतो निगमेन अपवाद: च भिदाया: इति ह भ्रम:''** (भाग.पुरा.११।२०।५) अर्थाद् ब्रह्मके अद्वैतमें गुणदोषोंके द्वैत खोजना दोषरूप माना गया है, ऐसा उपदेश करनेवाले शास्त्रोंने ही वस्तुओके गुणदोषोंका भी निरूपण किया है. सो भ्रम होना स्वाभाविक है. तब भागवत धर्मका स्वारसिक बोध प्रदान करनेको भगवान्ने भी यही समझाया कि :

> **''तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावत् न जायते... जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्ण: सर्वकर्मसु, वेद दु:खात्मकान् कामान् परित्यागेऽपि अनीश्वर:. ततो भजेत मां प्रीत: श्रद्धालु: दृढनिश्चय: जुषमाण: च तान् कामान् दु:खोदर्कान् च गर्हयन्. प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मा असकृत्... तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मन: न ज्ञानं नच वैराग्यं प्राय: श्रेयो भवेद् इह. यत् कर्मभि: यत् तपसा ज्ञानवैराग्यत: च यद् योगेन दानधर्मेण श्रेयोभि: इतरैरपि सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा.''**
>
> (भाग.पुरा.११।२०।९-३३).

अतएव महाप्रभु भागवतपुराणोक्त धर्मनिष्ठोंके सन्दर्भमें कहते हैं **''लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः''** (पु.प्र.म.२०-२१). अर्थात् अहन्तामममताग्रस्त चेतनाको आधिदैविक भगवल्लीलाकी दृष्टिसे अस्वस्थ मान कर दी जाती औषधिके जैसी कर्म एवं ज्ञान की साधना होती हैं. अतः भक्तियोगकी ही साधना स्वास्थ्यरूपा मानी जानी चाहिये. भगवान्को जैसे किसी जीवपर अनुग्रह करना हो तो उस जीवके सुसाधन निःसाधन या दुष्टसाधन के विवेककी अपेक्षा नहीं रहती. इसी तरह भगवद्भक्तिको भी ऐसे विवेककी अपेक्षा नहीं रहती **''अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्यो सम्यग् व्यवसितो हि सः क्षिप्रं धर्मात्मा शश्वत् शान्तिं निगच्छति कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति''** (भग.गीता.९।३२-३३). शर्त सिर्फ यही है कि भगवत्पुष्टिवशात् प्रकटी हो तो. क्योंकि महाप्रभु कहते हैं कि **''पुष्टिः स्वार्था(जीवात्मार्था) परार्था(परमात्मार्था) तु भक्तिः''** (त.दी.नि.३।६।१३). अर्थाद् भगवदनुग्रह साधननिरपेक्ष होता है ऐसे ही भगवद्भक्ति अन्याकांक्षारहित होनी चाहिये. एतावता दोनों ही निर्हेतुक निरुपाधिक दोनोंके स्वस्व-स्वरूपात्मिका धर्म बन जाती हैं केवल क्रियात्मिका नहीं.

अतएव महाप्रभु भी इस बारेमें यही व्यवस्था मान्य रखनेको विधान करते है **''यावद् देहोऽयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः भगवद्धर्मादयोऽपि परधर्माः विधर्माः वा. यदा पुनः आत्मानं जीवं संघातव्यतिरिक्तं मन्यते तदा दास्यं स्वधर्मः अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः''** (सुबो.३।२८।२). यह मिथ्याभिमानवश प्रदत्त व्यवस्था है नकि तत्त्वदृष्ट्या. एतावता भगवद्धर्म भी सकैतव नहीं माना जा सकता. महाप्रभुके इस विधानकी पृष्ठभूमि **''नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ज्ञानिनां च आत्मपोतानां यथा भक्तिमताम् इह''**

(भाग.पुरा.१०।९।२१)की सुबोधिनीमें स्पष्ट है "**यावन्तः कर्मिणो देहाभिमानिनो, येऽपि ज्ञानिनो निरभिमानाः मुक्ताः, उभयेषामपि अयं भगवान् न 'सुखाप'=सुखेन प्राप्तुं शक्यः. तत्र हेतुः 'देहिनाम्' इति. एकत्र देहाभिमानो दोषो अन्यत्र नैरपेक्ष्यम् इति, तद् आह 'ज्ञानिनाम् च आत्मपोतानाम्' इति 'आत्मा'=स्वरूपं 'पोतः'=संसारसमुद्रतरणोपायो येषाम्...**" (सुबो.१०।९।२१). क्योंकि परमात्मा जिन जीवात्माओंका वरण करता है उन्हें ही प्राप्त होता है और अतएव भगवत्कृत जीववरणका ही अवान्तरव्यापार पुष्टिभक्तिको माना गया है.

(५)भागवतानुसारी 'धर्म' प्रत्यय :

भागवतमूलक धर्म भगवान्की अविद्या विद्या पुष्टि आदि अनेक शक्तिओंमें से प्राधान्येन पुष्टि अर्थाद् भगवदनुग्रहवशाद् अनुष्ठित हो पानेवाला धर्म माना गया है.

जैसेकि उपनिषदोंमें हमें आत्मोद्धारार्थ जीवात्माद्वारा अनुष्ठेय धर्म या कर्म की तरह स्वयं परमात्मनिष्ठ अनुग्रहरूप धर्मका — [१]वरण, [२]प्रसाद, [३]प्रेम — का भी निरूपण उपलब्ध होता है :

> **[१]नायम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एषो वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्, [२]तम् अक्रतुं पश्यति वीतशोकः धातुः प्रसादाद् महिमानम् आत्मनः, [३]नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, [३/क]एष ह्येव आनन्दयाति, [३/ख]तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते. तेषामेव अनुकम्पार्थम्**

अहम् अज्ञानजं तमः नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता.

(१.कठोप.१।२।२३, २.श्वेता.उप.३।२०, ३.बृह.उप.२।४।५, ३/क.तैत्ति.उप.२।७, '३/ख.-भग.गीता.१०।१०-११).

यहां जिस भगवद्धर्मरूप वरण प्रसाद प्रेमानन्दप्रदान की बात कही जा रही है, उसे प्रमुख साधन मान कर जीवात्माद्वारा अनुष्ठेय सारे उपायोंको इस जीववरणात्मक प्रसादका अवान्तरव्यापार माना गया है. वह चाहे भगवत्प्रपत्ति हो, स्वात्मार्पण हो, भगवत्सपर्या हो, या भगवद्भक्ति हो, होते हैं सभीके सभी भगवदनुग्रहरूप धर्मके अवान्तरव्यापार ही. अतः विधिप्रेरित होनेके बजाय तत्तत्स्वभावप्रेरित होते होनेसे विधिव्यापार कुण्ठित माना जाता है. अतः स्वरूपस्वभाववश प्रकट होते हैं. तदर्थ सिद्धार्थज्ञापक प्रमाणव्यापार ही सभी अपेक्षाओंका पूरक हो जाता है.

जीवात्माद्वारा अनुष्ठित होते भक्त्यात्मक कर्मोंकी व्यवस्थामें अतएव शास्त्रीय विधि-निषेध प्रेरकबल नहीं बन पाते है. यह भी भगवद्गीताके वचनान्तरसे इंगित होता है **"तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं (इष्टं) कर्म कर्तुम् (नतु नियततया अनुष्ठातुं) इह अर्हसि (अर्थात् कदाचिद् अर्हसि कदाचिद् नापि अर्हसि अन्यथाप्रेरितः चेत्)."** (भग.गीता.१६।२४).

क्योंकि कालदेशादिरूप कर्माधिष्ठानोंके परवश कर्ताको कर्तृत्वघटक ज्ञान और यत्नों के साथ इच्छा अभिलाषा क्षुद्रकामनाओंके पूरणार्थ क्षुद्र अर्थोपार्जनार्थ उसे अन्तर्मुख बनानेके बजाय बहिर्मुख बना देते है. फलतः वह न तो बाह्य सदसद्के विवेकार्थ ज्ञानांशमें

इधर सक्षम रह जाता है और न उधर स्वपरके चिरकालीन हिताहितसम्बन्धी आचरणोंके क्षुद्र अर्थकामोन्मुखी सुख-दु:खोंके प्राप्ति-परिहारार्थ विरत हो पाता है. **''इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः, तद् अस्य हरति प्रज्ञां वायुः नावमिव अम्भसि''** (भग.गीता.२।६०, २।६७) न्यायेन.

अतएव महाप्रभु कहते हैं कि **''यदा बहिर्मुखाः यूयं भविष्यथ कथञ्चन तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽपि उत सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान् इति मतिः मम''** (शिक्षाश्लो.१) यह बहिर्मुखता मूलत: कर्मघटक कालदेशादिके थपेडोंकी मार खाते हुए इन्द्रिय देह चित्त की क्षुद्रकामपूर्त्यर्थ अर्थलोलुपता के सिवा और कुछ नहीं.

अतएव वृत्रासुर जब कहता है कि **''त्रैवर्गिकायासविघातम् अस्मत्पतिः विधत्ते''** (भाग.पुरा.११।६।२३) तब वृत्रासुरके आशयकी भलीभांति समझके लिये धर्मकी प्रेय:साधकता और/अथवा श्रेय:साधकता को दृष्टिपथसे ओझल नहीं होने देना चाहिये. भगवान् स्वयं ही क्षुद्र प्रेय:साधक अर्थकामधर्म रूपी त्रिवर्गके जब विघातक बनते हों तो पुष्टिधर्म हैं, पर वे श्रेय:साधनीभूत अर्थ-काम-धर्म-मोक्षके विघातक नहीं बनते यदि वे भगवद्भक्तिके अंगतया अंगीकृत हों.

(६)भागवतानुसारी 'धर्म' के लक्षण और प्रमाण :

अतएव भागवतके प्रारम्भमें ही यह स्पष्टीकरण मिल जाता है कि **''धर्मस्यहि आपवर्गस्य नार्थो अर्थाय उपकल्पते नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः, कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः लाभो जीवेत यावता. जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्च इह कर्मभिः. वदन्ति तत् तत्त्वविदः**

तत्त्वं यद् ज्ञानम् अद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते'' (भाग.पुरा.१।२।९-११) पुरुषार्थ चतुष्टयीकी स्वारसिकी क्रमवत्ता धर्मार्थकाममोक्ष न हो कर कामार्थधर्ममोक्ष मान्य हुयी है. वह तो भिन्नार्थक एवं भिन्नप्रकारक ही प्रकट होती है. पुष्टिभाजनभूत ब्रह्मांशभूत जीवात्मामें जीवन अंशिब्रह्म तत्त्वकी जिज्ञासा=प्रेप्सारूप कामवश **''त्वयि धृतासवः त्वां विचिन्वते''** (भाग.पुरा.१०।३१।१) जीवन जीता है. तत्प्रयुक्त ऐसे अर्थपुरुषार्थमें जुटता है कि जिससे प्रोज्झितकैतव धर्मपुरुषार्थ सिद्ध हो पाये. वह पुष्टिके अवान्तरव्यापाररूप धर्म भगवत्प्रपत्ति, आत्मात्मीयनिखिल पदार्थोंको भगवदर्पित करने, आजीवन और जीवनोत्तर भी भगवत्सपर्यौपयिक बने रहने और यह घटित हो जानेपर भगवत्सेवाकथारूपिणी भक्ति ही मोक्षपुरुषार्थरूपा बन जाती है.

बाह्यनाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टिके ब्राह्मिक पर्यावरणसे ब्रह्मात्मिका जीवात्मचेतना घिरी रहती है. जीवचेतनाके भीतर निगूढ़ आनन्दैकरतिरूपा लीलाके बाह्यानुभावतया अथवा चेतनाबाह्यतया अनुभूत होते देहेन्द्रियादि गेह परिवार आदिके बारेमें उभरती विषयात्मिका रति उस मूल आनन्दरतिका क्षुद्रांश होती है **''एतस्य महतो भूतस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति''** (बृह.उप.२।४।५) ऐसा इस श्रुतिवचनमें सुस्पष्ट मिलता है. महाप्रभु कहते हैं कि **''स्नेहः पदार्थान्तरं स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धात् तन्नैकट्याद् अन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवद् यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह नैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम्. एवम् अध्यासेन अन्यत्र''** (सुबो.१।१९।१६) अर्थात् अविद्यावशात् आत्मरतिरूप ब्राह्मिक स्नेह देहाद्यध्यासद्वारा जैसे विषयासक्तिका जनक बनता है वैसे ही इन सारे अध्यासोंको पुष्टिशक्तिका बल मिलनेपर ये भगवद्रतिके रूपमें फलित हो जाते हैं. अंशीके बारेमें अंशका

स्नेहशील होना, जैसे अपने पर्यावरणके बारेमें प्रत्येक प्राणीके तन्निर्भर होनेके कारण सहज होता है. वैसे अंशीमें रहे स्नेहधर्म के अंशभागका वाहक होता है. भगवान्ने इसे सभी जीवात्माओंमें वितरित किया है. अत: जिस किसी नाम-रूप-कर्मके साथ उसका आकस्मिक नदी-नाँव-संयोग घटित हो जाता है उसमें जीवात्मा समासक्त हो जाता है, मूलतत्त्वको विस्मृत कर. यहां आ कर आपवर्गिक कामपुरुषार्थ उसे अनुप्रेरित कर पाते है कि इन्द्रियप्रीतिसम्पादन काम मुख्य प्रयोजन नहीं प्रत्युत तत्त्वजिज्ञासा प्रयुक्त ब्रह्म परमात्मा भगवान् का इन्द्रियविषयके द्वैतमें भी अद्वैतानुसन्धान ही है. इस आपवर्गिक श्रेयोरूप कामकी पूर्तिके हेतु की जाती प्रवृत्तिसे उभर कर श्रेयोरूप धर्मके आचरणार्थ अर्थसम्पादन अर्थपुरुषार्थ अपने समेत चारों पुरुषार्थकी चतुष्टयीको त्रैवर्गिक होनेसे बचा कर आपवर्गिक बना देता है.

अर्थाद् जैसे साधारणतया अर्थपुरुषार्थकी प्रेयोरूपता इन्द्रियप्रीत्यर्थ या क्षुद्रकामपोषणार्थ होती है, उसी तरह आपवर्गिक हिताचरणरूप जीवनयापनरूपा भी होना शक्य होनेसे, भगवद्वरणके पात्र होनेपर अर्थपुरुषार्थकी श्रेयोरूपता आपवर्गिक कामनामयी बन जाती है. अत: कामपुरुषार्थकी भी श्रेयोरूपता सिद्ध हो जाती है. फलत: श्रेयोरूप अर्थ-काम-धर्म त्रैवर्गिकायास रूप न रह कर आपवर्गिक मोक्षकी एक चतुष्टयी बना देते हैं. इस चतुष्टयीके साथ भगवान् विधिशास्त्रोंकी मर्यादाद्वारा छेड़छाड़ नहीं करते हैं. बल्कि अपनी वेदरूप वाणीद्वारा उसे विस्तारपूर्वक प्रकट करते है. अतएव कहा गया है **''पुष्टिमार्गे हरेः दास्यं धर्मो अर्थो हरिरेव हि कामो हरेः दिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्''** (वृत्रा.चतु.वि.४।१).

अतएव महाप्रभु सर्वनिर्णयनिबन्धके प्रकाशमें **''तत्र प्रमेयं द्विविधं**

प्रमाणानुरोधि स्वतन्त्रं च इति... एतेषां क्रियारूपत्वेन भगवत्प्रीतिसाधकत्वं न भगवत्त्वम् इति आशंक्य आह 'पञ्चविधो हरिः' इति साधनसाध्यरूपता नैकस्य, इति आशंक्य, सर्वत्र भगवतएव द्विरूपत्वम् इति वक्तुम् आह 'तत्साधनञ्च स हरिः' इति. साध्यरूपएव हरिः साधनरूपोऽपि'' (त.दी.नि.प्र.२।२-३). इसे ही अधिक स्पष्ट करनेको महाप्रभुने **''अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्. स भगवन्निष्ठो भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धाद् अन्यत्रापि भासते, उष्णस्पर्शवत्. यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह नैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम्. एवम् अध्यासाद् अन्यत्र''** (सुबो.१।१९।१६) इन शब्दोंमें सुस्पष्ट उपपादन किया है. अतः यह कर्मके बारेमें किये गये विधानका भी उपलक्षण है, ज्ञान और भक्ति का भी. क्योंकि **''चेष्टाम् आहुः चेष्टते येन विश्वम्''** (भाग.पुरा.१०।३।२६) वचनकी तरहही **''गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिः व्यपश्यते''** (कठोप.२।१।६) वचनद्वारा मूलक्रिया और मूलचेतना तो ब्राह्मिकी ही मानी गयी है. ब्रह्मको ज्ञानरूप भी माना गया है और आनन्दरूप भी. इसके बारेमें तैत्तिरीयोपनिषद्में **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म... अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः तस्य प्रियमेव शिरः''** (तैत्ति.उप.२।१-९) उल्लेख भी मिलता है.

यही भगवन्निष्ठ भगवद्विषयक स्नेह भगवान्की अन्यतम शक्तिरूप अविद्याकी उपाधिसे ग्रस्त होनेपर देहेन्द्रियादिके बारेमें विषयासक्तिमें दुष्परिणत हो जाता है. विद्याशक्तिकी उपाधिके वशात् स्वात्मसुख या ब्रह्मानन्दसुख के रूपमें प्रकट होता है. परन्तु भगवान्की उल्लिखित वरण प्रसाद या पुष्टिशक्तिसे समुच्चित होनेपर भगवद्भक्तिकी ओर हमें अग्रसर करता है. अतः अविद्या और/अथवा विद्या दोनोंके कार्योंको जीवात्माके तथाकथित स्वतन्त्रज्ञानेच्छायत्नके परिप्रेक्ष्यमें अवभासित करनेके बजाय पुष्टिशक्तिके आवेश होनेपर भगवल्लीलाके परिप्रेक्ष्यमें अवभासित होने लगता है. अतः कर्म-ज्ञानके शास्त्रविहित

होनेकी जो व्यवस्था थी, वह महद्विकाररूप अहंकारसमष्टिके व्यष्टिरूप वैयक्तिक अहंकारके सन्दर्भमें ही उपदिष्ट है. कृतिसाध्य होना और बलवदनिष्टाननुबन्धीष्ट होना आदि किसी व्यक्तिकी बाह्यावस्था और आभ्यन्तरावस्था के वश आती जो बातें थी, वेभी पुष्टिशक्तिवशात् भगवल्लीलाका अन्यतम आयाम होनेके रूपमें दरसने लगती हैं. अतएव महाप्रभुका एक महत्त्वपूर्ण विधान **''भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम्''** (सुबो.१०।२।३८) अर्थात् यहां प्रमेयाधिगमके बाद प्रमाण उपेक्ष्य नहीं बन जाता और न फलावाप्तिके बाद साधनकी उपेक्षा सम्भव है, चतुर्विध स्वयं भगवान् ही होनेसे प्रमेय या फल भी बन जाते होनेसे. उदाहरणतया कोई पुरुष जैसे किसी अन्य देशमें पर्यटनकी मनोवृत्तिसे जाता है पर एक गृही तो निजगृहमें भूलभटक कर दोबारा केवल लौटता ही है. वैसे ही भगवत्प्रपत्ति आत्मसमर्पण भगवत्सेवा या भगवद्भक्ति केवल निजमूलकी ओर लौटना ही है.

(७)भागवतानुसारी 'धर्म' प्रत्ययके बारेमें स्वीकृत प्रामाण्यव्यवस्था :

अत: यहां न तो अधिकारविधिकी अपेक्षा है न नियोगकी ही. क्योंकि द्वैतमतावलम्बी अन्यान्य दर्शनोंमें अधिकार या नियोग की प्राग्-धारणाके आधारपर धर्मकी अवश्यकर्तव्यताका जो प्रतिपादन हुवा है, उसे तो सर्वब्रह्मतादात्म्यके दृष्टिकोणवश, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, वहां भी अप्रसक्त ही मानते हैं. अत: पुष्टिधर्ममें उसे विधिशब्दात्मिका आज्ञा या अनुज्ञा के वश स्वीकारना तो सर्वथा अकल्पनीय है.

अत: सर्वप्रथम तो शास्त्राज्ञा या शास्त्रानुज्ञा के शब्दबलको कर्तव्यप्रेरक माननेके बजाय **''एतद् ज्ञेयं नित्यमेव आत्मसंस्थं, नात: परं वेदितव्यं हि किञ्चिद्. भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्त्वा सर्वं प्रोक्तं**

त्रिविध ब्रह्मम् एतत्'' (श्वेता.उप.१।१२) श्रुत्युक्त आत्मसंस्थ परमात्माके अन्तर्यामी रूपको ही **''एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति... एष उ ह्येव असाधु कर्म कारयति''** (कौषी.ब्रा.उप.३।८) इस श्रुतिवचनके अनुसार उच्चावच्च कर्मका प्रेरक महाप्रभु स्वीकारते हैं. अर्थात् व्यक्तिके हिताहित और तत्सम्पादनार्थ अधिकारिता या नियोज्यता रूप आत्मानुसन्धान करानेवाले धर्मशास्त्रोपदेश भी, किस फलका क्या साधन है, या किस साधनका क्या फल होता है, ऐसे सिद्धार्थरूप सम्बन्धके बोधक ही माने हैं. अत: यहां साध्योपदेश नहीं प्रत्युत सिद्धोपदेश ही महाप्रभु मान्य रखते हैं :

''एवं शब्दगतान् धर्मान् विचार्य तस्य प्रवर्तकत्वम् अस्ति नवा, इति विचार्यते : प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचित्. कार्यतादिपरिज्ञानम् उत्पाद्यैव प्रवर्तयेत. अनिष्टम् इष्टं साध्यं वा न असाध्यं किञ्चिद् अस्ति हि, तथापि यतते कश्चित् क्वचिदेव हरीच्छया. 'प्रवर्तकत्वम्' इति ब्रह्मवादव्यतिरिक्तेषु शब्दश्रवणान-न्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ कारणता शब्दस्य अवसीयते.

तत्र षट् पक्षा: सम्भवन्ति [१]स्वरूपं [२]अभिप्रायज्ञा-नम् [३]भावना [४]अभिधा [५]आज्ञा [६]इष्टसाधनताज्ञानम् इति.

तान् सर्वान् एकहेलया स्वमतेन दूषयति 'कृष्णस्यैव प्रवर्तकत्वं न विध्यर्थस्य इति. काकतालीयतया पूर्वभावो न हेतुत्वसाधक:. अव्यभि-चारस्तु विध्यादीनां नास्ति. ननु दृश्यते 'मम एतत् कार्यम्' इत्यादिज्ञानं कृत्वा प्रवर्तनात् कारणत्वम् इति

आशंक्य आह 'कार्यतादि' इति. कुतः एतद्? अतः आह 'अनिष्टम्' इति, इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वं तदा स्याद् यदि अनिष्टसाधनतां ज्ञात्वा निवर्तेत, विषभक्षणे युद्धे द्रुमपतने प्रवृत्तिदर्शनात्... अतो भगवानेव यथेष्टं यथैव प्रवर्तयते तथा ज्ञानम् उत्पाद्य प्रवर्तयते''.

(द्रष्ट.त.दी.नि.प्र.२।१७७-७८).

सहज सम्भव है कि महाप्रभुका यह विधान भगवान् श्रीकृष्णके प्रति धार्मिक श्रद्धाके अतिरेकवश प्रयुक्त किसीको लग सकता है. परन्तु जेनेटिक डिटरमिनिज़्मको, अर्थात् आन्तरिक जिनॉमिक नियति और बाह्य पर्यावरणीय नियति को, आधुनिक विज्ञान भी तो श्रद्धावश न सही निरीक्षण-परीक्षणके आधारपर कहां स्वीकारता नहीं है? परिणामतया प्राणिव्यक्तिके ज्ञानेच्छायत्नरूप स्वातन्त्र्यके सिद्धान्तकी मान्यता तो निरस्त हो ही जाती है.

महाप्रभु ब्राह्मिकी सत्ता चेतना और सुख के रूपमें बाह्याभ्यन्तरतया सर्वत्र श्रीकृष्णको अन्वित मानते हैं. परमात्मा होनेके रूपमें श्रीकृष्णको सर्वान्तरर्निगूढ़ भी. केवल धर्माधर्मसाक्षि अधिदेवताके रूपमें नहीं. अर्थात् नामरूपकर्मात्मक जगत्की बाह्य समष्टि तथा आन्तरिक निगूढ़तम व्यष्टिके रूपमें देख कर ही स्वीकारते हैं. सदसत्कर्मार्थ प्रेरक होनेका सामर्थ्य जीवात्माकी सदसत्कर्मवासनाओंके अनुसार केवल परमात्मनिष्ठ होता है. अतएव इस सन्दर्भमें भगवद्गीताके ये वचन अनुसन्धेय बन जाते हैं :

१.अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधं
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैव अत्र पञ्चमं तत्रैवं

सति कर्तारम् आत्मानं केवलन्तु यः पश्यति अकृतबुद्धित्वाद् न स पश्यति दुर्मतिः.

२.उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः परमात्मा इति चापि उक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः.

३.ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे, अर्जुन!, तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन, भारत! तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्.

(भग.गीता.१८।१४,१८।१६, १३।२२, १८।६१, १८।६२)

१.शास्त्रके विधि-निषेधोंकी तुलनामें परमात्माके समर्थ प्रेरक होनेकी अवधारणाके समर्थनमें प्रथम वचनके अन्तर्गत अधिष्ठान (देशकालादि) कर्ता (ज्ञानेच्छायत्नवान्) करण (बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियगण) विविध चेष्टा (सामुदायिक व्यवहारान्तर्गत घटित होती क्रिया-प्रतिक्रिया) और अन्तमें दैव (परमात्मा)के पारस्परिक संघातवश प्रकट होते किसी भी कर्मका एकाकी उत्तरदायित्व किसी भी एक घटकके मथ्थे मंडना बुद्धिमत्ता नहीं है. क्योंकि जीवात्माका कर्तृस्वातन्त्र्य अंशी परमात्माके अमोघ कारयितृत्वप्रयुक्त आंशिक एकपञ्चमांश ही कर्तृत्वरूपेण विवक्षित है. अतः इस वचनको ऐकान्तिक द्वैत या ऐकान्तिक अद्वैत के साधक वचनतया लेनेके बजाय तादात्म्यपरक ही स्वीकारना वाल्लभ दर्शनको अभीष्ट लगता है.

२.वचनमें अन्तर्यामी परमात्माको जीवात्माद्वारा अनुष्ठीयमान कर्मोंका [१]उपद्रष्टा (दृश्यको देखनेवाला नहीं अपितु दृश्यदर्शीको देखनेवाला), [२]अनुमन्ता (द्रष्टा-कर्ताकी दर्शन-कर्मकरणाभिलाषाका अनुमोदन कर्ता), [३]भर्ता (दृश्यदर्शनार्थ द्रष्टृभावका और कार्यकरणार्थ कर्तृभाव का भरणकर्ता), [४]भोक्ता

(द्रष्टा-कर्मकर्ताके दृश्य-कर्मके भोगकी प्रक्रियामें होते सुख-दुःखका नहीं प्रत्युत उस सुख-दुःखानुभूतिओंमें प्रकट होती आनन्दात्मिका लीलाके रसका उपभोक्ता), [५]महेश्वर (यह लीलानन्द वह कर्माधीन अनीश्वर हो कर नहीं प्रत्युत अपनी माहेश्वरी लीलाको निभाते हुए सम्पन्न करता है) और [६]परमात्मा (शरीरसंघातकी नियामिका जैसे जीवात्मचेतना होती है, वैसे ही उस चेतनाका अनुचेतयिता परमात्मा जीवात्मासे परतया, इसी शरीरसंघातमें सहयोगी सखा भी होता है, इस अर्थमें ही केवल) जीवात्मासे भिन्न बिरदाया गया है.

३.वचनमें यह सर्वनियामक परमेश्वर जीवात्माको कर्म और उसके फलके प्रदानके चक्रमें घुमाता हुआ माना गया है. रामानुज दर्शनके लिये तो यह द्वैताद्वैतके परस्पर विरोधाभासी विवादमें विशिष्टाद्वैतसाधक घटकवचन बन जाता है. वाल्लभ दर्शनने, किन्तु, इस शरीरविशिष्ट शरीरीके अद्वैतकी भी उपपत्ति तादात्म्यमें ही खोजनी चाही है.

यहां एक गम्भीर प्रश्न यह उभरता है कि क्या इस सर्वब्रह्मतादात्म्यवादमें पाणिनिके **''विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्, लोट् च''** (पाणि.सू.३।३।१६१-१६२) सूत्रोंके प्रामाण्यकी अवहेलना अभिप्रेत है? वह तो शक्य नहीं क्योंकि **''ये धातुशब्दाः यत्र अर्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः तथैव अर्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्... व्याकृतिः पाणिनीयंहि... 'यत्र अर्थे' 'यज् देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु'... इति 'प्रकीर्तिताः' तथैव वेदार्थो निर्णेतव्यः... यद्यपि बहूनि व्याकरणानि सन्ति तथापि पाणिनीयमेव अंगम्''** (त.दी.नि.प्र.२।७४-७७) ऐसी स्वाभ्युपगत व्यवस्था यहां स्वतोव्याहत हो जायेगी.

समाधान यहां यही है कि महाप्रभु जब **''ब्रह्मवादव्यतिरिक्तेषु शब्दश्रवणानन्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ कारणता शब्दस्य अवसीयते. तत्र षट्**

पक्षा: सम्भवन्ति'' (त.दी.नि.२।१७७) निरूपण कर रहें हैं तो त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे पर जो अप्राकृत पदार्थ या अलौकिक व्यवहार हैं उनके बारेमें ब्राह्मिक दृष्टि दरसाना चाहते हैं. जैसाकि स्वीकार भी किया है **''ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद् वस्तुतो ब्रह्म सर्वंहि व्यवहारस्तु लोकत:''** (पत्राव.३) अत: लोकव्यवहारमें ब्रह्मकी अविद्या शक्तिके वशात् चेतनाके साथ औपाधिकतया जुड़ी अहन्ता-ममताके अध्यासके वश मोक्षार्थ प्रतिपादित कर्मज्ञानोपासनाभक्ति-आदि उपायोंमें भी आविद्यक अध्यास हेतु तो बनते ही हैं. इसी अध्यासके सन्दर्भमें **''कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित:''** (अथ.संहि.७।५०।८) वचनमें दक्षिण हस्तमें कर्तृत्वाभिमान और वामहस्तमें ममत्वाभिमान निरूपित हुवा है. जबकि भगवान् गीतामें जीवानुष्ठित व्यवसाय और तल्लभ्य जयको अपनी एक अन्यतम विभूतियां दरसा रहे हैं **''जयो अस्मि व्यवसायो अस्मि''** (भग.गीता.१०।३६). यदि इस प्रतिपादनको केवल उपासनार्थ कल्पित माननेका दुराग्रह हो तो यह प्रश्न उठता है कि **''वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि''** (भग.गीता.१०।३७) वचनमें निर्दिष्ट वृष्णिवंशोद्भूत गीतोपदेष्टा वासुदेवको उपासनार्थ कल्पित व्यक्ति माननेपर तो उपदेष्टा और उपदेश दोनों ही उपासनार्थ कल्पित सिद्ध होनेपर गीताका प्रामाण्य ही निरस्त हो जायेगा. वस्तुत: लोकदृष्टिगम्य सारथि श्रीकृष्ण और दिव्यदृष्टचेकगम्य उपदिष्ट सकल विभूतिमान् विश्वरूप श्रीकृष्ण के बीच रहे तादात्म्यकी शाब्दप्रमा एवं चाक्षुषप्रमा सिद्ध समानाधिकरणा प्रमेयता ही भगवद्गीताके १० और ११ अध्यायोंका एकीकृत अभिप्रेतार्थ है. यह तो गीतोपदेश भी पहले ऋग्वेदमें उपपादित हो ही चुकी थी **''एकैव उषा सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्''** (ऋक्संहि.६।४।२८), यह मौलिक एकता अवान्तर तत्त्वों या अवान्तर कारणोंकी अनेकताके निरसनार्थ नहीं है. इसी तरह विधिनिमन्त्राणादिके लोकव्यवहारमें

लिङ्-लोट् प्रत्ययोंकी भी अवान्तरहेतुता अमान्य नहीं की जाती है.

स्वयं वेदात्मिका वाणीने भी विद्याके दो रूप मान्य किये हैं, जिन्हें [क]अपराविद्या (त्रैगुण्याधिकारिका) [ख]पराविद्या (नैर्गुण्याधिकारिका) कहा गया है "**द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैव अपरा च, तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् इति. अथ परा विद्या यया तद् अक्षरं समधिगम्यते**" (मुण्ड.उप.१।१।४-५) वैसेही भगवद्गीतामें भी [क]त्रैगुण्यविषया विद्या और [ख]निस्त्रैगुण्यविषया (द्र.भग.गीता.२।४५) योगविद्या भी निरूपित की गयी है.

कई (अ)भारतीयविद्याविद् वेदोंमें मिलते पूर्वोत्तरकाण्डके द्वन्द्वोंकी एक अतर्कित मीमांसा प्रस्तुत करते हैं. उनकी धारणा है कि ये दो विरोधाभासी काण्ड ब्राह्मणोंके पौरोहित्य और पुरोहितोके प्रति क्षत्रिय विद्वानोंके परस्पर विद्रोहके द्वन्द्वात्मक संघर्षवशात् प्रकट हुवे हैं; और अन्ततः यही ब्राह्मण-श्रमणोंकी आपसी प्रतिस्पर्धाके रूपमें पनपी परम्परा प्रकट हो गयी!

इस नारदविद्याको अप्रभावी बनानेका भला क्या उपाय हो सकता है? श्रुतिके उल्लिखित वचनका ही अनुरणन भगवद्गीताके "**त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भव, अर्जुन!, निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेमः आत्मवान्**" (भग.गीता.२।४५) V/s "**तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इह अर्हसि**" (भग.गीता.१६।२४) वचनोंमें क्षत्रियवर्णके यादवकुलोद्भुत श्रीकृष्णने यों एकश्वासमें प्रकट किये दो विधान हैं.

कोई (अ)भारतीयविद्याविद् इन्हें उत्तरकालिक प्रक्षेप मान कर

छटकना चाहे तो वह तो उसका असूयातिरेक ही कहलायेगा. क्योंकि कर्मकाण्डीय संहिता-ब्राह्मणोंके द्रष्टा भरत राजाके ब्राह्मण पुरोहित ऋषि दीर्घतमा भी **''ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवाः अधि विश्वे निषेदुः यः तं न वेद किम् ऋचा करिष्यति! ये इत् तद् विदुः ते इमे समासते''** (ऋक्संहि.१।१६४।३९) अर्थात् जिस परम व्योमरूप अक्षर ब्रह्ममें सभी कर्मनियामक देवगण अवस्थित हैं वहीं सारी कि सारी ऋचाएं भी अवस्थित हैं. उस अक्षरब्रह्मको जाने बिना जो कर्मोंके अनुष्ठानमें उलझ जाता हो वह क्या कर्म सम्पन्न कर पायेगा? जो उसे जान कर कर्मका अनुष्ठान करता है वह तो भलीभांति अक्षरब्रह्ममें अवस्थित हो जाता है. ये विधान किसी क्षत्रियका नहीं ब्राह्मण पुरोहितका ही है. वैदिक संहिताओंके मन्त्रद्रष्टा ऋषि जैसे ब्राह्मणवर्गके हैं ऐसे उपनिषदोंमें भी बहुलता तो याज्ञयवल्क्य आदि ब्राह्मणोंकी ही थी. और तत्कालीन ब्राह्मणोंके साथ मनोमालिन्यजनक मतभेदके बावजूद स्वयं बुद्ध भगवान् भी धम्मपदके 'ब्राह्मणवग्गो'में आदर्श ब्राह्मण्यका स्वरूप **''यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं... अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुस्सुतं दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम''** (धम्म.ब्राह्म.९-१८) ब्राह्मणोंके वेदादिशास्त्रोक्त **''शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिः आर्जवमेव च ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्''** (भग.गीता.१८।४२) स्वरूपसे भिन्न नहीं दरसाते हैं. सम्भवतः वामपन्थी विचारक कहना चाहेंगे कि गीताका यह ब्राह्मण्यके बारेमें विचार धम्मपदसे चुराया हुवा है. मान भी लें कि ब्राह्मणोंने वहींसे चुराया हो. तबभी इस विषयमें ब्राह्मण-श्रमण दोनों परंपराके इस विषयमें ऐकमत्यको तो नकारा नहीं जा सकता है. चुराया भी हो तो बौद्ध मतमें कहे जाते ब्राह्मणद्वेषवश नहीं परन्तु आदर्श ब्राह्मणके प्रति आदरभाव रखनेवाले बुद्धवचनोंसे ही!

अस्तु. इस प्रसक्तानुप्रसक्त विषयान्तरके पचडेमें फंसनेके बजाय मूल प्रतिपाद्य अर्थकी ओर अग्रसर होना अच्छी बात होगी.

भागवतोक्त निष्कैतव धर्मतया मूलत: भगवत्प्रपत्ति आत्मसमर्पण भगवत्सेवा भगवद्भक्ति के शीर्षकान्तर्गत अनेकविध अंगोपांगभूत व्यापारोंमें किसका केवल अभिधान किया गया है, किसका विधान, किसका प्रतिषेध, किसका आपवादिक विधान और किसका प्रतिप्रसव प्रतिपादन अभीष्ट है, उसका संक्षिप्त विहंगावलोकन कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा. क्योंकि स्वयं भागवतमें ही एक भगवद्वचन उपलब्ध होता है कि **''मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते हि अहम् एतावान् सर्ववेदार्थ: शब्द आस्थाय मां भिदाम्''** (भाग.पुरा.११।२१।४३) अत: भगवत्कण्ठाभ्युपगत अपनी इस विध्यर्थताके कारण केवल सिद्धार्थबोधकता श्रौत आदि शास्त्रीय वचनोंकी मानी कैसे मानी जा सकेगी?

एतदर्थ सर्वप्रथम श्रुत्येकगोचर ब्रह्मके श्रुतिप्रतिपादित स्वाभाविक ऐक्य और लीलात्मक अनैक्य को बुद्धिगत कर लेना आवश्यक है :

> **''सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति स तपो अतप्यत, स तप: तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत्. निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनञ्च अनिलयनञ्च, विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्''.**
>
> (तैत्ति.उप.२।६).
>
> **''सत्त्वेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव**

अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय'इति तत् तेजो असृजत् तत् तेजः 'ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति तद् अपो असृजत... ताः आपः 'ऐक्षन्त बहु स्याम प्रजायेमहीति ताः अन्नम् असृजन्त... तासां त्रिवृतं त्रिवृतम् एकैकां करवाणीति सेयं देवता इमाः तिस्रो देवताः अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्.''

(छान्दो.उप.६।२।२-३).

''स य एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्. तत् सत्यम्. स आत्मा. तत् त्वम् असि''.

(छान्दो.उप.६।८।७).

''सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत''.

(छान्दो.उप.३।१४।१).

अपरोक्ष जड़जीवेश्वरात्मक जगत्के साथ निःसंशय ऐसे परोक्ष ब्रह्मतादात्म्यके प्रतिपादक वचनोंके आधारपर भेदसहिष्णु-अभेदरूप श्रौत तादात्म्यकी वास्तविकता विदित होती है. सो पहले तादात्म्यघटक भेदको आत्यन्तिक भेद मान कर चलनेकी चेतनाकी लाचारीके कारण व्यवहारमें जो विधान अभिधान विकल्प और अपोहन के शब्दलीलागत प्रभेद प्रकट हुवे हैं, उन्हें उद्देश्य बना कर ब्रह्मकी स्वरूपगत मौलिक एकता-अद्वितीयताका ही प्रतिपादन यहां किया जा रहा है. यह अन्तमें तो वस्तुमात्रके ब्रह्मके साथ तादात्म्यमें ही पर्यवसित होता है. लीलार्थ प्रकट अनैक्यमें तादात्म्याविरुद्ध साधक-साधन-साध्यके भेदमूलक साध्योपदेश भी अतएव उक्त मौलिक तादात्म्यसे विरुद्ध नहीं होते यही तो दरसाने भगवान् कहते हैं कि विधानादि चतुष्टयीके अभिप्रेतार्थ स्वयं भगवान् ही हैं.

देवर्षि नारदकी प्रेरणाके अनुसार महर्षि वेदव्यासने दशविध लीलानिरूपक भागवत महापुराणका आधारभूत जो तत्त्वसाक्षात्कार समाधिमें किया, उसके निरूपणपरक ''**अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम्**'' (भाग.पुरा.१।७।४) कारिकाकी सुबोधिनीमें ''[१]**साकारं ब्रह्म शुद्धं हि** [२]**माया तच्छक्तिः उत्तमा** [३]**तया सर्वत्र सम्मोहः** [४]**साक्षाद् भक्तिश्च मोचिका**'' यों चार बाते गिनायी हैं. इनमें सर्वप्रथम साकारब्रह्मके समाधिमें साक्षात्कृत होनेका उल्लेख है.

इस विरुद्धधर्माश्रय 'साकारब्रह्म'के प्रत्ययके पर्यायतया अथवा अंगतया अन्यभी प्रत्यय ब्रह्मवादकी शब्दावलीमें उपयोगी बनते है. यथा :

'माहात्म्यवत्ता + तादात्म्यवत्ता = ब्रह्मस्वरूप'
'अक्षर + पुरुषोत्तम = ज्ञेयविशिष्टभजनीयरूप'
'अक्षरब्रह्मकी प्रकाश + तदाश्रयन्यायेन धामरूपता भी और धर्मरूपता भी,
'अन्वयवत्ता + व्यतिरेकवत्ता = तत्त्वता'
'निमित्तता + उपादानता = उभयविधकारणता'
'माहात्म्यज्ञानपूर्वकता + सुदृढसर्वतोधिकस्नेहलभ्यता = पुष्टिभक्ति-लभ्यता'
'देव + असुर =प्राजापत्याद्वैत'
'अविज्ञान + विज्ञान = ब्रह्मचैतन्याद्वैत'
'विद्या + अविद्या = भगवच्छक्त्यद्वैत'

आदि-आदि. इनमें माहात्म्यविशिष्टतादात्म्यके बारेमें महाप्रभुका एक विधान निरतिशय अवधेय है ''**यथाकथञ्चिद् माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं तत्त्वमस्यादिकं तथा... रतिः स्नेहो,**

देवत्वं माहात्म्यं, तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन(तादात्म्यं) माहात्म्यं च उच्यते. अन्यथा वाक्यद्वयं ब्रह्मप्रकरणे व्यर्थं स्यात्. ब्रह्मस्वरूपज्ञानेन पुरुषार्थसिद्धिः'' (त.दी.नि.प्र.१।४१-४२). यहां जो तादात्म्य है वह भेदसहिष्णु-अभेदरूप जैसे होता है; अर्थापत्त्या, अभेदसहिष्णु-भेदरूप भी हो सकता है. अतः कब किस उपदेशमें दोनोंमें से किस पक्षपर भार देना, वह उपदेशककी विवक्षापर निर्भर होता है. किसी फलकी दृष्टिसे कभी स्वरूपगत अभेद या ऐक्य पर अवलम्बित उपदेश जैसे दिया गया है, वैसे ही कभी लीलात्मक ऐच्छिक भेद या अनैक्य के आधारपर भी. उभयथा ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयता ही विवक्षित होती है.

अतः भागवतधर्मके प्रतिपादनमें भी कुछ कर्तव्य सिद्धार्थबोधक वचनोंसे उपदिष्ट हुवे हैं तो कुछ कर्तव्य जीवचेतनामें अविद्याध्यासवशात् प्रतिभासित होते भेदोंके सन्दर्भमें भी उपदिष्ट हुवे हैं. क्योंकि वहां 'कण्टकेनैव कण्टकं'न्यायेन उन कर्तव्योंको जीवात्माके आंशिक ज्ञान आंशिक इच्छा और देशकालादिमें सीमित प्रयत्नवाले भगवत्प्रदत्त सामर्थ्यवशात् उपदेश दिया गया है. प्रयोजन यही है कि स्वयंके ज्ञानसे गम्य वांछनीय और यत्नसाध्य दिखला कर जीवात्माको आश्वस्त करना है. उदाहरणतया भगवान्ने जैसे अपने सखा अर्जुनको **''मयैव एते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!''** (भग.गीता.११।३३) उपदेश कर्मानुष्ठानाभिमुख बनानेके लिये ही दिया. साथ ही साथ विश्वासार्थ अपने विराट् रूपके दर्शन भी कर्तव्यविमुख होनेसे बचानेको दिये. अतएव महाप्रभु भी कहते हैं **''भगवानेव सर्वं करोति इत्युक्तेऽपि भजनाभावे न सिद्ध्यतीति भजनम् अवश्यं कर्तव्यम्''** (सुबो.३।३२।२२).

यहां सर्वब्रह्म-तादात्म्य-घटक अभेद या ऐक्य को भक्तिभावके

कारकहेतुतया नितान्त अनिवार्य माननेपर भी महाप्रभु जैसे "**भेदः पारमार्थिकः इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोगः उक्तः... अस्मत्प्रतिपादितः च नैर्गुण्यः**" (सुबो.३।३२।३७) वचनमें जिस भेदका 'पारमार्थिक' होना स्वीकारा है, वह स्वाभाविक आत्यन्तिक भेद नहीं है. वह तो स्वरूपाभेदसहिष्णु लीलात्मक ऐच्छिक भेद ही है, जिसका ज्ञापकहेतु भक्तिभाव बन जाता है. चाहे भेदवादी वेदान्त दर्शन माने या न माने, तादात्म्यघटक भेदमें उनके भेदको अन्तर्भूत मान कर ऐसा विधान है. अतः भक्तिभावके रसात्मक होनेके कारण विभावानुभावसंचारिभावोंकी विविधतासे भरे भेदका सहिष्णु स्थायी रसाभेद होता है. अर्थात् उन भेदोंका स्वीय अंगत्वेन समावेश करनेवाले एक स्थायिभावका जो अभेद होता है, वही 'नैर्गुण्य'का अर्थ है. अन्यथा विविधतैकनिर्भर भेद गुणत्रयात्मिका प्रकृतिके सात्त्विकादि भेदोंपर अवलम्बित हो जाता है. ऐसी स्थितिमें वह आविद्यक पञ्चपर्वोंके आत्मचेतनाके साथ लीलया सम्पादित अध्यासोंके कारण जीवचेतनामें कर्तृस्वातन्त्र्यके रूपमें प्रकट होता है. और तब इसके अंगभूत ज्ञानेच्छायत्नस्वातन्त्र्यकी अनुभूति प्रबल हो जाती है. अतएव भागवतमें कहा गया है "**क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपरे, ईश!, कुर्युः. कर्तुः प्रभोः तव किम् अस्यत आवहन्ति त्यक्तह्रियः त्वदवरोपितकर्तृवादाः**" (भाग.पुरा.८।२२।२०). अतः भगवदारोपित होनेके कारण कहनेभरको जीवात्मचेतनामें प्रतीत होते कर्तृत्वको उद्देश्य बना कर कर्तव्योपदेश विधिबोधित भी हो सकता है, इसे ही भगवान् "**त्रैगुण्यविषयाः वेदाः**" (भग.गीता.२।४५) कहते हैं.

इस विषयमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एक तथ्य यह भी है कि जिस ज्ञानेच्छायत्नके स्वातन्त्र्यके आधारपर सामान्यतया धर्माचरणकी धारणा विचारणीय बनती है, उसे ब्रह्मतादात्म्यवादी चिन्तनमें ब्राह्मिक

सच्चिदानन्दकी क्षुद्र आंशिक अभिव्यक्ति मानी गयी है. यत्नरूपा क्रिया सदंशकी, ज्ञान चिदंशकी तथा इच्छा आनन्दांशकी :

> ''निषिद्धानां दुःखं फलं निरूप्य किं दुःखम् इति आकांक्षायाम् आह 'आनन्दस्य तिरोभावः'इति... अन्यथा सच्चिदानन्दरूपातिरिक्तपदार्थाभावात् किं दुःखं स्यात्!... तथा सुखेऽपि उपपादनम्. इच्छादीनां स्वरूपम् आह 'सुखधर्मः तथा इच्छा स्यात् किञ्चिद् उद्गमएव सः सर्वथा ह्युद्गमः कामो धर्मिणस्तु सुखं स्मृतम्. द्वेषक्रोधः तथा दुःखं पूर्ववद् दुःखधर्मतः' धर्मः आकारः... किञ्चित् प्राकट्ये इच्छात्वं बहुप्राकट्ये कामत्वम् इति. एवमेव द्वेषादयोऽपि दुःखस्य''.
>
> (त.दी.नि.प्र.२।२८६-२८९).

क्योंकि उपनिषद्में कहा गया है ''**यो वै भूमा तत् सुखम्**'' (छान्दो.उप.७।२३।१) ''**एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति**'' (बृह.उप.४।३।३२) सो ब्राह्मिक सत्ता चेतना तथा आनन्दकी मात्राओंके उपजीवनवशात् ही यह सारा तमाशा ज्ञानेच्छायत्नके स्वातन्त्र्यका है. अर्थात् कारयितृत्वका केवल अनुभाव जीवस्वातन्त्र्य है. न तो यह मिथ्याभास है और न यह एकान्तिकतया अपराधीन ही. परन्तु आधुनिक न्यायप्रणालीकी परिभाषाके अनुसार समझना हो तो अंशी परमात्माकी अपने अंशभूत जीवात्माओंको प्रदत्त Power of Attorney ही है. सो कारगर तो होती है.

जीवचेतनाकी ऐसी सोपाधिक प्रारम्भिकताको उद्देश्य बना कर ही महाप्रभु भी विधिलिङ्का प्रयोग भी अनेकधा करते हैं. यथा :

[१]''तदाश्रयतदीयत्वबुद्धचै किञ्चित् समाचरेत्, अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयताम्'', [२]''अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयतां... ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु'', [३]''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत्... निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद्.'' [४]''तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्'', [५]''चित्तं प्रति यद् आकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत्'', [६]''प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धः चेद् न आग्रही भवेद् भार्यादीनां तथा अन्येषाम् असतः च आक्रमं सहेत... स्वयम् इन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्... एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथा अन्यत्र विवर्जयेत् प्राप्तं सेवेत निर्ममः... किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्'', [७]''अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम्... व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा'', [८]''कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्'', [९]''अनुकूले कलत्रादौ विष्णोः कार्याणि कारयेद् उदासीने स्वयं कुर्याद् प्रतिकूले ग्रहं त्यजेत्'', [१०]''सर्वथा वृत्तिहीनश्चेद् एकं यामं हरौ नयेत्... पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतम् आदरात्, सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनाद् वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत्... वृथालापक्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजेत्... इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम् एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेत् अहङ्कारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत् ... अन्यान्यपि तथा कुर्याद् उत्सवो यत्र वै हरेः एकाकी निस्पृहः शान्तः

पर्यटेत् कृष्णतत्परः वृत्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कठगतैरपि तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहम् आचरेत्... यत्र पूजाप्रवाह स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः''.

([१]बा.बो.१८, [२]सिद्धा.मु.१२-१७, [३]सिद्धा.र-ह.४-५, [४]न.र.८, [५]अन्तः.प्रबो.११, [६]वि.धै.आ.७-१६, [७]भ.व.२-३, [८]नि.ल.१२, [९]पं.श्लो.३, [१०]त.दी.नि.प्र.२।२३४-२६०)

ये सारेके सारे विधिलिङ्के प्रयोग, सब कुछ भगवान् ही करते हैं पर भजन किये बिना कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता ऐसे जीवके आविद्यक अभिमानको निमित्त बना कर दिये गये महाप्रभुके उपदेश हैं.

यहां तादात्म्यवादी वाल्लभ दर्शनकी कुछ ग्रन्थग्रन्थिओंको लक्ष्यमें रखना बहुत आवश्यक है. क्योंकि द्वैतके अनेक प्रकार सम्भव हैं : [१]भगवान्की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा अथवा प्रज्ञारूपा मायाके द्वारा प्रकटित पारमार्थिक तादात्म्यघटक द्वैत [२]भगवान्की भक्तोंको लीलानुभूतिप्रदायिका योगमायाद्वारा प्रकटित लीलार्थ प्रकट ऐच्छिक द्वैत [३]भगवान्की अनेकविध शक्तिओंमें अन्यतम अविद्या या व्यामोहिका माया शक्तिद्वारा अवभासित ब्राह्मिक शास्त्रोंके अवबोध होनेपर भी अनिवर्त्य द्वैत. [४]तादात्म्यघटक या भगवान् द्वारा लीलार्थ प्रकट द्वैतके बारेमें आत्यन्तिक द्वैत (ऐक्यान्ताभावरूप) होनेके भ्रमद्वारा प्रतीत होता शास्त्रज्ञाननिवर्त्य द्वैत.

इतने सारे द्वैतके प्रकारोंके रहते सहसा किसी भी द्वैतको **''द्वैतं मोहाय बोधात् प्राग् जाते बोधे मनीषया भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतम् अद्वैतादपि सुन्दरम्. पारमार्थिकम् अद्वैतं द्वैतं (अपारमार्थिकम्) भजनहेतवे**

तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सातु मुक्तिशताधिका'' (बोधसा.३३४,३३८) वचनानुसारी जीवके इच्छास्वातन्त्र्यवश कल्पित द्वैतमें खपा नहीं देना चाहिये. क्योंकि वाल्लभ दर्शनमें भगवद्भक्ति मुमुक्षुकी जीवन्मुक्तिरूपा नहीं मानी गयी है प्रत्युत बिभक्षुकी ब्रह्मानन्दाधिक लीलानन्दनिष्ठारूपा ही मानी गयी है. अस्तु.

अतएव तादात्म्यघटक अद्वैत न तो द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित माना गया है और न तादात्म्यघटक द्वैत एकत्वात्यन्ताभावरूप माना गया है. अतएव भगवान्की अविद्याशक्तिके वशाद् जहां जीवात्माकी अहन्ता और ममता को भगवदर्पित करनेका प्रयोजन हो वहां **''विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथा आश्रयः''** (वि.धै.आ.१), **''सेवकानां यथा लोके व्यवहारः... तथा कार्यं समर्प्यैव''** (सिद्धा.रह.७-८), **''कृष्णसेवा सदा कार्या''** (सिद्धा.मु.१) अथवा **''सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्य अयमेव धर्मोहि नान्यः क्वापि कदाचन''** (चतुश्लो.१) जैसे धर्मोपदेश करते समय महाप्रभु विध्यर्थक 'लिङ्-लोट्' प्रत्यय लगानेके बजाय आवश्यकार्थक 'तव्य'-'अनीयर्' प्रत्यय लगाना पसन्द करते हैं.

श्रीपुरुषोत्तमजी इस आवश्यकार्थक प्रत्ययकी व्याख्या करते हुवे समझाते हैं **''तत्र 'आवश्यकत्वं' नाम पूर्वं कथञ्चिद् ज्ञातस्य पश्चात् तदभावे अनिष्टजननज्ञानपूर्वकज्ञानविषयत्वं वा कृतिविषयत्वं वा, नतु विधिविषयत्वमात्रत्वम्''** (सिद्धा.मु.वि.प्र.१). दूसरे शब्दोंमें इसे कहना हो तो ''कर्तृभिन्नेन अविहितत्वेऽपि कर्तृस्वभावनियतकर्तव्यताकत्वम् आवश्यकत्वम्'' भी कहा जा सकता है. प्रायः विहिताकरणके वश जो अनिष्ट फलकी बिभीषिका बताई जाती है. ऐसी भीतिसे, परन्तु, कोई विचलित न होता हो तो विधिव्यापार वहां कुण्ठित हो जाता है. जैसाकि भागवतमें कहा गया है **''नारायणपराः सर्वे**

न कुतश्चन बिभ्यति स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनो, देहिनां देहसंयोगाद् द्वन्द्वान् ईश्वरलीलया सुखं दुःखं मृतिर् जन्म शापो अनुग्रहएव च, अविवेककृतः पुंसोहि अर्थभेदइव आत्मनि, गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्रजिवत् कृतो. वासुदेवे भगवति भक्तिम् उद्वहतां नृणां ज्ञानवैराग्यवीर्याणां न इह कश्चिद् व्यपाश्रयः'' (भाग.पुरा.६।१७।२८-३१).

भक्तिकी उत्कटदशामें अथवा भक्त्युन्मादवाली सर्वात्मभावकी अनुभूतिमें **''सएव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः सएव इदं सर्वम् इति अथातो अहंकारादेशः... अथातः आत्मादेशः... आत्मैव इदं सर्वम् इति सवा एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिः आत्मक्रीडः आत्ममिथुनः आत्मानन्दः स्वराड् भवति''** (छान्दो.उप.७।२५।१-२) इस वचनमें निरूपित सर्वात्मभाव ब्रह्मज्ञानीमें तो स्थायी भावके रूपमें प्रकट होता है परन्तु भगवद्भक्तोंमें भक्तिभावके सञ्चारिभावके रूपमें ही प्रकट होता माना गया है. अर्थाद् भक्त भक्ति और भजनीय के त्रिकोणात्मक भेदका आनन्द लेनेके भावकी प्रधानताके कारण भक्तात्मामें तो वह स्थायी बन कर टिक नहीं पाता. सो संचारिभावतया ही प्रकट होता होनेसे भक्तिमें रसाभास प्रकट नहीं करता. यह भेदबुद्धि व्यामोहिका मायाके कारण नहीं परन्तु लीलोन्मुख भगवान्की पुष्टिशक्तिकी लीलानुभावरूपा होती है. अतः साक्षाद् लीलोपयोगिनी योगमायाद्वारा निष्पादित यह रसात्मक भेद होता है. अतएव आविद्यक अहन्ता-ममताके भी भगवदर्पणकी प्रक्रियाद्वारा ब्राह्मीकरणार्थ है. जिसे महाप्रभुने शास्त्रार्थतया एवं सिद्धान्तरहस्यतया यों समझाया है :

> [१]**''ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानान्तु विशेषतः सर्वेन्द्रियैः तथाच अन्तःकरणैः आत्मनापि हि ब्रह्मभावात्तु भक्तानां**

गृहएव विशिष्यते. साधनं भक्तिः मोक्षः साध्यः; तथापि, साधनदशैव उत्तमा. तत्र हेतुः योहि मुच्यते स संघातं परित्यज्य ब्रह्मणि लीयते ब्रह्मभावं वा प्राप्नोति. तस्य स्वरूपानन्दः, स्वरूपेण वा आनन्दानुभवः. स्वतन्त्रभक्तानान्तु... सर्वेन्द्रियैः तथा अन्तकरणैः स्वरूपेण च आनन्दानुभवो अतः जीवन्मुक्त्यपेक्षया तत्कृपासहितगृहस्थाश्रमएव विशिष्यते''.

[२]''सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः''.

([१]त.दी.नि.प्र.१।५०-५१, [२]सिद्धा.रह.७-८).

यों भागवतानुसारी धर्मके निरूपणार्थ भगवल्लीलागंभूत द्वैत ब्रह्मानन्दात्मक होता है भगवल्लीलाकी तरह ही. अतः उसका आविद्यक द्वैतसे तारतम्य स्फुट हो जाता है.

यह जीवानुष्ठेय होनेपर भी जीवके आविद्यक कर्तृत्वपर अवलम्बित नहीं होता परन्तु भगवान्‌की आनन्दात्मिका लीलाके अन्तर्गत भगवत्कारयितृत्वप्रयुक्त अनुभाव होता है. यह भगवान्‌की पुष्टिशक्तिद्वारा दर्पणीकृत जीवचेतनामें प्रतिभासित होता है. अतः कर्तृत्वके रूपमें प्रकट भी हो पाता है.

उदाहरणतया स्त्रीपुरुषका दाम्पत्य पारस्परिक उपाधिभावके वश संन्ततिके जननीजनक-भावमें फलित होता है. एतावता मातृत्व-पितृत्वको सन्ततिको होती भ्रान्तिसे कल्पित माना जा सकता क्या? सन्ततिसे पूर्वसिद्ध होनेपर भी. इसी तरह अविद्योपाधिक होनेके बावजूद जीवचेतनामें प्रतिभासित होती अहन्ता-ममता जीवकल्पित भ्रान्ति न

हो कर, जीवभावकी सम्पादिका होनेसे पूर्वसिद्ध ही होती है. आधुनिक पदावलीमें इसे 'Epi-phenomenon' अर्थात् 'आनुषंगिका मति' कहा जा सकता है. जीवचेतनाके स्वरूपदृष्ट्या किसीके भीतर वह भ्रान्तिरूपा बन जाती हो वह कथा तो अन्य है. अन्यथा यह तो केवल औपाधिक भान ही है. अन्यथा शरणागत्यौपयिक 'भगवद्दासो अहम्'के भानमें अहंकारकी पुनर्ब्रह्मभावापत्ति सम्भव ही नहीं रह पायेगी. जबकि **''भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च अहंकारः इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा''** (भग.गीता.७।४) इस वचनमें स्वीकारी समष्टिरूप भगवदहंकारका व्यष्टिरूप हमारा अहंकार होता है. यह भगवदिच्छासे प्रयुक्तभेदके वश एक भिन्ना भगवत्प्रकृतिरूपा अहन्ता बाधित हो जायेगी. यदि इसे 'बाधितार्थसामानाधिकरण्य' न्यायेन गौण प्रयोग मान कर बचाव किया जाता हो तो, अगले श्लोकमें इन अहंकारादिसे भिन्न दूसरी प्रकृति जो जीवरूपा भगवान्ने स्वीकारी, वह एक निरर्थक अन्तर्गडु सिद्ध होगी. क्योंकि एकमात्र ब्रह्मके भ्रमाधिष्ठान होनेकी कल्पनासे सब कुछ चरितार्थ हो पाता हो तो दो अधिष्ठानोंकी गौरवग्रस्त कल्पना आवश्यक नहीं रह जाती.

इसी तरह 'भगवान् मेरे भजनीय स्वामी हैं' ऐसे भक्त्यौपयिक ममत्वकी भी ब्रह्मभावापत्ति जो मान्य है, वह अशक्य बन जायेगी. **''या प्रीतिः अविवेकानां विषयेषु अनपायिनी त्वाम् अनुस्मरतां सा मे हृदयाद् मा अपसर्पतु''** (विष्णुपु.१।२०।१९) वचनमें उस ममत्वमूल या ममत्वपरिपाक रूप प्रीतिको अनपायिनी कहा गया है. वही प्रीति लोकमें अपने आलम्बनीभूत ऐन्द्रियक विषयोंसे विमुख हो कर भगवान्को भी आलम्बन बनाती मानी गयी है. अतएव शांकर अद्वैतवादमें भी **''अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं चेत्यंशपञ्चकम् आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्''** (दृग्दृश्यविवेक : २०) प्रियताको मायिक

नहीं माना गया. यों "**सात्त्विकं सुखम् आत्मोत्थं, विषयोत्थन्तु राजसं, तामसं मोहदैन्योत्थं, निर्गुणं मद्व्यपाश्रयम्**" (भाग.पुरा.११।२५।२९) न्यायेन लौकिक निषिद्ध विषयोंमें आसक्ति तामसी होती है. और अनिषिद्ध विषयोंमें आसक्ति राजसी. इससे श्रेष्ठ पर सगुण सात्त्विकी आत्मासक्ति होती है. इन सभीसे विलक्षण भगवदासक्तिको निर्गुणा माना गया है. तदनुसारी ममताकी भी वही गति सिद्ध होगी. वैसे तो स्वयं भागवतके अनुसार "**अहम् आत्मा आत्मनां, धात!, प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः**" (भाग.पुरा.३।९।४२) ममतौपाधिक सांसारिक विषयासक्ति भी मूलतः ब्रह्मकी आत्मरतिका ही क्षुद्रांशरूप मानी गयी है. अतः उसे उसके सच्चे स्वरूपमें कोई समझ पाये तो वह भ्रान्ति हो ही नहीं सकती. उसका, परन्तु, वास्तविक स्वरूप विषयासक्ति मान लेना अवश्य एक भ्रान्ति है.

अतः अब केवल यही देखना अवशिष्ट रहा कि भागवतोपदिष्ट शरणागति समर्पण सेवा और भक्ति जो महाप्रभुने अपने पुष्टिभक्ति-अवलम्बी सम्प्रदायमें प्रमुख धर्मसाधनाके रूपमें षोडश ग्रन्थोंमें उपदेशार्थ शब्दबद्ध किये हैं, वे सिद्धार्थ उपायके उपदेश हैं या साध्यार्थ उपायके? अर्थात् क्या उनके अनुष्ठानमें जीवचेतनाके ज्ञानेच्छायत्नमें पूर्ण स्वातन्त्र्य है? या भ्रमभात स्वातन्त्र्य है? अथवा भगवत्प्रदत्त आंशिक स्वातन्त्र्य है?

एतदर्थ यह जान लेना आवश्यक है कि महाप्रभुका दार्शनिक दृष्टिकोण ब्राह्मिकी एकता या अद्वितीयता को तार्किकी या सांख्यिकी वन्ध्या एकता या अद्वितीयता होनेके अभिशापसे मुक्ति प्रदान करनेवाला एक दार्शनिक उपचार है. अतएव नाम-रूप-कर्मोंके अनेकविध द्वैत या जडजीवेश्वरात्मक द्वैत उस 'एकमेवाद्वितीय' ब्रह्मके स्वरूपके

विलोपनार्थ न हो कर वस्तुसिद्ध तादात्म्यके प्रतिपादनार्थ हैं.

इसी सर्वब्रह्मतादात्म्यके अनितरसाधारण महत्त्वके कारण [१]ब्राह्मिकी लीला तथा [२]अवतारकालिकी लीला के सन्दर्भमें महाप्रभुके दो विधान अवधेय लगते हैं :

> [१]''**'स नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. स ह एतावान् आस' (बृह.उप.१।४।२) इत्यादिश्रुतिभिः, 'एष उ ह्येव' (कौषी.ब्रा.उप.३।९) इति श्रुतेश्च तानि-तानि साधनानि कारयित्वा तानि-तानि फलानि ददद्भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेण क्रीडति इति वैदिकैः निर्णीयते**''.
>
> (ब्र.सू.अणुभा.१।१।११),
>
> [२]''**विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनं तत्साधनं नवविधा भक्तिः, तत्प्रतिपादिका गीता संक्षेपतः तस्य वक्ता स्वयम् अभूद् हरिः तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम्... मार्गो अयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितः... प्रमाणादीनां चतुर्णामपि एकरूपत्वात् सर्वमार्गापेक्षया अयम् उत्तमो मार्गः. तथाहि प्रमाणं भगवद्वाक्यं वाक्येन प्रवृत्तः साधनम् असाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते. प्रमेयपरिज्ञानं च फलानुभवरूपम्. साधनं च फलादपि अधिकम्. फलञ्च ज्ञानकर्मादिसाध्येभ्योऽपि अधिकम् इति. अतएव अस्मिन् मार्गे पातभयं नास्ति. प्रमाणप्रवृत्तिम् आरभ्य भगवतो रक्षकत्वात्... किञ्च यदा वेदादीनां कालवशाद् असाधकत्वं ज्ञातं तदा अयं मार्गो भगवता कथितः. तेन इदानीं नान्यो मार्गः फलाय**''.
>
> (त.दी.नि.प्र.२।२२०-२२३).

महाप्रभुके एक अन्य 'बालबोध' नामक ग्रन्थमें विवेचित सांख्ययोगरूप स्वतोमोक्षके उपाय और शिवविष्णुकी भक्तिप्रपत्तिरूप परतोमोक्षके उपायोंके प्रभेदके दृष्टिकोणसे इन दो विधानोंमें निरूपित व्यवस्थाको निहारनेपर प्रथम व्यवस्था स्वपरोभयाश्रित प्रतीत होगी और दूसरी पराश्रित ही.

फिरभी 'पर'का अभिप्रेतार्थ एकान्तिकतया अपनेसे भिन्न किसी उद्धारक परके रूपमें लिये जानेपर तो सब कुछ गड़बड़ा जायेगा. 'पर'पदका अभिप्रेतार्थ स्वमें अन्तर्निगूढ़ परमात्मा लेनेपर ही गूढ़ तथ्यकी कुछ झांकी मिल पायेगी. यह उपनिषद् भगवद्गीता ब्रह्मसूत्र और भागवत महापुराणकी एकार्थताके आधारपर लिया गया महाप्रभुका दार्शनिक निष्कर्ष है. इसे किसी मोडलके आधारपर बुद्धिगत करना हो तो भक्त ध्रुवकी भगवत्स्तुतिसे बढ़िया कोई उदाहरण नहीं हो सकता : **''यो अन्तःप्रविश्य मम वाचि इमां प्रसुप्तां सञ्जीवयति अखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना अन्यान् च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्''** (भाग.पुरा.४।९।६). अर्थात् हमारे भीतर रही वस्तुस्वभावसिद्ध भगवत्प्रपत्ति भगवदर्पितता भगवत्सेवना और भगवद्भक्ति रूप सिद्ध साधनोंका उद्बोधन स्वयं हमारे ज्ञानेच्छायत्नके द्वारा न हो कर जब भगवत्कृपाद्वारा होता है तो वह पुष्टि है. अर्थात् अंशीमें रहे स्वाभविक सामर्थ्यका आंशिक प्रस्फुटन है.

''शरणं गृहरक्षित्रोः वधरक्षणयोरपि'' (मेदिनी १५(णान्तवर्ग।७९) इन चार प्रकारके अर्थोंके सन्दर्भमें जब श्रीकृष्णको ही जीवात्मा अपना शरण माने तो जो निखिल ब्रह्माण्डोंका उपादानभूत कर्ता रक्षक और संहारक है, उसके ऐसे सामर्थ्यका अवलम्बन आंशिकरूपमे जीवात्मा भी कर ही सकती है. इसे रामानुज दर्शन 'उपेयावलम्बन'

कहता है, यह धर्मरूप उपायावलम्बन नहीं. उदाहरणतया धरित्रीके धारणसामर्थ्यका अवलम्बन कर के ही हम स्वच्छन्दतया धरतीपर विचरण कर पाते हैं. एतदर्थ ही भागवतमें कहा गया है **''सोऽहं तवांघ्र्युपगतो अस्मि असतां दुरापं तच्चापि अहं भवदनुग्रह ईश मन्ये''** (भाग.पुरा.१०।४०।२८). इसी तरह बृहदारण्यकोपनिषद्में **''स वा अयम् आत्मा सर्वेषां भूतानाम् अधिपतिः... तद् यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः समर्पिताः एवमेव अस्मिन् आत्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्वेएव आत्मानः समर्पिताः''** (बृह.उप.२।५।१५) भी वचन मिलता है. यों इस वस्तुस्वभावसिद्ध समर्पितताका मन वाणी और काया के व्यापारोंमें केवल अनुभावन ही प्रपन्न जीवकृत आत्मार्पण है.

अतः जीवात्माके ज्ञानेच्छायत्नके स्वातन्त्र्येण प्रयोगान्वित होनेसे पहले ही जीवात्मा वहीं रक्षित भी है और समर्पित भी. पर उसका जो भान उसे नहीं था वह हो जाना इतिकर्तव्यता बन जाता है.

इसे दोनों तरहसे प्रकट किया जा सकता है [१]शास्त्रीय विधिके शब्दोंसे फलसाधनके बोधद्वारा, तज्जन्य इच्छाद्वारा और तदनुरूप प्रयत्नद्वारा भी. अथवा [२]भगवत्कृपाकांक्षितया भी. प्रथम कल्पमें महाप्रभु मर्यादासृष्टि मानते हैं और द्वितीय कल्पमें पुष्टिसृष्टि : **''वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः''** (पु.प्र.म.९).

जहां तक सेवाके वस्तुस्वभावसिद्ध होनेका प्रश्न है तो वह भी भागवतके **''यत् पत्यपत्यसुहृदाम् अनुरक्तिः, अंग!, स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वया उक्तम्, अस्तु एवमेव उपदेशपदे त्वयि ईशे प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुः आत्मा'',''गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि**

देहिनां यो अन्तः चरति सो अध्यक्षः क्रीडनेन इह देहभाक्'' (भाग.पुरा.१०।२९।३२,१०।३३।३६) वचनके अवलोकन करनेपर सरलतासे समझा जा सकता है. मूलतः तो प्राणिमात्र किसी भी नामरूपकर्मात्मक प्रापञ्चिक वस्तु या व्यक्ति की सेवा या अनुवृत्ति करता हो, होती तो है वह उसी परमात्माके अवररूपोंकी अनुवृत्ति. अतः सिद्धवत् ही है. फिरभी उसे उसके मूलरूपमें पहेचान कर सेवापरायण होना, उसकी पुष्टिके बिना शक्य नहीं हो पाता.

यही बात भक्तिके हेतु भी खोजनी हो तो ब्रह्माजीके निरूपणमें मिलती है **''भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येन त्रिरन्विक्ष्य मनीषया तद् अध्यवस्यत् कूटस्थो रतिः आत्मनि अतो भवेत्'',''अहम् आत्मा आत्मनां, धात!, प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः''** (भाग.पुरा.२।२।३४,३।९।४२) है.

अतएव भागवतकी **''एवं स्वचित्ते स्वतएव सिद्धे आत्मा प्रियो अर्थो; भगवान् अनन्तः तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत''** (भाग.पुरा.२।२।६) कारिकाकी सुबोधिनीमें महाप्रभुने स्वीकारा है कि भगवत्सेवा और भगवद्भक्ति में भगवत्सेवाके वस्तुसिद्ध स्वरूपका विचार करनेपर :

> **''आत्मत्वात् प्रियत्वम्. प्रियत्वाद् अर्थत्वम्. अर्थत्वाद् भगवत्त्वम्. भगवत्त्वाद् अनन्तत्वम्... प्राणिनां सेवौपयिकरूपाणि पञ्च : स्वात्मा देहो धनम् ईश्वरो नित्यकर्म च. तत्र भगवान् पञ्चरूपोऽपि इति आह. प्रथमतः सर्वेषाम् आत्मा वस्तुतो अधिकारिणं प्रति तत्त्वेन प्रकाशमानमपि, तस्माद् अवश्यं सेव्यः. उपपत्त्या सेवनम् उक्तम्. रुच्या सेवनम् आह 'प्रियम्' इति यथा प्राणो यथावा देहः प्राणिनां प्रीतिविषयो भवति.**

आत्मत्वेन प्रीतिविषयत्वे प्राप्तेऽपि पुनः प्रीतिविषयक-थनं, प्रीतेः परिच्छिन्नत्वज्ञापनार्थम्. अतः सा प्रीतिः एकत्र विनियुक्ता न अन्यं तथात्वेन गृह्णाति. अतः सर्वरूपे एकस्मिन्नेव प्रीतिः कर्तव्या... प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः... अतो देहादिभ्यः प्रीतिम् आच्छिद्य भगवति स्थापयन्तु इति भावः. अर्थो धनरूपो, यावत्कार्यं तेन भविष्यति. तत् सर्वं भगवता भविष्यति... किञ्च अनन्तो देशकालापरिच्छिन्नो नित्यः. एतावता पञ्चविंशति तत्त्वानि षड्विंशकः च महाविष्णुः षड्विंशतिप्रकारेण सेव्यः''.

(सुबो.२।२।६).

अतएव, पूर्वसिद्ध होनेसे, न तो ये चतुर्विध पुष्टिधर्म अपूर्वविधिद्वारा और न नियम या परिसंख्या द्वारा ही कर्तव्यके प्रेरक बनते माने जा सकते हैं. क्योंकि इन नियमोंको हमारे लिये घड़े गये नियम जान भी लेनेपर, तदर्थ भगवान्द्वारा किये गये वरणके अभावमें, अर्थात् भगवान्के विशेष अनुग्रहके न होनेपर हम जीवात्मा इन धर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त या तत्पर हो नहीं पाते हैं. इति शम्.

(उपसंहारश्लोकाः)

हर्यनुग्रहव्यापाररूपा ज्ञेया चतुष्टयी॥
प्रपत्त्यर्पणसेवाश्च भक्तिस्तस्मिन्नहेतुकी॥१॥
अनुकम्पाद्यन्तयोर्वै मध्येऽवान्तरव्यापृतिः॥
न भगवन्मनोवाग्भ्यां स्वरूपेणैव यन्त्रिता॥२॥
लीलायां तत्र मुक्त्या को लाभो हानिर्हि बन्धने॥
हरेः कृपाविशिष्टानां सर्वत्र तुल्यदर्शिनाम्॥३॥

प्रमाणादिचतुष्कन्तु पुष्टौ तच्छक्तिमान् भवेत्॥
व्यवधानमहंकारो न भवेत् परजीवयोः॥४॥
सारोऽत्र वर्णितः श्लोकैश्चतुर्भिः ऋजुभिस्तु यः॥
ग्रन्थैस्तु शतशैः ज्ञेयः तत्त्वजिज्ञासुभिः सदा॥५॥

श्रीहरिः

वाल्लभ वेदान्त

[एको नानात्वम् अन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा॥

भगवान् एकएव जले शयानो 'अनेकरूपो भविष्यामि' इति इच्छां कृतवान्. ततः शयानः तल्पाद् उत्थितो, यथा पुरुषः शय्यातः उत्तिष्ठति, ततः तस्य स्वात्मनो बहुधेच्छायां तस्य वासुदेवस्य मायारूपा या भार्या तया हेतुभूतया तस्याः सन्निधिमात्रेणैव विद्यमानं बीजात्मकं वीर्यं सच्चिदानन्दरूपं त्रिधा सद्रूप-चिद्रूपा-ऽऽनन्दरूपभेदेन असृजत् (भाग.सुबो.२।-१०।१३)].

(उपक्रम)

वाल्लभ वेदान्त बौद्धिक ऊहापोहात्मक दर्शन (Logical Theory based on Hypothesis) न हो कर वेदादि शास्त्रोंके विविध वचनोंके परस्पर समन्वयकी गवेषणाके रूपमें प्रकट व्याख्या (Hermeneutical philosophy) रूप दर्शन है. यह तो वेदान्तके सभी वैचारिक सम्प्रदायोंका एक सामान्य स्वरूप ही है. ऐसी स्वीकृति शारीरकभाष्यकार भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके सुस्पष्ट शब्दोंमें "न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणम् ईश्वरं मुक्त्वा अन्यतः प्रधानाद् अचेतनाद् अणुभ्यो अभावात् संसारिणो वा उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यं; नच स्वभावतो, विशिष्टदेशकालनिमित्तानाम् इह उपादानात्. एतदेव अनुमानं संसारिव्यतिरिक्ते-श्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वरकारणिनो, ननु इहापि तदेव उपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे? न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणां वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते, वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः

न अनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता. सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारण-वादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानमपि प्रमाणं भवद् न निवार्यते, श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्य अभ्युपगमात्'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।२) किये गये प्रतिपादनमें हम देख सकते हैं. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भी अतएव इसी बातको दोहराते हुवे कहते हैं ''परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहद् द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्. अपरं (वेदमताद् 'अपरं' भिन्नं मतं) तत्र पूर्वस्मिन् (प्रपञ्चरूपेण आविर्भूते ब्रह्मणि 'तत्र' अक्षरब्रह्मणि इति अर्थः) वादिनो बहुधा जगुः मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं च ('च'कारेण वेदबाह्यमतानि संगृह्यन्ते) इति नैकधा. तदेव एतत्प्रकारेण ('स ह एतावान् आस', 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्' इति श्रुतिभ्यः तथा इति अर्थः) भवतीति श्रुतेः मतम्'',''अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात् परमात्मनः. नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः. ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्'' (सिद्धा.मु.सप्रका.३-५, ब्र.सू.अणुभा.१।१।१).

यहां बहुत सारे वाल्लभ वेदान्तपर लिखे गये ग्रन्थोंमें एक दुरूह मिथ्या धारणा प्रायः यों दरसायी जाती है कि वाल्लभ वेदान्तमें केवल वेदगीताब्रह्मसूत्रभागवत रूपी चार प्रस्थानोंके अलावा कोई और प्रमाण माना नहीं गया है. इससे अधिक अन्यथा कुछ अपलाप हो ही नहीं सकता.

(प्रमाणदृष्टि)

वाल्लभ वेदान्तमें, जबकि, प्रमाणव्यवस्थाका मान्य स्वरूप कुछ और ही है.

सामान्य मानवीय विवेकके आधारपर भी इतना तो समझा ही जा सकता है कि किसीको शब्दप्रामाण्य ही मान्य हो तब भी वह श्रुत्यादिशास्त्रोंका प्रामाण्य, चाक्षुष या श्रावण प्रत्यक्षको प्रमाण माने बिना, स्वरूपलाभ कर पाने भी सक्षम नहीं हो पायेगा. अतएव स्वयं श्रुतिमें भी **''स्मृतिः प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमानः चतुष्टयम् एतैः आदित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते''** (तैत्ति.आर.१।२।१) इस वचनमें 'स्मृति'पदका नित्यानुमेय श्रुतिमूलक स्मृति, 'प्रत्यक्ष'पदका आर्ष प्रत्यक्ष, 'अनुमान'पदका श्रुतोपपत्तिरूप अनुमान अथवा 'ऐतिह्य'पदका श्रुति-उपोद्बलक पुराण अर्थ मान कर केवल ब्रह्मके ही प्रतिपादनमें सीमित न बनाना हो तो प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिहच्य और स्मृति रूपी प्रमाणोंके आधारपर आदित्यमण्डलान्तर्गत सभी पदार्थोंका विधान भी शक्य माना जा सकता है. अतः आदित्यमण्डलान्तर्गत पदार्थोंके बारेमें, जिनमें श्रुत्यादि शास्त्र भी प्रकट हुवे ही हैं, सो उनके प्रामाण्यग्रहमें यथायथ इन चार प्रमाणोंको मान्य किया ही गया है. अतएव द्रव्यस्फुरणविज्ञानात्मिका इन्द्रियानुग्राहिका बुद्धिकी संशय विपर्यास निश्चय स्मृति और स्वाप रूपा पञ्चविध वृत्तियोंकी विवेचनाके अन्तर्गत निश्चयात्मिका वृत्तिको लोकव्यवहारनिर्वाहक प्रमाण माना गया है :

> **''निश्चयो यथार्थानुभवो अर्थोहि ज्ञानस्य अर्धम् अंगम्. अतएव स्मृतिः न निश्चयात्मिका अर्थाभावात्. अनुमितिरपि सम्बन्धिव्यवधानेन अर्थजनितैव. सादृश्यं रूपादिवत् पदार्थो धर्मरूपो निरूपकभेदसहिष्णुः तद्धर्मः तद्धर्मसजातीयो वा, स लक्षणत्वेन ज्ञातो द्रव्यस्फुरणेन स्फुरितः, संस्कारेण शब्दाभिव्यक्तौ वाक्यप्रामाण्याद् अध्यव-**

सीयते 'गवयोऽयम्' इति. चक्षुःसहकारि वाक्यं वाक्यसहकृतं सादृश्यं वा. अनुग्राहकानां न प्रमाणान्तरत्वम्. शब्दोऽपि निश्चयएव, धर्मसादृश्यातिरिक्तसंस्कारजनकत्वात्. शब्देन च द्रव्यस्फुरणात् चक्षुषो अपेक्षाभावात् प्रमाणान्तरत्वम्.''

(भाग.सुबो.३।२६।३०).

ऐसे प्रतिपादनद्वारा लौकिक व्यवहारमें बाह्यार्थके निश्चायक शास्त्रेतर प्रमाणोंको मान्य रखा ही गया है. एतावता आदित्यमण्डलसे बाह्य पदार्थों; द्रष्टव्य : **''न तद् भासयते सूर्यः न शशांको न पावकः यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम''** (भग.गीता.१५।६), विशेषतः ब्रह्म या ब्रह्मसम्बन्धी पदार्थोंके स्वरूपनिर्धारण या भावाभाव में इन्हें प्रमाण मान लेना एक वैचारिक धांधली ही होगी.

इस सन्दर्भमें महाप्रभुका दूसरा एक विधान—

''प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिगोचराः।
परस्परं विरुद्धाः ते नैकशेषं भजन्ति हि॥
उभयोः वैदिकत्वेन कः स्याद् अत्र नियामकः।
विचारकाणां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा॥
क्रियाविद्यापरत्वे तु विकल्पेन एकवाक्यता।
दुष्टोऽपि आश्रीयते पक्षो विकल्पाख्यः श्रुतेः बलात्॥
तथैव भगवद्रूपं यथा हस्तादयः पृथक्।
यथा सर्वाविरोधः स्यात् तथैव अत्र विचारणम्॥
सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते।
अन्यथा प्रतिभानं यद् उच्चनीचादिभेदतः॥
तद् भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः।

यत् किञ्चिद् दूषणन्तु अत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम्॥
विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते।
यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम्.....॥''
(भाग.सुबो.२।९।३२)

उल्लेखनीय हो जाता है कि 'विकल्प'पद अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता पाया जाता है : मूलतः [१]कर्मके सन्दर्भमें 'एवम्-अनेवम्' के संकल्पकी असामर्थ्य अर्थमें [२]उभयकल्पोंकी अनुज्ञाके अर्थमें [३]वस्तुके सन्दर्भमें इदमित्थम्भावेन उस वस्तुके स्वरूपके निर्धारणकी अक्षमता अर्थात् उत्कटकोटिक या अनुत्कटकोटिक उभयविध संशयके अर्थमें [४]शब्दज्ञानानुपातिनी वस्तुशून्यबुद्धिकी वृत्तिके अर्थमें [५]ज्ञानके सन्दर्भमें ज्ञेयवस्तुकी विषयताद्वारा निरूपित प्रकारताके अर्थमें, इत्यादि.

ऐसी स्थितिमें ब्रह्मको निर्विकल्पक-निर्धर्मक माननेवाले श्रीशंकराचार्य भी जब **''नच ब्रह्मणः इष्टं चिकीर्षुणा शास्त्रार्थविपरीतकल्पनया स्वार्थपरित्यागः कार्यः'',''तस्मात् तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्धयगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च... 'तद् एजति तन्न एजति तद् दूरे तदु अन्तिके' इत्यादिविरुद्धधर्मप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च''** (बृह.उप.शां.भा.१।४।१० , २।१।२०) विधानमें ब्रह्मज्ञानकी विषयतासे निरूपित प्रकारताके रूपमें विरुद्धधर्मोंका प्रकाशन शक्य मानते ही हैं. तब महाप्रभु तो एकमेवाद्वितीय सत्यज्ञानरूप ब्रह्मको अनन्तधर्मोंवाला मानते हैं. उसे सर्वरूपधारणसमर्थ विरुद्धधर्माश्रय स्वीकारते हैं. अतः श्रुत्यादि शास्त्रोंके परस्परविरुद्ध वचनोंमें प्रकाशित होते अभिप्रायको अपनी ब्रह्मविषयिणी कल्पनाके आधारपर गौणार्थक न माननेके महाप्रभुके आग्रहकी उपपत्ति वेदान्तगोष्ठीमें विवादास्पद नहीं रह जानी चाहिये.

अतः ऐसे शास्त्रैकगम्य ब्रह्मके बारेमें शास्त्राभिप्रायकी जिज्ञासाकालमें महाप्रभु कहते हैं "**वेदाः (‘वेदा’ इति शब्दएव प्रमाणं तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव. तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणम्) श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्. (एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं सत् प्रमाजनकम् इति अर्थः. ननु चतुर्णां क्व उपयोगः? एकेनैव चरितार्थत्वात् च इति आशंक्य आह) उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम्. अविरुद्धन्तु यत् त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा. एतद्विरुद्धं यत् सर्वं न तद् मानं कथञ्चन**" (त.दी.नि.प्र.१।७-८) बहुधा इस विधानका अभिप्राय जाने बिना महाप्रभुको प्रस्थानचतुष्टयवादी मान लिया जाता है. यह तो सर्वथा निर्मूल धारणा है. महाप्रभु चार प्रस्थानकी बात नहीं कह रहे हैं प्रत्युत इतरेतर-एकवाक्यतापन्न प्रमाणचतुष्टयकी बात कह रहे हैं. क्योंकि इसीके अव्यवहितोत्तर विधानमें महाप्रभु यह भी सुस्पष्टतम शब्दोंमें खुलासा दे देते हैं कि "**एवं पूर्णज्ञानोदयावधि यद् ग्राह्यं प्रमाणत्वेन तद् निरूप्य तदनन्तरं यत् प्रमाणत्वेन ग्राह्यं तद् आह ‘अथवा सर्वरूपत्वाद् नामलीलाविभेदतः विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि’. वाङ्मात्रमेव प्रमाणम् अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्... विरुद्धवाक्यत्वेनैव परस्परं भासमानेषु अविरोधप्रकारम् आह ‘विरुद्धांशपरित्यागाद्’ इति. विरुद्धांशपरित्यागो द्वेधा वक्तव्यो भगवत्सामर्थ्येन अलौकिकप्रकारेण भगवतः सर्वरूपत्वेन वा. अतो युक्तएव अविरोधः**" (त.दी.नि.प्र.१।९). अतः ब्रह्मकी तरह सर्वत्र व्याप्त एक भ्रान्तधारणा कि वाल्लभ वेदान्त प्रस्थानचतुष्टयवादी है अथवा शास्त्रैकप्रामाण्यवादी है, दोनों सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो जाती हैं. प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यताका निकष साकार-ब्रह्मतादात्म्यवादकी विविदिषाकालका निकष है. उसे भलीभांति समझ पानेपर ब्रह्मसाक्षात्कारसे पूर्व महाप्रभु श्रीमध्वाचार्यका श्लोक उद्धृत करते हुवे कहते हैं "**‘अर्थो अयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्वसूत्रैः**

निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव' 'अर्थोऽयमेव'इति सर्वेषां प्रमाणानाम् अत्र एकवाक्यता. अन्येषु वाक्याभासाएव'' (त.दी.नि.प्र.१।१०४). यहां तथाकथित चार प्रस्थानकी कथा बिलकुल नदारद है.

इस सन्दर्भमें एक अतीव महत्त्वपूर्ण विधान महाप्रभुका यह भी अवलोकनीय है :

''शब्दब्रह्मात्मनः तस्य व्यक्ताव्यक्तप्रकाशनम्।
विभाति ब्रह्म विततं नानाशक्त्युपबृंहितम्।।

ननु शब्दब्रह्मणः कथं जगज्जनकत्वम्, शब्दार्थयोः द्वैरूप्याद् ब्रह्मणैव अर्थात्मकस्य जगतः उत्पादितत्वात्? तत्र आह 'विभाति ब्रह्म'इति. अर्थात्मकं जगद् उत्पादितमपि नामव्यतिरेकेण न प्रकाशतइति 'विभाति' इति उक्तम्. इदं सर्वं जगद् विततं ब्रह्मैव विभाति... शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः प्रकाशनं न भवति. शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते. स्वप्रकाशत्वमपि तस्य वेदेनैव उक्तम्, 'अनुपलब्धे तत् प्रमाणम्' इति न्यायात्. 'पराञ्चि खानि' इत्यादिवाक्याद् अनुपलब्धत्वम्. स्वप्रकाशमपि सौरं तेजो दिवाभीतेन न दृश्यते, नच व्यवधानं किञ्चिद् अपेक्ष्यते, इन्द्रियाणामेव अग्राहकत्वात्.''

(भाग.सुबो.३।१२।४६).

यहां तक शास्त्राभिप्रायके परोक्षज्ञानकी बात हुयी परन्तु ब्रह्म, जिसके बारेमें श्रुति गीता आदि शास्त्रोंमें सुस्पष्टतम शब्दोंमें ''सो अकामयद् बहु स्यां प्रजायेय इति... इदं सर्वम् असृजत्. यद् इदं

किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्रावित्. तद् अनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत्... सत्यं च अनृतं च सत्यमेव अभवत्'',''अमृतं चैव मृत्युः च सदसच्च अहम्'' (तैत्ति.उप.२।६, भग.गीता.९।१९) ऐसा कहा गया है. अतः सृष्टिलीलामें तो सारा हमारा व्यवहार प्रकृतिके राजसगुणवशात् वैकल्पिक ज्ञानसे प्रयुक्त होता होनेसे तदन्तर्गत प्रकृतिके तमोगुणके वशात् होते अज्ञान या भ्रान्ति की अनुभूतियोंका प्रामाण्य शक्य नहीं बन पाता. परन्तु उस अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके वश नहीं प्रत्युत उसे वशमें रख कर जब भगवान् लीलया भूतलपर अवतीर्ण होते हैं, तब राजस प्रामाण्यव्यवस्थाके निकष अकिञ्चित्कर सिद्ध हो जाते हैं.

भगवत्साक्षात्कारकी एक विधा शास्त्रोपदिष्ट साधनाप्रणालीमूलक तत्तदधिकारिपर्याप्त होती है अपर विधा सर्वजनसाधारणी भूतलपर भगवल्लीलासामयिक होती है.

अतः साधनोत्तर साक्षात्कारमें ''मानाधीना मेयसिद्धि''का कल्प होता है परन्तु लीलासामयिक साक्षात्कारमें ''मेयाधीना मानसिद्धि''का क्रमविपर्यय भी देखनेको मिलता है. महाप्रभु इसे यों समझाना चाहते हैं **''यथा शास्त्रद्वयं भक्तिज्ञानप्रतिपादकं साधनं तथा भगवत्स्वरूपमपि... अतः आविर्भावः स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा. भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः अवतारदशायान्तु न तयोः प्रयोजकत्वम्''** (भाग.सुबो.१०।२६।१३) अतः जैसे श्रुत्यादिशास्त्रप्रतिपादित साधनाओं-द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर; क्योंकि लोकदृष्ट्या तो वाणीका याथार्थ्य अर्थप्रयुक्त होता है परन्तु ब्रह्मके परमार्थ स्वरूपके ज्ञानके बाद, **''स 'भूः'इति व्याहरद् भुवम् असृजत... स 'भुवम्'इति व्याहरद् अन्तरिक्षम् असृजत... स 'सुवम्'इति व्याहरत् स दिवम् असृजत''** (तैत्ति.ब्रा.२।२।४।१-

२) ऐसा श्रुतिमें कहा गया होनेसे वाच्यार्थको वाक्प्रयुक्त भी स्वीकारना पड़ता है. अतः महाप्रभुने यह प्रतिपादन किया कि **''अर्थद्वारा पदे धर्माः लोकदृष्टयैव कल्पिताः. तस्माद् वाक्यं सर्वमेव सा यतो विश्वतोमुखी' अर्थद्वारा इति लोकदृष्टयैव नतु परमार्थतः... तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं यतः सरस्वती सर्वतोमुखी''** (त.दी.नि.प्र.२।१-७३) अर्थात् 'परमार्थतः' यानि ब्रह्मसाक्षात्कारोत्तरकालीन अनुभवदृष्टया, नकि व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्तातारत्म्यवशात्.

इसी तरह विविदिषाकालमें प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यतासे अवगत ब्रह्मकी भक्तभावानुरूपता —

> [१]**''एको देवो बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते... तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति''** [२]**''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्''** [३]**''अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्''** [४]**''त्वं भावयोग-परिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभायन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय.''**
>
> ([१]मुद्ग.उप.३, [२]भग.गीता.४।११, [३]ब्र.सू.३।२।२४ [४]भाग.पुरा.३।२।२४).

वचनोंद्वारा दरसायी गयी है. इसके आधारपर लीलासामयिक प्रमाणव्यवस्थाका निदर्शन करते हुवे महाप्रभुने यह भी स्वीकारा है कि भगवान्का स्वरूप भक्तिभावनाके साथ द्रष्टा जीवके भावानुरूप प्रकट होता होनेसे **''मानमेयैः साधनैश्च फलैश्चापि पृथक्-पृथक् भगवान् सप्तधा लीलां कुर्वन् उद्धारकः परः... अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं प्रमाणं**

भक्तिहेतुकम्'', **''भगवत्(लीलावतारवर्णनपरे)शास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयं भगवत्साक्षात्कारो साक्षात्कृतो वा भगवान् प्रमाणम्... दर्शनं प्रमाणम् आविर्भावः प्रमेयम्... सएव साधनम्... तच्चरित्रं फलम्''** (त.दी.नि.३।१०।-४१-४३ , भाग.सुबो.१०।२।३८-४१) अर्थात् प्रमाणादिकी चारों अपेक्षा भगवान् ही परिपूर्ण करते हैं. अतः अवतारलीलामें अपवादतया भगवान्के बारेमें अज्ञान और अन्यथाज्ञान भी प्रमाणका काम करने लगते हैं, भगवान् अज्ञानी या अन्यथाज्ञानी भक्तके भावोंका अनुसरण करते होनेसे वे सत्यापित हो जाते हैं.

इस तरह हम देख सकते हैं कि शांकर वेदान्तकी तरह वाल्लभ वेदान्तमें प्रामाण्यव्यवस्था पारमार्थिक-व्यावहारिक सत्ताके प्रभेदमूलक न होनेपर भी —

> [१]**''सो अकामयत् बहु स्यां प्रजायेय इति... इदं सर्वम् असृजत... तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत. तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते इति. यद् वै तत् सुकृतम्''**,
>
> [२]**''भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकारः इति इयं मे भिन्नाः प्रकृतिः अष्टधा अपरा इयम् इतस्तु अन्यां पृकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां महाबाहो यया इदं धार्यते जगत्. एतद्यानीनि भूतानि सर्वाणि इति उपधारय अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा''**.
>
> [३]**''आत्मकृतेः परिणामात्''**.
>
> [४]**''आसीद् ज्ञानमथो हि अर्थः एकमेव अविकल्पितः.. तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत् तयोः एकतरो हि अर्थः**

प्रकृतिः सा उभयात्मिका ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते.''

([१]तैत्ति.उप.२।६-७ [२]भग.गीता.७।४-६ [३]ब्र.सू.१।-४।२६ [४] भाग.पुरा.११।२४।२-४).

ऐसे प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यताके आधारपर वाल्लभ वेदान्तमें प्रमाणव्यवस्था एकमेवाद्वितीय ब्रह्मस्वरूप तथा भगवल्लीलात्मक ऐच्छिक द्वैत यों दोनोंसे सुसंगततया प्रतिपादित हुयी है.

(प्रमेयदृष्टि)

प्रमाणव्यवस्थाकी इस जटिलताके अनुरूप प्रमेयप्रतिपादनमें भी अनेकविध दृष्टियोंकी अपेक्षासे कई प्रकारकी निरूपणशैली मिलती है. उदाहरणतया १)शास्त्रप्रतिपाद्यदृष्टि (Hermenuetically), २)तत्त्वदृष्टि (Ontologically), ३)देवशास्त्रीयदृष्टि (Theologically); और, ४)सर्वदृष्टिसंग्राहिकादृष्टि (As per Theory of all the theories) .

क्रमशः १)शास्त्रप्रतिपाद्यदृष्टिवशात् **''वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो'',''मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते हि अहम् एतावान् सर्ववेदार्थो शब्द आस्थाय मां भिदा, मायामात्रम् अनूद्य अन्ते प्रतिषिद्धच प्रसीदति''** (भग.गीता.१५।१५, भाग.पुरा.११।२१।४२-४३) अर्थात् सारे वेदोंसे वेद्य केवल भगवान् ही हैं.

यह परमतात्पर्यवृत्त्या या निषेधशेषवृत्त्या अथवा सर्वविधवाच्यभ्रमाधिष्ठानवृत्त्या अथवा निखिल रूप-नाम-कर्मोंके आश्रयीभूत अंशी आविर्भावकवृत्त्या यों अनेकविध यथायथ दार्शनिक पूर्वधारणाओंके

अनुरूप स्वीकारा जा सकता है.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार, परन्तु, कुछ समझना हो तो इन श्रुतिवचनोंको लक्ष्यमें रखना होगा : **''वेद अहम् एतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते'',''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा उ आत्मा एकः सन् एतत् त्रयम्''** (तैत्ति.आर.३।१२।७, बृह.उप.१।६।१-३) इन श्रुतिवचनोंका अवलम्बन कर महाप्रभु कहते हैं **''''प्रमेयं हरिरेव एकः सगुणो निर्गुणश्च सः गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रिया उत्पत्त्यादयश्च सः' यथा शब्दएव प्रमाणं तत्रापि वेदादिभावापन्नं तथा हरिरेव प्रमेयं सर्वभावापन्नम्... एवम् उक्ते सम्यग् ज्ञानं न भवतीति विशेषं वक्तुम् आह 'बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेण उपवर्ण्यते कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः' ''** (त.दी.नि.प्र.२।८४-८५). अतः वेदके पूर्वकाण्डमें कर्मतया विधान हो या उत्तरकाण्डमें या देवताकाण्डमें ब्रह्मतया अथवा देवतया अभिधान हो; या, किन्हीं दो या अधिक देश काल द्रव्य कर्ता मन्त्र अथवा कर्म के विकल्पके अन्तर्गत किसी एकका उपादान या दूसरेका अपोहन हो, सभी कुछ भगवान् ही होते हैं. यह स्वरूप-कारण-कार्यरूप सर्वका ब्रह्मके साथ तादात्म्यवाद है **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'', ''स य एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा, तत् त्वम् असि'',''द्रव्यं मन्त्रो विधिः यज्ञो यजमानः तथा ऋत्विजः धर्मो देशः च कालश्च सर्वम् एतद् यदात्मकम्''** (छान्दो.उप.३।१४।१, ६।८।७, भाग.पुरा.९।६।३६).

२) तत्त्वदृष्टया इस ब्राह्मिक यथार्थ्यको समझना हो तो सर्वप्रथम

''**'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः' 'द्रव्यम्' इति इदं हि तत्त्वं न नाना किन्तु सर्वेषाम् एकमेव तत्त्वम्. तत्र सर्वं पञ्चांगं तेषां पञ्चानाम् एकमेव तत्त्वं भवति. 'द्रव्यम्' अधिभूतं समवायिकारणं महाभूतादि. 'कर्म' जगतो जन्मनिमित्तं साधारणम्... 'कालो' गुणक्षोभकः 'च'काराद् निमित्तभूतः च. 'स्वभावः' परिणामहेतुः. 'जीवो' भोक्ता भगवदंशः... एते सर्वे वासुदेवाद् अन्ये न भवन्ति**'' (भाग.सुबो.२।५।१४) इस पञ्चविधताके बावजूद सर्वब्रह्मतादात्म्यौपयिक एक बात यह भी अवधारणीय होती है कि ''**'एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुना आत्मना अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा'... सर्वत्र भगवतो अन्वयो अस्ति 'घटः सन् पटः सन् भासते इति प्रियम्' इति सर्वत्रैव एकस्य अन्वयः. अन्यथा एकशब्दानुवृत्तिः प्रतीत्यनुवृत्तिः न स्यात्... एवं देशकालवस्त्वपरिच्छिन्नः (व्यतिरिक्तो) देशकालवस्तुरूपो (अन्वितः) च अहमेव (भगवानेव) इति एतावदेव जिज्ञास्यम्**'' (भाग.सुबो.२।९।३५). यहां समझनेकी बात यही है सत्य-ज्ञान-अनन्तरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूपकोटिमें अन्तर्गणित होते हैं. ये द्रव्य-कर्म-काल-स्वभाव-जीव भी अक्षरब्रह्मात्मक हैं. इनके बाद महदादि पञ्चमहाभूतान्त अट्ठाईस तत्त्व कारणकोटिरूप ब्रह्म है. उनसे प्रकट होनेवाली भौतिक सृष्टिके अनन्त नाम-रूप-कर्मात्मक तत्त्व कार्यकोटिरूप ब्रह्मतया मान्य हैं.

३) पाश्चात्य आत्ममुग्ध एकेश्वरवादी Monotheistic धर्मानुयायिओंको हमारा धर्म कभी प्रकृतिपूजावादी Paganistic तो कभी बहुदेववादी Politheistic तो कभी सर्वदेववादी या यथेच्छदेवप्राधान्यवादी Pantheistic/Henotheistic लगता है. वस्तुतः हमारे श्रौत स्मार्त पौराणिक शास्त्रोंके अनुसार हमारी मान्यता ''**यो देवानां नामधा एकएव**'' (ऋक्संहि.१०।८२।३) के अनुसार ब्रह्माद्वयानेकदेववाद Monistic politheism की ही थी और रही है.

इसे उपनिषत्पूर्व संहिता-ब्राह्मण तथा उपनिषदुत्तर धार्मिक साहित्यमें भी निरपवाद देख सकते हैं :

[१]''इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः''.

[२]''तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः.''

[३]''महाभाग्याद् देवतायाः एकएव आत्मा बहुधा स्तूयते. एकस्य आत्मनो अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति. अपिच सत्त्वानां प्रकृतिभूमिभिः ऋषयः स्तुवन्ति इति आहुः. प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च. इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरप्रकृतयः कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः. आत्मैव एषां रथो भवति आत्मा अश्वः आत्मा आयुधम् आत्मा इषवः आत्मा सर्वम्''.

[४]''तस्मात् च देवाः सम्प्रसूताः''

[५]''वायुः यमो अग्नि वरुणः शशांकः प्रजापतिः त्वं प्रपितामहः च''.

[६]''नारायणपराः वेदाः देवाः नारायणांगजाः.''

([१]ऋक्संहि.१।१६४।४६ [२]अथ.संहि.१०।२३।४।२७ [३]निघ.निरु.७।-१।५ [४]मुण्ड.उप.२।१।७ [५]भग.गीता.११।३९ [६]भाग.पुरा.२।५।१५).

सभी देवता अपनी अर्च्यावतारूप इष्टभगवन्मूर्तिओंके अंगप्रत्यंगरूप होते हैं; और, जिस अपने इष्टदेवकी ब्रह्मबुद्ध्या उपासना की जाये तो तदितर सारे देव उस इष्टदेवके अंगभावको प्राप्त कर लेते हैं. अतएव जिस देवकी मूर्तिकी अर्चनार्थ प्रतिष्ठा करनी हो उस देवकी मूर्तिके अंग-प्रत्यंगमें न केवल इतर देवोंको अपितु

सृष्टिघटक सभी तत्त्वोंको भी प्रतिष्ठापित कर दिया जाता है :

> ''अस्य प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य ब्रह्मविष्णुरुद्राः ऋषयः, ऋग्यजुःसामानि छन्दांसि, क्रियामयवपुः प्राणाख्या देवता... ततः ऋष्यादीन् क्रमेण शिरोमुखहृदयगुह्यपादेषु विन्यस्य... पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मने शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मने... मनोबुद्ध्यहंकारचित्तात्मने... एवम् आत्मनि देवे च कृत्वा देवं स्पृष्ट्वा जपेत्... कर्णे गायत्रीं देवमन्त्रं पुरुषसूक्तेन उपस्थाप्य पादनाभिशिरस्सु स्पृष्ट्वा 'इहैवैधि' इति त्रिर्जपेत्.''
>
> (निर्ण.सिन्धु.३।प्रतिष्ठा.वि.).

यह ''**'इन्द्रादयो बाहवः आहुः उस्राः...' आधिदैविकाः ते देवाः... तद्रूपाएव इन्द्रादयो कर्मफलदातारो भारवहनसमर्थाः उस्राः उच्यन्ते**'' (भाग.सुबो.२।१।२९) यहां, महाप्रभुकी सुबोधिनी व्याख्याके अनुसार देखा जा सकता है कि कैसे निघन्टु-निरुक्तमें देवताओंके बारेमें कही गयी बात ही भागवतमें भी दोहरायी जा रही है. अतएव श्रीकृष्णकी अनन्यप्रपत्ति-अनन्यासक्तिके लिये प्रतिबद्ध होनेपर भी महाप्रभु सुस्पष्ट शब्दोंमें ''**अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्तकौ ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतया उदितौ... समर्पणेन आत्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम् अतदीयतया चापि केवलश्चेत् समाश्रितः तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्या किञ्चित् समाचरेत्**'',''**प्रकीर्णकानां फलं वक्तुं नानादेवोपासकानां फलम् आह 'तत्तद्देवोपासकानाम् आजन्मोपासने फलम् तत्तत्सायुज्यरूपादि वेदोक्तानाम् अनेकधा पौराणिकानां च तथा...' वेदोक्तानाम् अग्न्यादीनां देवोपासनाबुद्ध्या अग्निहोत्रादिकरणे भेद(ब्रह्मेतर)बुद्धेः विद्यमानत्वात् तत्तद्देवतासायुज्यम्. 'पौराणिकाः' दुर्गागणपतिप्रभृतयः**'' (बा.बो.११-१९, त.दी.नि.प्र.२।२६६). अर्थात्

श्रुत्यादिविहित कर्मोंका अनुष्ठान जैसे देवताराधननिष्ठासे शक्य है वैसे ही ब्रह्मनिष्ठासे भी शक्य है **''पञ्चात्मकं द्विरूपं च साधनैः बहुभेदतः स्वानन्ददायकं कृष्णं ब्रह्मरूपं परं स्तुमः. अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुः तथा चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः. तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत्''** (त.दी.नि.२।१-३). यह ब्रह्मनिष्ठासे कर्मानुष्ठानमें ब्रह्माराधनका स्वरूप है. यहां इस प्रतिपादनमें देखा जा सकता है कि श्रीकृष्णमें अनन्यासक्तिका भावनात्मक नहीं प्रत्युत सैद्धान्तिक आग्रह रखनेवाले महाप्रभु ब्रह्मभिन्नतया उपास्य तत्तद् देवताओंकी आराधनाको भी सायुज्यमुक्तिप्रदायिका तो मानते ही हैं. न केवल इतना अपितु भक्तिमार्गीय माने जाते महाप्रभु केवल भक्तिको ही नहीं प्रत्युत स्वतन्त्र कर्मको भी ब्राह्मिक अनुष्ठान ही मान रहे हैं.

४)सर्वदृष्टिसंग्राहिका दृष्टिसे प्रमेयमीमांसा करनी हो तो महाप्रभुके दो-तीन विधान मननीय लगते हैं :

> [१]**''यथा मतयो दर्शनज्ञानानि भगवतैव प्रवर्तितानि स्वयुक्त्या तमेव अन्यथा मन्यन्ते : ईश्वरएव नास्ति इति केचिद्, अन्ये यज्ञादयएव ईश्वरः इति अपरे, कर्ता केवलम् इति अन्ये, जीवविशेषएव इति केचित्. सर्वेषाम् एतेषां मूलप्रमाणाज्ञानात् स्वोत्प्रेक्षया तथात्वम्'-'.[२]'' 'सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद्' वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्यता निरूपिता, सर्वभवनसामर्थ्येन विरुद्धर्माश्रयत्वात्. नैवंवादिनां वाक्यानि तत्तदंशवाक्यपराणि भवितुम् अर्हन्ति, तेषां तथा हृदयाभावात्. अतः सर्वे वादाः स्वभ्रान्तिकल्पित-**

त्वेन वस्तुस्पर्शाभावाद् अनवसरपराहताएव. अस्तु वादिनां हृदयं यथा-तथा वाक्यानां सरस्वतीरूपत्वात् कथं न एकवाक्यता? इति आशंक्य आह 'नानावादानुरोधि तद्' इति, एकैको वादः ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति''.

[३]''' 'यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः' कार्यादिभावो कश्चिद् अन्यः इति आशंक्य ब्रह्मस्वरूपम् आह 'यत्र येन' इति. सर्वविभक्तीनां प्रकारस्य च भगवानेव अर्थः प्रकृतिः पुरुषः कालश्च सएव''.

([१]भाग.सुबो.१।१२।३९ [२]त.दी.नि.प्र.१।७०
[३]त.दी.नि.प्र.१।६९)

इस विषयका और अधिक खुलासा जो महाप्रभुने नामरूपात्मिका सृष्टिका तुलनात्मक विवेचन करते हुवे किया है उसके अवलोकनसे स्फुट हो पायेगा. रूपसृष्टिकी अपेक्षया नामसृष्टिका वैलक्षण्य ज्ञातव्य है : रूपसृष्टि स्थूल विकृत जड़ सान्त होती है, जबकि नामसृष्टि अविकृत सूक्ष्म बोधरूपा अनन्त होती है. भगवान्, अतएव, सिद्धान्त सिद्धान्ताभास और पाषण्डरूप नानावादोंके अनुसार निरूपित हो पाते हैं. क्योंकि भगवान्में वाच्य होनेकी शक्ति और वाचिका शक्ति दोनों रहती होनेसे जिस वक्ताको जैसे निरूपण करना हो वैसा अर्थ उसके प्रति अवभासित होने लगता है (द्रष्ट.भाग.सुबो.१०।१३।४३). यह ऐसा प्रमेयका स्वरूप सर्वसंग्राहिका दृष्टिके आधारपर निरूपित हुवा है.

(साधनदृष्टि)

वाल्लभ वेदान्तकी साधनदृष्टिको बोधगम्य बनाना हो तो सर्वप्रथम वेदकी कुछ ऋचाओंको ध्यानमें रखना अतीव आवश्यक है :

[१]''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् उत अमृतत्वस्य ईशानो यद् अन्नेन अतिरोहति, एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः. पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि त्रिपाद् ऊर्ध्वम् उदैत् पादो अस्य इह अभवत् पुनः.''

[२]''चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुः ब्राह्मणाः ये मनीषिणः गुहा त्रीणि निहिताः नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति.''

[३]''अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि अहम् आदित्यैः उत विश्वदेवैः अहं मित्रावरुणोभा आबिभर्मि अहम् इन्द्राग्नी अहम् अश्विनोभा... अहमेव वातइव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा परो दिवा पर एना पृथिव्या एतावती महिना सम्बभूव.''

[४]''सहस्रधा पञ्चदशानि उक्था यावद् द्यावापृथिवी तावद् इत् सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्.''

([१]ऋक्संहि.१०।९०।२-४ [२]१०।१६४।४५
[३]१०।१२५।१-८ [४]१०।११४।८)

इन ऋचाओंके अवलोकन करनेपर यह प्रकट होता है कि बृहत् और बृहती सर्वथा एकदूजेके अनुरूप हैं. महाकवि कालीदासके

शब्दोंमें कहना हो तो **''वागर्थाविव सम्पृक्तौ... जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ''** (रघुवं.१।१) बिलकुल स्फुट हो जाता है. साथ ही साथ यह भी निरूपित हुवा है कि एक चतुर्थांश ही दोनों व्यवहार्य हैं और तीन चतुर्थांश बृहती और बृहत् दोनों ही अव्यवहार्य रहते हैं. परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी रूपा चतुर्विधा वाणीके अन्तर्गत वाणीके एक चतुर्थांश वैखरीद्वारा ही भूर्भुवःस्वः लोकोंका और इनके रुद्र-वसु-आदित्य देवोंका भी प्रकाशन इनकी सहचारिणी वैखरीद्वारा होता है. परन्तु वाणी अपने वैखरी अंशके अलावा अन्य तीन गुहाहित महामहिम चरणोंद्वारा ब्रह्मके भी अप्रकट अमृत तीन अंशोंके साथ सहचरण या सहव्याप्त तो रहती ही है. अतएव वाक् और वागर्थ उभयवाचकतया 'ब्रह्म'पद प्रयुक्त होता है **''कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्''** (भग.गीता.३।१५). इस इतरेतरानुरूपताको ही लक्ष्यमें रख कर पूर्वोद्धृत महाप्रभुके **''शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः प्रकाशनं न भवति. शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते. स्वप्रकाशत्वमपि तस्य वेदेनैव उक्तम्, 'अनुपलब्धे तत् प्रमाणम्' इति न्यायात्''** (भाग.सुबो.३।१२।४६) वचनका अभिप्राय जानना चाहिये.

अतः प्रमाण-प्रमेयव्यवस्थामें जैसे स्वयंप्रकाश ब्रह्मका शब्दप्रकाश्य होना लीलात्मक है वैसे ही साधन-फलव्यवस्थाके अन्तर्गत भी स्वतोलभ्य ब्रह्मका कर्म-ज्ञान-भक्त्यादि साधनोंसे लभ्य होना भी लीलात्मक आत्मविस्तार ही है. ब्रह्मके स्वीय गुणधर्मोंका स्वीय अंशोंमें साधनफलात्मना अनुगत होना भी स्वतोलभ्य होनेका एक लीलात्मक आत्मविभाजन है. आंशिक रूपोंमें अपने चिदंशात्मक जीवात्माओंके भीतर ब्रह्मके गुणधर्मोंकी अनुवृत्ति अंशी ब्रह्मको प्रकट करने या जान पाने या भज पाने के साधनात्मना प्रकट हो जाती है. अतएव भाष्यकारने एक उल्लेखनीय विधान इस

बारेमें यों किया है ''**'स वै नैव रेमे स द्वितीयम् ऐच्छत स ह एतावान् आस' इत्यादि श्रुतिभिः 'एष उ एव (साधु कर्म कारयति एष उ एव असाधु कर्म कारयति)' इति श्रुतेः च तानि-तानि साधनानि कारयित्वा तानि-तानि फलानि ददद् भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेण आविर्भूय क्रीडति इति वैदिकैः निर्णीयते**'' (ब्र.सू.अणुभा.१।१।११). अतएव जीवचेतनामें प्रकट होती भक्ति-मुक्ति-संसृति रूप तीनों लीला भगवान् अपनी त्रिविध पुष्टि विद्या या अविद्या शक्तिओंद्वारा करते हैं :

> [१]''**'पुष्टिः' नाम यया सर्वे पुष्टाः भवन्ति... 'विद्या' ज्ञानरूपा मोक्षदायिनी 'अविद्या' बन्धिका.**''
>
> [२]''**विद्याविद्ये (वैराग्यं साख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेत्', 'स्वरूपाज्ञानम् एकं हि पर्वं देहेन्द्रियासवः अन्तःकरणम् एषां हि चतुर्धाऽध्यासम् उच्यते पञ्चपर्वेति अविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिम्'' त.दी.नि.१।४५,३२-३३) हरेः शक्ती...**''
>
> ([१]भाग.सुबो.१०।३६।५५ [२]त.दी.नि.१।३१)

एतावता निजलीलामें अपने किसी चिदंशरूप जीवात्माको प्राप्त हो जाना या किसी चिदंशरूप जीवात्माको प्राप्त न होना भी यों दोनों ही तरहकी लीलाओंमें भगवान् अपनी द्विविध विद्या या अविद्या शक्तिओंके द्वारा सम्पन्न करते हैं. ये सर्वसमर्थ भगवान्की कर्तुं सामर्थ्य या अकर्तुं सामर्थ्य का अनुभावरूप होता है. इससे भिन्न, अर्थात् न तो संसृति और न मुक्ति; किन्तु, सदेहावस्था या विदेहावस्था में भी, भक्तिप्रदान करनेकी भगवान्की एक अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य भी 'पुष्टि'शक्तिके रूपमें बिरदायी गयी है : ''**कृष्णानुग्रहरूपा**

हि पुष्टिः काला(औत्सर्गिक-कर्म-स्वभावनियमा)दिबाधिका अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावाद् निरूपितो देवगुह्यत्वसिद्धयर्थं नामध्यानार्चनादिकं पुरस्कृत्य हरेः वीर्यं नामादिषु निरूप्यते'' (त.दी.नि.३।६।२-३).

अतएव ''गतेः अर्थवत्त्वम् उभयथा अन्यथा हि विरोधः'' (ब्र.सू.३।३।२९) के भाष्यमें इस विषयकी विवेचना शंकासमाधानपूर्वक मिलती है :

> ''ननु 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इति 'तम् एवं विद्वान् अमृत इह भवति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय' इत्यादिश्रुतिभिः उक्तरूपब्रह्मज्ञाने सत्येव मोक्षः इति उच्यते 'यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः' इति श्रुत्या आत्मीयत्वेन अंगीकारात्मकवरणस्य भक्तिमार्गीयत्वात् तस्मिन् सति भक्तिमार्गे प्रवेशाद् भक्त्यैव स इति(अपि) उच्यते... तथाच क्वचिद् ज्ञानं मुक्तिसाधनत्वेन उच्यते क्वचिद् भक्तिः... इति एकतरसाधनानिश्चयाद् मुक्तिसाधने मुमुक्षोः प्रवृत्त्यसम्भवः इति प्राप्ते आह 'गतेः अर्थवत्त्वम्' इत्यादि. 'गतेः' ज्ञानस्य अर्थवत्त्वं फलजनकत्वम् उभयथा मर्यादापुष्टिभेदेन इति अर्थः. अत्र अयम् आशयः : 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषति(एष उ एव असाधु कर्म कारयति तं यम् अधोनिनीषति) इत्यादिश्रुतिभ्यो भगवान् सृष्टिपूर्वकालएव 'एतस्मै जीवाय एतत् कर्म कारयित्वा एतत् फलं दास्ये' इति विचारितवानिति तथैव भवति... एवं सति कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण

बोध्यते. ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिः मर्यादा, तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं 'पुष्टिः' उच्यते''.

(ब्र.सू.अणुभा.३।३।२९).

इस पुष्टिमार्गके अन्तर्गत साधनामें शरणागति समर्पण सेवा और भक्ति रूप चार उपाय प्रमुखतया अनुष्ठेय होते हैं. रामानुज वेदान्तकी तर्जमें कुछ कहना हो तो कहा जा सकता है कि उपायावलम्बनके रूपमें नहीं परन्तु उपेयावलम्बनके रूपमें ही. अर्थात् साधनानुष्ठानमें आहंकारिक निष्ठाके साथ नहीं और न मामकारिक किसी भी लौकिक या पारलौकिक फलकामनाके वश ही. पुष्टिभक्तिसम्प्रदायकी परिभाषाके अनुसार इन्हें धर्माश्रयणके रूपमें नहीं प्रत्युत धर्म्याश्रयणके रूपमें ही अपनाना चाहिये. दैन्य धर्मीके प्रति आश्रयभावका अनुभाव माना गया है ''**नहि साधनसम्पत्त्या हरिः तुष्यति कस्यचिद् भक्तानां दैन्यमेव एकं हरितोषणसाधनम्**'' (भाग.सुबो.१०।२९।१-२) वचनमें धर्मिरूप भगवान्के आश्रयभावके अनुभावतया प्रकट दैन्यको भगवान्की पुष्टिशक्तिके अवान्तरव्यापारतया भगवत्तोषका साधन माना गया है. साधनाभिमानवश निभाये जाते दैन्य और भगवदाश्रयनिष्ठावश निभाये जाते दैन्य के बीच अन्तर यही होता है कि बहुधा साधनाभिमानी जीवके स्वभाववश दैन्यका मनोभाव भी अहंकारके रूपमें अन्तमें पनप जाता है ''वह भक्ति तो कर रहा है पर मेरी तरह दैन्यभाव रखे बिना!''

ऐसे आहंकारिक साधनाभिमानवश की जाती भगवच्छरणागति आत्मसमर्पण भगवत्सेवा या भगवद्भक्ति की स्थितिमें या तो हमारे भीतर भगवान्की अविद्याशक्ति या विद्याशक्ति ही प्रकट झलक सकती है पुष्टिशक्ति नहीं. इस विषयमें मैंने कुछ कारिका रची

हैं जिन्हें उद्धृत करना चाहूंगा विषयसंक्षेपणार्थ :

स्वीयांशार्था पुष्टिशक्तिः तद्भक्तिः स्वांशिकर्मिका, आत्मारामरतेर्लीला पुष्टिभक्तिस्वरूपिणी॥

साधनं भगवत्प्राप्तौ पुष्टिस्तु तदनुग्रहो, ज्ञानेच्छायत्नवज्जीवे मार्गरुच्यानुमानितः॥

ज्ञानात्मना व्यापृतौ सः प्रपन्नं परिभावयेद्, हरिः सर्वाश्रयो यस्माद् ममाप्याश्रयएव सः॥

एवं सिद्धस्य ज्ञानाद्धि सिद्धसाधनता मता, ज्ञा ना नु रू पि - णी च्छात्मार्पणेऽपि व्यापृतो यदा॥

तदैवात्मार्पणं ज्ञेयं तदवान्तरव्यापृतिः, सर्वं तस्मिन्नर्पितं हि नेमौ चाराइव श्रुतेः॥

स्वतःसिद्धेच्छानुकूल्यं ज्ञायते स्वार्पणे तदा, आत्मनार्पितभक्तस्य भगवत्संगवाञ्छना॥

तत्सेवायै प्रेरणातो भक्तावुत्कलिता भवेत्, पुष्ट्यवान्तरव्यापाररूपा भक्तिः तदुच्यते॥

साधनाहंकृतेरेवं पुष्टिभक्त्युद्भवो नहि, नि रु पा धि क पु ष्ट- चैवं निरुपाधिकभक्तिता॥

यह सारा विषय महाप्रभुने अपने निजमार्गानुगामिओंके वास्ते उपदेशविधासे रचित षोडशग्रन्थोंमें और तत्त्वार्थदीपनिबन्धके साधनप्रकरणमें सुविशद समझाया है. वाल्लभ वेदान्तके बारेमें एक बहुप्रचारित धारणा यह भी पायी जाती है कि यह केवल भक्तिमार्गप्रवर्तक दर्शन है. इसे भक्तिसाधनाकी प्रमुखताके अभिप्रायवश लिया जाये तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं. परन्तु शास्त्रोक्त अन्यान्य साधनाओंको अमान्य करनेके अर्थमें लिया जाता हो तो निश्चित ही वाल्लभ

वेदान्तका वह अन्यथापलापन है. क्योंकि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य सुस्पष्ट शब्दोंमें :

> **''निष्ठाभावे फलं तस्माद् नास्त्येवेति विनिश्चयः।**
> **निष्ठा च साधनैरेव न मनोरथवार्तया।।**
> **स्वाधिकारानुसारेण मार्गः त्रेधा फलाय हि।**
> **अधुना हि अधिकारास्तु सर्वएव गताः कलौ।**
> **कृष्णश्चेत् सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय हि।।''**
>
> (त.दी.नि.१।१८-१९).

यहां विवेच्य यही है कि आपाततः इस विधानके अवलोकन करनेपर ऐसा लगता है कि कलियुगके दुष्प्रभाववश शास्त्रप्रतिपादित कर्म-ज्ञान-उपासना-तपो-वैराग्यादि मार्ग प्रभावहीन हो गये हैं. अतः अनुकल्पतया भक्तिमार्ग अवशिष्ट रह गया है. वस्तुतः परन्तु ऐसा नहीं है. क्योंकि महाप्रभुके अनुसार **''कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः उदासीनतया उद्भेदाद् नहि सर्वात्मना फलम्. भक्तौ अत्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः आत्मानं च ततो दद्यात्''** (त.दी.नि.२।३१२-३१३) यों भक्तियोगका यह महत्त्व मूलतः जीवात्माके वास्ते भक्तिसाधनाकी सुलभताके कारण नहीं परन्तु ब्राह्मिक स्वरूपके याथार्थ्यपर अवलम्बित माना गया है :

> [१]**''अयञ्च विभागो 'बहु स्यां प्रजायेय' इति इच्छया. इच्छापि सर्वभवनसमर्थस्वरूपमेव धर्मरूपेण, आनन्दस्य जगत्कारणभूता (आनन्दरूपस्य तस्य आनन्दात्मिका कृतिः लीलेति). एतत्त्रितयरूपा शक्तिः सच्चिदानन्दरूपस्य भावत्वतलादिवाच्या... अतएव**

सद्रूपस्य कार्ये प्रत्येकपर्यवसायित्वम्. 'प्रजायेय' इति इच्छया उत्कर्षापकर्षरूपेण जातः. तत्र आनन्दः उत्कृष्टः. तदा इतरौ (चित्सदंशौ) तं सेवमानौ जातौ. ततश्च तयोः धर्मौ ज्ञानक्रिये भगवच्छक्तिरूपे जाते. तदा आनन्दो ज्ञानक्रियाशक्तिमान् जातः... पश्चाद् मूलभूतक्रियांशाभिः यथायथम् अभिव्यज्यते''.

[२]''अतः स्नेहः पदार्थान्तरं स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धाद् अन्यत्रापि भासते''.

[३]''प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः. भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यः तं खण्डशं दत्तवान् सुखार्थम्. अतः यत्रैव प्रीयते तत्सुखं भवति.''

([१]भाग.सुबो.२।९।१, [२]१।१९।१६, [३]२।२।७).

यहां देखा जा सकता है कि सच्चिदानन्द ब्रह्मका सदंशमूलक कर्म जीवात्माके भीतर व्यापारित होनेपर कर्मयोग बन जाता है, चिदंशके उसके भीतर व्यापारित होनेपर ज्ञानयोग तथा आनन्दांशके व्यापारित होनेपर भक्तियोग बन जाता है. जैसे 'जायस्व-म्रीयस्व'के चक्रवाला संसृतिमार्ग, महाप्रभुके शब्दोंमें 'प्रवाहमार्ग', भगवान्की मनसा अनुज्ञप्त अविद्याशक्तिके कारण शक्य बनता है. मुक्तिमार्ग, मर्यादामार्ग तो वचसा आज्ञप्त होता है, वह विद्याशक्तिके कारण शक्य बनता है. तथा निर्गुणभक्तिमार्ग, जिसे 'पुष्टिमार्ग' भी कहा गया, स्वरूपात्मिका पुष्टिशक्तिके कारण शक्य बनता है. यह निरूपण महाप्रभुरचित 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थमें सुविशदतया किया गया है.

इस मुद्देका मेरे द्वारा लिखी एक कारिकाके उद्धरणद्वारा

उपसंहरण करना चाहूंगा :

सदंशशक्तिः खलु कर्मरूपा चिदंशशक्तिस्त्विह ज्ञानशक्तिः।
भक्तिर्यदानन्दमयी हि शक्तिः तं सच्चिदानन्दमहं वृणोमि॥

(फलदृष्टि)

वैसे तो वयोऽवस्था तथा मानसिक बीजभाव के अनुरूप कुछ हमें उपादेय फलरूप लगता है तो कुछ उपेक्ष्य या हेय निष्फल ही. फिरभी दुःखाभाव या आत्यन्तिक सुख अथवा प्रेयस् और श्रेयस् के रूपमें द्विधा वर्गीकृत फलोंके अथवा धर्म अर्थ काम मोक्ष या भक्ति के रूपोंमें चतुर्विध या पञ्चविध पुरुषार्थोंके दृष्टिकोणसे फलमीमांसा करनेसे पहले यह जान लेना उचित होगा कि 'फल'पदका प्रयोग अभीष्ट या नियति दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होता मिलता है. अतएव अपवादरूप उदाहरणोंको छोड़ कर देखें तो **"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः"** (भग.गीता.२।२७) न्यायेन मृत्यु तो एक ध्रुवा नियति होनेपर भी प्रायः अभीष्ट नहीं होती. जीवन तो प्रायः अभीष्ट होनेपर भी शोक-मोहग्रस्त रहनेपर नियतितया स्वीकार्य नहीं हो पाता.

बृहदारण्यकोपनिषद्, किन्तु, इस समस्याको एक विलक्षण परिप्रेक्ष्यमें देखनेको प्रेरित करता है :

"सो अबिभेत् तस्माद् एकाकी बिभेति. स ह अयम् ईक्षाञ्चक्रे यद् मदन्यद् नास्ति कस्मान्नु बिभेमि ? इति ततएव अस्य भयं वीयाय. कस्माद्धि अभेष्यद् द्वितीयाद् वै भयं भवति.

स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स

द्वितीयम् ऐच्छत् स ह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुंमासौ
सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधा आपातयत्.''
(बृह.उप.१।४।२-३).

इस निर्भय रमणके प्रतिपादक वचनका सावधानीसे अवलोकन करनेपर दु:खाभावरूप भीतिनिवारण और आत्यन्तिक सुखरूप रमण. ये दोनों प्राणिमात्रसाधारण द्विविध फल सिद्ध होते हैं. अन्य सभी पुरुषार्थ इन्हीं दोके निर्वाहार्थ पुरुषार्थतया उपादेय बन पाते हैं.

यह कथा भिन्न है कि ये भीति और रति सबके लिये किसी एकसे या एकके साथ एकही तरहकी न हो कर अगणित प्रकारकी हो सकती हैं. क्योंकि इन्हें सृष्टिप्रादुर्भावकी प्रक्रियाके अंगतया प्रतिपादित किया गया है अत: इन्हें यूनानी दार्शनिक अरस्तुके द्वारा प्रस्तावित चतुर्थ कारणकोटितया अर्थात् सृष्टिके प्रयोजनतया स्वीकारनेपर सुबोध बन जाता है. इसे सृष्टिकी लीलारूपताका निरासक नहीं प्रत्युत उपोद्बलकतया ही लेना चाहिये.

यह सर्वोद्वेजक परतो भीति और आपतत: प्रतीत होती स्वतो अरति या असन्तुष्टि के निवारक, कभी हम अपनी क्षमतासे आश्वस्त होनेपर स्वयं भी हो सकते हैं. आत्माश्वस्त न होनेपर परतो भी निवारणापेक्षी बन जाते हैं. एतदर्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अपने बालबोधके उपदेशमें :

''नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धान्तसंग्रहं बालप्रबो-
धनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम्. धर्मार्थकाममोक्षाख्या:
चत्वारोऽर्था: मनीषिणां जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते

हि विचारिता:. अलौकिकास्तु वेदोक्ता: साध्यसाधन-संयुता: लौकिका ऋषिभि: प्रोक्ता: तथैव ईश्वरशिक्षया. लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदाद् आद्या: यत: स्थिता धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् त्रिवर्गसाधकानीति न तद् निर्णय: उच्यते. मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परत: स्वत: द्विधा द्वे द्वे स्वत: तत्र सांख्ययागौ प्रकीर्तितौ... पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते''.

(बा.बो.१-१०).

यह स्वतोमोक्ष और परतोमोक्ष के वर्गोंका विभाजन वेदोक्त मोक्षप्राप्तिकी प्रक्रियामें भी आत्यन्तिकाद्वैतवाद या आत्यन्तिकद्वैतवादी दृष्टिकोणोंके वश तो सोचा जा सकता है. परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको अभिप्रेत भेदसहिष्णु-अभेदरूप तादात्म्यवादके दृष्टिकोणसे वैदिक मोक्षके प्रकारपर लागू नहीं हो पाता है. क्योंकि मुक्तिलभ्या ब्राह्मी अवस्था अथवा अब्राह्मिक होनेकी भ्रान्तिरूपा अवस्था दोनों ही अवस्थाओंमें जड़-जीव-ब्रह्मका तादात्म्य तो कभी खण्डित नहीं होता. अत: स्व-परके बीच न तो आत्यन्तिक अद्वैत होता है और न आत्यन्तिक द्वैत ही ''**तस्मात् प्रियतम: स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनां तदर्थमेव सकलं जगद् एतत् चराचरं, कृष्णम् एनम् अवेहि त्वम् आत्मानम् अखिलात्मनां जगद्हिताय सोऽपि अत्र देहीव आभाति मायया. वस्तुतो जानताम् अत्र कृष्णं स्थाणु चरिष्णु च भगवद्रूपम् अपरं न अन्यद् वस्तु इह किञ्चन, सर्वेषामेव भावानां भावार्थो भवति स्थित: तस्यापि भगवान् कृष्ण: किम् अतद् वस्तु रूप्यताम्**'' (भाग.पुरा.१०।१४।५४-५७) इन कारिकाओंकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं ''**अस्यैव स्नेह: सहजो धर्म:. एतद्विषयक: तदंश: पश्चाद् अन्यत्र गच्छति तदंशेषु. सर्वपदार्थानाम् अबाधितो अर्थ:**

भवति कारणे स्थितः, कारणातिरिक्तं कार्यं नास्ति'' (भाग.सुबो.१०।४।५४-५७). यह कथा और ही है कि जीवात्माकी अनुभूतिमें यह कभी प्रतीत हो पाता है तो कभी अप्रतीत ही रह जाता है. इसमें दोनों तरहके तथ्य वस्तुदृष्ट्या Objectively भी और अनुभूतिदृष्ट्या Subjectively भी नियामक माने गये हैं. वस्तुदृष्ट्या अंशी ब्रह्ममें आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्ति काम करती मानी जाती हैं ''**आविर्भावतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याद् अदृश्यं स्वेच्छया तु तत्**'' (त.दी.नि.१।७२). तो अनुभूतिदृष्ट्या अंशरूप जीवात्माओंमें ब्रह्मकी विद्याशक्तिकी तरह आविद्यकी व्यामोहिका मायाशक्ति भी काम करती मानी गयी है.

यह प्रतिपादन तर्कलाघवके विचारसे अनावश्यक लग सकता है. परन्तु वस्तुकी गुणधर्मक्रियाओंका प्राकट्य वस्तुकी अपेक्षासे प्रकट होनेपर भी द्रष्टाकी अपेक्षासे बहुधा अनुभूतिगोचर नहीं हो पाता. इसी तरह द्रष्टाके भीतर किसी भी तरहका व्यवधान न होनेपर भी स्वयं वस्तु अपने गुणधर्मक्रियाओंका संगोपन करती हो तब भी अनुभूति घटित हो नहीं पाती. अतः तर्कलाघव या कल्पनागौरव की आपत्ति अप्रसक्त हो जाती है.

अतः वेदादि शास्त्रोक्त ब्रह्मविषयक कर्म-ज्ञान-उपासना-भक्ति रूप हर उपाय जीवात्मानुष्ठेय होनेके रूपमें स्वतःउपाय भी परमात्मप्रसादतः परतःउपायका अंशात्मक अवान्तरव्यापार सिद्ध होता है. और हर परतःउपायका कुछ न अनुभाव तो जीवात्माके भीतर प्रकट होता ही है. परन्तु जो उपाय साक्षाद् ब्रह्मविषयक न हो अर्थात् ब्रह्मके किसी विभूतिरूप देवपर अथवा ब्रह्मके चिदंशरूप निजात्मापर अवलम्बित हों उनके आधारपर प्राथमिक विभाग मोक्षरूप पुरुषार्थका

स्वतोमोक्ष और परतोमोक्ष के रूपमें महाप्रभुने किया है. यहां यह जिज्ञास्य हो जाता है कि सर्वब्रह्मतादात्म्यवादमें ये देवता और चिदंशरूप जीवात्मा पर अवलम्बित साधनाओंको गौण क्यों बना दिया? महाप्रभुके अनुसार इसका समाधान अधोनिर्दिष्ट वचनमें मिलता है :

> **''द्वयमेव हि साध्यम् असंगः आत्मव्यतिरिक्ते भगवति रतिः च... किम् आत्मव्यतिरिक्तं किञ्चिद् अस्ति न वा? इति. अस्तित्वे भगवतः सर्वात्मत्वं भज्येत. नास्ति चेत् केन सह असंगः?... 'विश्वात्मन्' इति विश्वस्य आत्मा स्वरूपम्. यदैव आत्मत्वेन यदेव न स्फुरति तस्यैव परित्यागः. ननु वस्तुनः आत्मत्वे किं स्फुरणेन इति चेत्, न, यतो अयम् आत्मा उद्देश्यविधेयभावस्य उक्तत्वाद् उद्देश्यस्फुरणे त्यागः. बोधतारतम्यएव सर्वसाधनानाम् उपयोगात्. नच विश्वात्मत्वम् औपचारिकम्... अतः उद्देश्यत्वेन पुत्रादेः स्फुरणात् त्वच्छक्त्या स्नेहः उत्पादितः. विधेयदशायां शास्त्रेण स्नेहः क्रियते, तद् विरुद्धशास्त्रैः नाश्यते. मायाकृतस्तु स्नेहो न भगवद्व्यतिरेकेण अन्यस्माद् अपगच्छति.''**
>
> (भाग.सुबो.१।८।४०).

इनमें सांख्यशास्त्रीय आत्मानात्मविवेकका अवलम्बन कर बाह्य त्यागद्वारा जीवात्मा अहन्ता-ममताके शमनद्वारा स्वरूपस्थ हो कर आत्मसुखमें निर्भयरमण कर सकता है. इसी तरह बाह्य त्यागके बिना भी बाह्य विषयोंसे अपने चित्तको, विषयविमुखीकरणार्थ यम-नियम आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार और आत्माभिमुखीकरणार्थ ध्यान-धारणा-

समाधिके द्वारा, आत्मकेन्द्रित कर आत्मसुखमें स्वरूपस्थ हो सकता है. साथ ही साथ महाप्रभु यह भी स्पष्टीकरण देते हैं कि अनेकविध योगोंके अन्तर्गत कौनसे योगका क्या फल होता है **''अहन्ता-ममता-नाशे सर्वथा निरहंकृतौ स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते'', ''योगो हि बहुविधो भगवत्साक्षात्कारे य उपयुज्यते स आधिदैविकः, आत्मसाक्षात्कारे आध्यात्मिकः. आधिभौतिकः त्रिविधो अणिमादिसाधकः शरीरसाधकः प्राणसाधकः च. आद्यस्तु शास्त्रान्तरांगं द्वितीयो अत्र (कपिलदेवहुतिसंवादे) मुख्यः''** (बालबो.७, भाग.सुबो.३।२५।१३). हम देख सकते हैं कि भक्तिकी श्रेष्ठताके प्रबल समर्थक होनेपर भी वाल्लभ वेदान्त स्वतोमोक्षके इन दोनों उपायोंकी उपयोगिताको अस्वीकार नहीं करता. इन्हें पञ्चपर्वा विद्याके अन्तर्गत भी मान्य रखा है इतना ही नहीं प्रत्युत **''एवं 'सर्वं ततः'-'सर्वं स' इति ज्ञानयोगतः यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिः उत्तमः प्रेमाभावे मध्यमः स्याद् ज्ञानाभावे तथा, आदिमः उभयोरपि अभावे तु पापनाशः ततो भवेत्. तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति योगयोगे तथा प्रेम, स्तुतिमात्रं ततो अन्यथा''** (त.दी.नि.१।१०१-१०३) भक्तिमार्गीय साधनामें योगकी आनुषंगिकता भी स्वीकारी है.

निष्काम कर्मको भी सांख्यविद्या और योगविद्या के स्वतोमोक्षके प्रकारभेदकी तरह महाप्रभुने आत्मसुखरूप स्वर्गफलका प्रदायक स्वीकारा है **''भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्मकर्तुरेव... ब्रह्मज्ञानाभावे तु पञ्चात्मकात् (कर्मणः) स्वर्गसुखं भवति... सच स्वर्गो द्विविधः इति आह 'वाक्यशेषाद्' इति... सत्त्वाकारान्तःकरणे यद् आत्मसुखं प्रकटीभवति तद् अग्निहोत्रादिसाध्यम्. सर्वदेवानाम् अधिकृतानां तुष्टौ आध्यात्मिकत्वे यागस्य जाते आत्मानन्दः प्रकटो भवति. एतदभावेतु भौतिकत्वे स्वर्गलोको भवति इति अर्थः''** (त.दी.नि.प्र.२।४-५)

जहां-तक परतोमोक्षका प्रश्न उठता है महाप्रभुका यह विधान

''**पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि विचारितः... अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्तकौ ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतया उदितौ. निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता**'' (बा.बो.१०-१३) अतएव भागवतकारिका ''**त्वामेव अन्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्**'' (भाग.पुरा.१०।३७।८) की सुबोधिनीमें महाप्रभुने यह विवेचना की है ''**यदा वैराग्यगुणप्राधान्येन कार्यं करोषि तदा शिवरूपो भवसीति सम्यगेव उपासते इति**'' (भाग.सुबो.१०।३७।८) विधान हमें मिलता है.

यह फलमीमांसा वस्तुमात्रके ब्रह्मात्मक होनेके बावजूद साक्षाद् ब्रह्मके बजाय ब्रह्मके विभूतिरूपों अथवा अंशरूपों के बारेमें कभी ब्रह्मबुद्ध्या तो कभी भेदबुद्ध्या भी उपासना करनेवालोंकी फलानुभूतिका चित्रण हुवा. महाप्रभु यहां शंका-समाधान यह भी करते हैं ''**ननु एवं भ्रमं भगवान् उत्पाद्य किमिति एवं फलं प्रयच्छति? कथं सर्वानेव न एकविधान् करोति? इति आशंक्य आह 'प्रभो! इति. सहि सर्वप्रकारसमर्थः तथापि च करोत्येव च नानाप्रकारान्**'' (भाग.सुबो.१०।३७।९). ये सारे फल प्रदानके प्रकारोंमें भगवान्का प्रमाणबल अथवा साधनबल प्रकट होता है. वेदादि शास्त्रोक्त साधनाओंके बारेमें महाप्रभुका कहना है कि—

> ''**'साधनं च फलं चैव हरिः वेदे निरूप्यते तदभिव्यक्तितः सर्वं पुरुषार्थस्वरूपतः' साधनं च फलं चैव' इति उभयात्मको हरिः वेदे निरूप्यते... यतो भगवान् पुरुषार्थस्वरूपः... 'रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः'इति 'रूप'इति विचित्रो रूपप्रपञ्चः जीवाश्च अंशाः, अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव.**

अतः तद् निवारणार्थं श्रुतिं चकार... ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते? तत्र आह 'आत्मप्रसादाय' इति, अन्तःकरणप्रसादाय जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ भागभोजनार्थं तदनुभोगेन मालिन्यं चित्ते जातं न अन्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्. अतो बहिःस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम्.''

(त.दी.नि.प्र.२।१८).

अतः जैसा कि हम दिखा चुके हैं कि श्रौत मतीय सारे साधनोंमें यथोदित अनुष्ठान हो तो ब्रह्मका प्रमेयस्वरूपबल या फलरूपबल ही काम करता है, सर्वत्र तादात्म्यके अतिरोहित रहनेके कारण. अतः श्रुत्यादि शास्त्रोक्त कर्मोंके अनुष्ठानमें ब्रह्मकी क्रियाशक्ति ही प्रकट होती है. श्रुत्यादि शास्त्रोक्त स्वयंप्रकाश ब्रह्मके स्वरूपावगममें ब्रह्मकी ज्ञानशक्ति प्रकट होती है. अनवतारकालमें श्रुत्यादि शास्त्रोक्त ब्रह्मके माहात्म्यज्ञानपूर्वक भगवत्स्नेहमें आत्मरमणशील ब्रह्मकी आत्मरति ही भक्त्यात्मना प्रकट होती है. जहां भक्तिभाववश भगवत्प्राकट्य होता है वहां महाप्रभु मिश्रपुष्टि; अर्थात्, 'प्रवाहपुष्टि' 'मर्यादापुष्टि' या 'पुष्टिपुष्टि' नाम्ना अभिहित करते हैं. जहां, परन्तु, भगवान् स्वेच्छया सर्वजन-गोचर या तदेकजनगोचर होनेकी लीलार्थ प्रकट हो कर जीवात्माको अपनी ओर प्रमेयबलसे आकृष्ट कर लेते हैं तो उसे महाप्रभु 'शुद्धपुष्टि'नाम्ना अभिहित करते हैं **''मूलेच्छातो फलं लोके, वेदोक्तं वैदिकेऽपि च कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि न एकधा... प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः मर्यादया गुणज्ञाः ते शुद्धाः प्रेम्णा अतिदुर्लभाः... भगवानेव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्''** (पु.प्र.म.१०-१६). यहां विशेषतः अवगन्तव्य

यही है कि शुद्धपुष्टि भी जब अपना भक्तिरूप अनुभाव प्रकट करती हो तो वह आदर्श पुष्टिके रूपमें भक्तमनोरथसाधिका होती है अन्यथा भागवतसुबोधिनीमें महाप्रभुने यह खुलासा दिया है कि—

> **''यथा शास्त्रद्वयं भक्तिज्ञानप्रतिपादकं साधनं तथा भगवत्स्वरूपमपि. भगवान् हि मुक्तिदानार्थमेव अवतीर्णः सच्चिदानन्दरूपेण प्रकटः. अतो यः कश्चन येन-केनापि उपायेन भगवति सम्बन्धं प्राप्नोति सएव मुच्यते. ज्ञानभक्त्योस्तु आविर्भावार्थम् उपयोगः. आविर्भावः चेद् अन्यथा सिद्धः तदा न ज्ञानभक्त्योः उपयोगः. अत्रतु भगवान् स्वतएव आविर्भूतो मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन, ईश्वरेच्छायाः अनियम्यत्वात्. अतः आविर्भावः स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः अवतारदशायां तु न तयोः प्रयोजकत्वम्. वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न नदीकूपादीनाम् अनुपयोगः शंकनीयः.''**
>
> (भाग.सुबो.१०।२६।१३).

अतः भगवत्कृपाका अनुभाव जैसे भक्तिभाव होता है वैसे ही भक्तिके अनुभावतया अथवा भक्तिको अपने अनुभावतया प्रकट करनेवाली ब्रह्मतादात्म्यवादकी दार्शनिक भूमिपर प्रकट होनेवाली भगवत्-शरणागति भगवदर्थ आत्मात्मीयार्पण तथा भगवत्सेवा के द्वारा नियतितया कुछ फल भगवान् प्रदान करते भी हों तब भी पुष्टिभक्तको अभीष्ट फल तो निरन्तर भगवत्सेवा ही फलदृष्ट्या सुहाती है **''नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः''**

(भाग.पुरा.६।१७।२८) अतएव महाप्रभु भगवत्सेवाकी फलात्मकता चित्तका ऐसी तरह भगवत्प्रवण हो जाना कि बाह्यदृष्टिसे सेवा निभती हो या न निभती हो मनमें निरन्तर वही चलती रहे ऐसी भक्तिकी व्यसनदशावाले हमारे मनो-बुद्धि-अहंकार-चित्तके आधीन देहेन्द्रियप्राणोंकी अलौकिक सामर्थ्य ही पुष्टिफलात्मना बिरदायी गयी है **''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता चेतस्तत्प्रवणं सेवा''**, **''अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः... ततः प्रेम तथा आसक्तिः व्यसनं च यदा भवेत्''**,**''सेवायां (क्रियमाणायां) फलत्रयं अलौकिकं सामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु''** (सिद्धा.मु.१-२, भ.व.२-३, सेवा.फ.विव.१).

(उपसंहार)

इस आलेखके उपसंहारतया एक क्षमाभ्यर्थना यही है कि जितना विषयवस्तुके स्वभाववश कहना आवश्यक था वह सभी कुछ आकर ग्रन्थोंके वचनोंको उद्धृत किये बिना शक्य नहीं था और अनुवाद करने जानेपर अत्यधिक विस्तारका भय भी मुंह बाये खड़ा था. शरीरकी अस्वस्थताको देखते हुवे कथञ्चित् पूर्णतया लेखबद्ध कर देना भी आवश्यक था. अतः सभी मनीषिवृन्द मेरे द्वारा अपनायी गयी शैलीको उदारभावसे क्षम्य मानेंगे.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

साकारब्रह्मवादमूलो हि शुद्धादैतवादः

(मंगलाचरणम्)

साकारब्रह्मवादैकस्थापकं वेदपारगम् ॥
नौमि श्रीवल्लभं शुद्धाद्वैतवादस्य पोषकम् ॥१॥

साकारब्रह्मवादके स्थापक, वेदपारग एवं शुद्धाद्वैतवादके पोषक महाप्रभु श्रीवल्लभको मैं नमन करता हूं.

(पूर्वपक्षके रूपमें उपक्रम)

तत्त्वदृष्ट्या बोधदृष्ट्या द्विधा द्वैतं निरुच्यते ॥
द्वयोर्भाव द्विता त्वाद्या द्वितैव द्वैतमुच्यते ॥२॥
बोधदृष्ट्या द्विधा भातं द्वीतं द्वैतन्तु द्वीतता ॥
ब्रह्मणः साकृतित्वे तु द्वैतमुभयथाऽऽपतेत् ॥३॥
साकारब्रह्मवादेऽतः शुद्धाद्वैतं न सिध्यति ! ॥

तत्त्वदृष्टि एवं बोधदृष्टि से 'द्वैत'पदकी निरुक्ति दो तरह सोची जा सकती है. पहले तत्त्वदृष्टिसे कहें तो किन्हीं दो का होना 'द्विता' कहा जाता है और द्विता होना 'द्वैत' कहलाता है. बोधदृष्टिसे जिसकी प्रतीति द्विधा होती हो उसे द्वीत और द्वीत होना 'द्वैत' कहलाता है. ऐसी स्थितिमें ब्रह्मको साकार माने जानेपर दोनों ही तत्त्वदृष्टि एवं बोधदृष्टि से द्वैत ही सिद्ध होता हो तो साकारब्रह्मवाद स्वीकारनेपर

भी शुद्धाद्वैत सिद्ध नहीं हो पायेगा.

(ब्रह्मकी तत्त्वरूपताकी दृष्टिसे समाधान)

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:"[१] ॥४॥
"अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव: प्रसीदति"[२] ॥

असत् पदार्थका कभी भाव (अस्तित्व) नहीं होता, तथा सत् पदार्थका कभी अभाव नहीं होता है.
उसे 'है' इस प्रकार ही जानना चाहिये तभी उसकी तत्त्वताका प्रसाद उपलब्ध होता है.

एकाद्वितीयस्वाभाव्याद् द्वैतं नासीत् पुरा श्रुते:[३] ॥५॥
ब्रह्मलीलाविमर्शात्तु जजान द्वैतमैच्छिकम् ॥
प्रमाणेनाद्वितीयं तन्नैकधा भाति लीलया ॥६॥
लीलाजातद्वितीयानां जीवानां मायया नहि ॥
द्विधाऽद्वयप्रमाभातेऽद्वैतधीर्नहि बाध्यते ॥७॥

उपरोक्त शास्त्रवचनोंसे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म एकमेवाद्वितीय स्वभाववाला होनेसे वहां किसी भी प्रकारके द्वैतकी कोई संभावना नहीं है. फिरभी ब्रह्मकी लीलाके विमर्श करनेपर द्वैतको उसके सत्यसंकल्प या इच्छामात्र से प्रकट किया मानना आवश्यक है. क्योंकि ब्रह्म जिन प्रमाणोंके आधारपर अद्वितीय सिद्ध होता है उन्हीं प्रमाणोंद्वारा उसके लीलासंकल्पवश उसका अनेकभावापन्न होना भी निरूपित हुवा है. जीवात्मा जो उसकी अनेक होनेकी इच्छाके वश प्रकट हुयी

तो ऐसी जीवात्माओंके अज्ञान या अविद्या के कारण उसकी(ब्रह्म) अनेकताको इन्कारा नहीं जा सकता. क्योंकि जिस प्रमासे वह अद्वय सिद्ध हो रहा है उसी प्रमाद्वारा सिद्ध होती अनेकतासे उसकी एकता बाधित नहीं मानी जा सकती.

तच्चैकमद्वितीयं यच्छ्रुतिमानेन सिद्धचति॥
तेनैवानेकधा[४] भाने द्वैतमद्वैतवद् भवेत्॥८॥

जिस श्रुतिप्रमाणसे वह तत्त्व एकमेवाद्वितीय सिद्ध होता है उसी श्रुतिके प्रमाणसे अनेकधा भासित होते तत्त्वका द्वैत भी अद्वैतवत् ही होता है.

ब्रह्मैक्यं हि यदीदृक् चेत् कुतो द्वैतसहिष्णु नो॥
अनेकधर्मधर्म्यैक्ये धर्मिसाधकमानतः॥९॥
ब्रह्मण्यद्वयेऽभावरूपधर्माः न बाधकाः[५]॥
तादात्म्ये[६] धर्मधर्मिण्योः न धर्म्यैक्यक्षतिस्तथा॥१०॥
स्वरूपसम्बन्धाविशेषाद् उभयत्र समा गतिः॥

श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मका ऐक्य यदि ऐसा हो तो वह द्वैतसहिष्णु क्यों नहीं हो सकता. धर्मिसाधक प्रमाणके आधारपर ब्रह्मके ऐक्यमें जैसे अभावरूप अनेक धर्म ब्राह्मिक ऐक्यके बाधक नहीं होते वैसे ही तादात्म्यसम्बन्धसे अनेकधर्मोंके कारण उसकी एकाकिताको क्षति नहीं पहोंचती. क्योंकि अभावरूप अनेकधर्म अथवा तदात्मक अनेकधर्म दोनों ही पक्षोंकी उपपत्ति अन्ततः स्वरूपसम्बन्धके आधारपर सिद्ध हो पाती है.

इष्टसिद्धिकृता तत्र परिणामनिराकृतौ॥११॥
दर्शिताः युक्तयः तास्तु शुद्धाद्वैते न बाधिकाः॥
इष्टसिद्धचुक्तयुक्तीनां शुद्धाद्वैतेऽत्र योजनम्॥१२॥

परिणामवादके निरसनार्थ 'इष्टसिद्धि'ग्रन्थकर्ताने जो युक्तियां प्रस्तुत की हैं उन्हें शुद्धाद्वैतवादके अन्तर्गत जो अविकृतपरिणामवाद स्वीकारा गया है उसमें बाधक नहीं हो पाती हैं. अतः इष्टसिद्धिग्रन्थमें प्रयुक्त युक्तियोंका यहां शुद्धाद्वैतकी सिद्धि हेतु समायोजन कर लेना चाहिये.

(इष्टसिद्धिग्रन्थप्रयुक्त युक्तियोंका निरूपण)

"तदेव कारणं कार्यम् अव्यक्तं व्यक्ततां गतम्॥
कार्यकारणते न स्तां तर्योभेदेऽश्वमेषवत्॥१३॥
अव्यक्तमेव च व्यक्तं नान्यथा व्यक्तिसम्भवः॥
व्यङ्ग्येऽसति न तद्व्यक्तिर्न व्यक्तं व्यज्यते पुनः॥१४॥
नाव्यक्ताद् भिद्यते व्यक्तं व्यक्तेः पूर्वमसिद्धितः॥
अभिन्नस्यैव चेद् व्यक्तिः व्यक्तेरूर्ध्वं कुतो भिदा"[७] ?॥१५॥

जो कारण होता है वही कार्य बनता हो अर्थात् जो अव्यक्त है वही व्यक्त बन जाता हो तो कार्य-कारणके बीच भेद हो नहीं सकता जैसा कि अश्व एवं मेष के बीच होता है. अव्यक्त ही व्यक्त होता है, अन्यथा व्यक्त होना सम्भव नहीं है. व्यंग्यके न होने पर न तो उसकी व्यक्ति हो सकती और न व्यक्तकी पुनः अभिव्यक्ति होती है. अतः अव्यक्तसे व्यक्त भिन्न नहीं हो सकता. क्योंकि व्यक्त होनेसे पूर्व सिद्ध ही नहीं होता. यदि अव्यक्तसे अभिन्नकी

ही व्यक्ति होती हो तो अभिव्यक्ति होनेके बाद वह अव्यक्त भिन्न कैसे हो पायेगा ?

इत्येवमाद्यास्त्वत्यन्तभेदाभेदानिरासिका: ॥
तादात्म्याश्रयणाभावे भवेयुरात्मघातिका: ॥१६॥

इस तरहकी युक्ति अत्यन्त भेद एवम् अत्यन्त अभेद की ही निरासिका सिद्ध होती है अन्यथा तादात्म्यका अस्वीकार करनेपर तो ये आत्मघातिका ही सिद्ध होगी.

द्वैतं नञ्समासेतु भवत्यद्वैतवाचकम् ॥
षडर्थकनञो ऽनियता ह्यभावार्थकता पदे ॥१७॥
यथाऽमित्रो न मित्रं हि मित्राभावोऽपि नो तथा ॥
अद्वैतमपि न द्वैतं द्वैताभावोऽपि नो पुन: ॥१८॥

'द्वैत'पदको जब नञ्समास करके 'अद्वैत'पद सिद्ध करते हैं, तब 'नञ्'के छह अर्थोमें से किसी एक अर्थको नियत नहीं माना जा सकता जिसके कारण प्रकृतमें 'नञ्'का अभाव अर्थ लेना नियत नहीं रह जाता. जैसे 'अमित्र' पदका अर्थ न तो मित्र होता है और न मित्राभाव ही परन्तु मित्रसे भिन्न कोई पुरुष होता है. उसी प्रकार प्रकृतमें भी 'अद्वैत'का भी तात्पर्य न तो द्वैत और न द्वैतका अभाव ही लेना चाहिये परन्तु द्वैतसे भिन्न ही लेना उचित है.

द्वैतभिन्ने हि तादात्म्ये द्वैताद्वैतसहिष्णुता ॥

देशकालस्वरूपैस्तु ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नता ॥१९॥
नामरूपकर्मणान्तु देशादिपरिच्छिन्नता ॥
ब्रह्मैकं हि नामरूपकर्माणीह[९] बिभर्ति चेत् ॥२०॥

तादात्म्य द्वैतसे भिन्न होनेके कारण द्वैताद्वैतसहिष्णु है. देशत: कालत: एवं स्वरूपत: ब्रह्म अपरिच्छिन्न है. ऐसा अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही देशत: कालत: और स्वरूपत: परिच्छिन्न नाम-रूप-कर्मोंको धारण करता है.

सच्चिदानन्दात्मैक्यस्य व्याकृत्यानेकरूपता[१०] ॥
स्वात्मनि तिरोहितानां चात्माभिव्यक्ततात्मनि ॥२१॥

सच्चिदानन्दात्मक ऐक्यमें से ही अनेकरूपताका विस्तार हुवा है. नाम-रूप-कर्मोंकी यह अनेकरूपता अपने आपमें जो पहले तिरोहित है उन्हें स्वयंके द्वारा स्वयंमें ही अभिव्यक्त किया गया है.

(शुद्धाद्वैतवादको पुष्ट करनेवाले तदंगभूत नौ वाद)

साकारब्रह्मणो ह्यैक्यात् शुद्धाद्वैतमतप्रथा ॥
तत्त्वदृष्ट्या ब्रह्मशुद्धाद्वैतेऽङ्गनवकं मतम् ॥२२॥

तत्त्वदृष्टिसे शुद्धसाकार होनेपर भी सर्वथा एकाकी अपरिच्छिन्न होनेके कारण शुद्धाद्वैतमत प्रथित हुवा है. इस ऐसे शुद्धाद्वैत मतके अंगरूप नौ उपवाद हैं.

विरुद्धधर्माश्रयता[११]वादो ह्याद्य: प्रकीर्तित: ॥

निमित्तोपादानरूपं ब्रह्मैकं सृष्टिकारणम्[१२] ॥२३॥
अपरिच्छिन्नसत्त्वात्तत् सत्कारणमुदीरितम्[१३] ॥
सदुपादानकं यत् तत् सत्कार्यं[१४] वदति श्रुतिः ॥२४॥
सतोरभावाभावाच्च ह्याविर्भावतिरोहती[१५] ॥
आत्मनात्मपरिणतौ ब्रह्मणो न विकारिता[१६] ॥२५॥
सदंशकार्यकारणवत् चिदंशात्मांशिनोस्तथा ॥
तादात्म्यमंगीकार्यं[१७] हि द्वैताद्वैते ततो नहि ॥२६॥
एकमेवाद्वितीयं स्वलीलया[१८] जायते बहु ॥
एते नवविधाः शुद्धाद्वैतवादांगरूपिणः ॥२७॥
ब्रह्मशुद्धाद्वैतवादे प्राणरूपास्तु तत्त्वतः ॥

शुद्धाद्वैतवादका प्रथम अंगभूत उपवाद १.**विरुद्धधर्माश्रयतावाद** अर्थात् परस्पर विरुद्ध सभी प्रकारके धर्म एक अपना विरोध त्याग कर अविरोधेन रहते हैं. २.एक ब्रह्म ही सृष्टिका उपादानकारण भी बनता है तथा निमित्तकारण भी. अतः **अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद**. ३.ब्रह्म अपरिच्छिन्न सत्तारूप होनेके कारण सद्रूप कारण माना गया है अतः **सत्कारणतावाद**. ४.उपादानके सत् होनेसे कार्यको भी श्रुतिमें सत् कहा गया अतः **सत्कार्यवाद**. ५.परमात्मा स्वयं ही सृष्टिरूपेण परिणत हुवा होनेसे न तो उत्पन्न और न नष्ट होता है परन्तु उसका तत्तद्रूपेण आविर्भाव एवं तिरोभाव केवल होता है. अतः **आविर्भाव-तिरोभाववाद** उपवाद है. ६.सृष्ट्यात्मना स्वयं अविकारी परमात्मा ही प्रादुर्भूत होता होनेसे **अविकृतपरिणामवाद** माना गया है. ७.सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशसे जड़सृष्टि प्रकट होती है, चिदंशसे जीवसृष्टि

और आनन्दांशसे अन्तर्यामी ईश्वरकी सृष्टि प्रकट होती है. नामरूपकर्मात्मिका जड़सृष्टि और ब्रह्मके उपादेय कार्य और उपादान कारण होनेका सम्बन्ध होता है परन्तु जीवात्मा और परमात्मा के बीच कार्यकारणभाव सम्बन्धके बजाय केवल अंशांशिभाव सम्बन्ध होता है. अत: ७-८ वें उपवाद **कार्यकारणतादात्म्यवाद** और **अंशांशितादात्म्यवाद** स्वीकारे गये हैं. एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही स्वलीलया अनेकभावापन्न होता होनेके कारण ९ वां उपवाद **लीलयासृष्टिवाद** फलित होता है. ये नौ उपवाद ब्रह्मके शुद्धाद्वैतवादके अकाट्य प्राणभूत अंगोंके जैसे हैं.

(ब्रह्मबोधकी दृष्टिसे भी समाधान)

बोधदृष्ट्या पुन: शुद्धाद्वैतवादो निरूप्यते॥२८॥
धातुरेकोप्यनेकार्थवाचको यन्न भिद्यते॥
क्रिया धात्वर्थभूतापि नचैकद्रव्यसंगता॥२९॥
जहाति नो स्वरूपैक्यं "सेनाऽऽयाति" प्रयोगत:॥
द्रव्याण्यत: क्रियैकत्वाद् एकञ्चानेकमेव च॥३०॥

पुन: बोधदृष्टया शुद्धाद्वैतवादका निरूपण करते हैं : एक ही धातु अनेक अर्थ (पदार्थ) वाचक होने पर भी जैसे उसमें भेद नहीं होता है. ऐसे ही धात्वर्थरूपा क्रिया अनेकद्रव्योंमें समवेत होनेपर भी अपनी स्वरूपगत एकता छोड़ती नहीं है. उदाहरणतया "सेना आ रही है" वाक्यमें आगमनरूपा क्रिया अनेक सैनिक पुरुषोंमें समवेत होनेपर भी स्वरूपगत एकताको

छोड़ती नहीं है. अत: द्रव्य भी अनेकक्रियाओंके समवायी होनेके कारण एकानेकात्मक ही मानना चाहिये.

ब्रह्मोपादानकत्वात्तु तद्धर्मानुगमस्सदा॥
"सर्वं सर्वमयं[१९]" वाक्यात् भातं यच्चैकरूपत: ॥३१॥
तस्य सर्वमयत्वेन ह्यनेकत्वमपीरितम्॥

ब्रह्म ही सभीका उपादान होनेसे ब्रह्मके धर्मोंका जड़-जीवसृष्टिमें भी अंशत: अनुगम सदा होता ही है. अतएव "सर्वं सर्वमयम्" इस श्रुतिवाक्यसे सभीकी एकरूपता सिद्ध होती है.

ब्रह्मसिद्धिकृदत्राह "सर्वात्मत्वं न ब्रह्मण: ॥३२॥
तद्रूपेण रूपवत्त्वात् सर्वं ब्रह्मात्मकं"[२०] त्विदम्॥

ब्रह्म सर्वमय होनेसे ही ब्रह्मकी अनेकरूपता कही गई है. परन्तु ब्रह्मसिद्धिकारके अनुसार "इन-इन रूपोंके कारण ब्रह्मकी सर्वात्मकता मानी नहीं जाती प्रत्युत इन नामरूपोंको उसके धर्मतया भासित होनेके कारण ब्रह्मात्मक माना जाना चाहिये"

तद् विरुद्धं तमोमायातीतस्य रूपनामता[२१] ॥३३॥
सच्च त्यच्चेत्याद्यनेकगुणधर्मक्रियादिमत्॥
ब्रह्माभवद् लीलयैव एकाकित्व[२२]श्रुतेस्तथा॥३४॥

यह ब्रह्मसिद्धिकारकी धारणा श्रुतिसंगत नहीं लगती

है. क्योंकि श्रुतिमें ब्रह्मकी पहले एकाकिता निरूपित करनेके बाद अर्थात् माया या तम आदिसे अतीतकी लीलाके रूपमें सच्च-त्यच्चादि विरुद्धगुणधर्म तथा क्रियावान् होना प्रतिपादित हुवा है.

स्वीकृतं तन्तुपटयोरैकात्म्यं यद्यबाधितम्॥
लीलाब्रह्मणोरैक्ये विद्वेषः किंनिबन्धनः ?॥३५॥

व्यवहारमें तन्तु और पट का ऐकात्म्य यदि अबाधितरूपसे स्वीकार्य हो तो परमार्थमें ब्रह्म और उसकी लीलाके तादात्म्यप्रयुक्त ऐक्यमें विद्वेष किस कारण प्रकट किया जाता है ?

अथ चैकात्मताभावेऽविद्याविद्यकयोरपि॥
नाविद्याविनिवृत्त्याप्याविद्यकस्य निवृत्तता॥३६॥

अब यदि अविद्या तथा आविद्यक के बीच एकात्मकता स्वीकारी नहीं जाती तो अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर आविद्यक जगत्की निवृत्ति भी नहीं हो पायेगी.

अथापि ब्रह्मलीलयोस्त्वैकात्म्ये विमतिः कुतः॥
ततस्तूभयैकात्म्यं स्वीकर्तव्यं हि सर्वथा॥३७॥

ब्रह्म तथा ब्रह्मलीला के ऐकात्म्यमें विमति क्यों ? अतः ब्रह्म तथा ब्रह्मकी लीलाके ऐकात्म्यका स्वीकार करना ही चाहिये.

अथ 'शुद्ध'पदेनात्र व्यावर्त्यं तद् निरूप्यते॥
ब्रह्मभिन्नतया येऽपि प्रकृतिर्मायाणवस्तथा॥३८॥
अदृष्टं वा वासना वा स्वभावो वा विकल्पिताः॥
तत्सहभावरहितं ब्रह्मैक्यं[२३] 'शुद्धम्'उच्यते॥३९॥
शुद्धस्य ब्रह्मणो वादः शुद्धाद्वैततयोदितः॥

'शुद्ध' पदद्वारा ब्रह्मसे भिन्नतया स्वीकृत प्रकृति माया अणु अदृष्ट वासना स्वभाव आदि पदार्थोंकी ब्रह्मके विकल्पतया पूर्वपक्षियोंद्वारा जो तत्त्वसम्भावना प्रकट की जाती है उन स्वस्वमतकल्पित पदार्थोंके सहभावसे रहित एक ब्रह्म 'शुद्ध' पदसे विवक्षित है. शुद्धब्रह्मकी स्वीकृतिका वाद ही 'शुद्धाद्वैतवाद' कहा गया है.

स्वात्मयाथार्थ्यज्ञानेन स्वात्माज्ञानविनाशने॥४०॥
ब्रह्मविज्ञानजाता चात्यन्तभेदमतिक्षतिः॥
ब्रह्मात्मनोर्विज्ञानाभ्यां शुद्धाद्वैतं[२४] स्फुरेदिह॥४१॥
आत्मस्वरूपविज्ञानात् स्वरूपाज्ञाननिष्कृतिः॥
ब्रह्मविज्ञानतोऽत्यन्तद्वैतबुद्धेर्विनाश्यता॥४२॥
नामादैरैच्छिकं द्वैतं ब्रह्मैक्यमत्यबाधकम्॥
स्वरूपधर्मतादात्म्याद् एकत्वस्याप्यबाधनम्॥४३॥

स्वयं जीवात्माके अपने स्वरूपसम्बन्धी यथार्थ ज्ञानसे स्वरूपाज्ञानका नाश होता है और ब्रह्मका विज्ञान होनेसे अत्यन्त भेदवाली मतिका क्षय होता है. ब्रह्म-परमात्मा तथा जीवात्मा स्वस्वरूपके उभयविध विज्ञानसे ही शुद्धाद्वैत स्फुरित होता है. आत्मस्वरूपके

विज्ञानसे स्वरूपसम्बन्धी अज्ञानका नाश हो जाता है. और ब्रह्मके विज्ञान होनेसे अत्यन्त द्वैतवाली बुद्धिका विनाश होता है. नामादिका द्वैत तो ऐच्छिक होनेसे यह द्वैत ब्रह्मैक्यकी मतिका बाधक नहीं बन पाता है. स्वरूप और उसके धर्मों के बीच तादात्म्य होनेसे एकत्व भी बाधित नहीं होता है.

(पुनः एक आशंका होनेपर उसका समाधान)

एकस्यानेकता वक्तृविवक्षातो यदीरिता ॥
बहूनामपि चैकत्वविवक्षायां यथैकता ॥४४॥
द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने[२५] सूत्रचोदिता ॥

जैसे बहुत्वकी विवक्षामें एकत्वकी विवक्षा होती है, उसी तरह एककी अनेकता भी वक्ताकी विवक्षानुसार कही जाती है. यह सिद्धान्त "द्वेचकयोः द्विवचनैकवचने" सूत्रमें कहा गया है.

वाचारम्भणरूपं तद् द्वैतं कस्मान्न वै भवेत् ? ॥४५॥
अत्र द्वित्वैकत्वयोर्वै योगक्षेमसमानता ॥
आरोप्यते चेत् तद् द्वित्वे तदेकत्वेऽपि शक्यते ॥४६॥
एकमेवाद्वितीयं[२६] चेत् श्रुत्युक्तत्वात् प्रमाणितम् ॥

वह द्वैत वाचारम्भणरूप (वाणीके विकार मात्रके रूपमें) क्यों नहीं होता है? प्रकृतमें द्वित्व एवम् एकत्व के स्वीकारमें योगक्षेम तो समान ही है. (क्योंकि) जैसे एकत्वका आरोप द्वित्वमें होता है उसी प्रकार

एकत्वमें भी (द्वित्वका आरोप) हो सकता है. वह ब्रह्म एकमेवाद्वितीय है, यह श्रुत्युक्त होनेसे प्रमाणित ही है.

तदैक्षत बहु स्यामि [२७]त्युक्तश्रुत्याप्यनेकता ?॥४७॥

"मैं एक अनेक हो जाउं" इस श्रुतिमें भी अनेकता कही गई है.

सृष्टेः प्राग् ब्रह्मव्यतिरिक्तवक्त्रभावान्न सम्भवेत्॥
अन्यस्य कस्यचित्तत्र विवक्षातो द्वितीयता॥४८॥
वाचारम्भणवाक्ये[२८]ऽतो द्वैतमिथ्यात्वकल्पने॥

सृष्टिसे पहेले ब्रह्मसे अतिरिक्त वक्ताका अभाव होनेसे ब्रह्मके व्यतिरिक्त किसी अन्यकी विवक्षासे द्वित्व नहीं हो सकता है. अतः वाचारम्भण वाक्यमें द्वैतके मिथ्यात्वकी कल्पना की गई है.

कतमस्याश्चतुर्वाक्षु विषयत्वे मृषार्थता॥४९॥
परापश्यन्तीमध्यमावैखरीष्वत्र मृग्यते ?॥
परा वाग् या ज्ञानरूपा[२९] न मनुष्या वदन्ति ताम्॥५०॥
ब्रह्मसृष्टब्राह्मणास्तां वदन्ति वेदरूपिणीम्॥
अथैतस्याः मृषार्थत्वे मिथ्यात्वं ब्रह्मणो भवेत्॥५१॥

परा पश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी इन चारों प्रकारकी वाणीओंमें से किस वाणीके विषय होनेपर वस्तुका मृषा या मिथ्या होना क्या विवक्षित है? यह सोचना

चाहिये. परावाणी जो ज्ञानरूपा है जिसे मनुष्य बोलते ही नहीं उसके विषयको तो मिथ्या नहीं माना जा सकता. उस वेदरूपा वाणीको तो ब्रह्मद्वारा सृष्ट वेदविद् ब्राह्मण ही बोलते हैं. अतः इन परा पश्यन्ती मध्यमा वाणी के विषयको मृषार्थ माननेपर तो स्वयं ब्रह्म ही मिथ्या सिद्ध हो जायेगा.

वाच्यत्वांशे तु मिथ्यात्वं स्वरूपेऽवाच्यता यतः॥
निरंशे निर्विशेषे हि नोपपन्नांशकल्पना॥५२॥

अब कहा जाये कि वाच्यत्वके अंशमें तो ब्रह्ममें भी मिथ्यात्व मान्य है ही स्वरूपेण ब्रह्मके अवाच्य होनेसे. ऐसा परन्तु कहना अयुक्त है क्योंकि निरंश-निर्विशेष ब्रह्ममें अंश कल्पना ही उपपन्न नहीं होती.

इहाद्या ज्ञानरूपा वाङ्मूलाधारस्थिता परा[क]॥
तां या पश्यति पश्यन्ती[ख] बुद्धौ व्यक्ता तु मध्यमा[ग]॥५३॥
वक्त्रे च सैव तालवादिव्यापारेण बहिःसृता॥
वैखरीपदनिर्दिष्टा[घ] मनुजाः यां वदन्ति[३०] वै॥५४॥
पुंसूक्तज्योतिश्चरणाधिकरणोक्तब्रह्म[३१]वत् पुनः॥
वाचां चतसृणामासां चतुष्ट्वेऽप्येकता मता॥५५॥

इनमें प्रथम परा वाणी जो ज्ञानरूपा है, वह तो वाणीके मूलाधारमें स्थित है, उस वाणीके प्रति सभान होती अर्थात् जो देखती है वह पश्यन्ती वाणी है, जो बुद्धिमें व्यक्त होती है वह मध्यमा वाणी है. वक्ताके तालु आदिके व्यापारसे जो वाणी बहिःसृत

होती है, वह 'वैखरी' पदसे निर्दिष्ट वाणी है, जिसे मनुष्य बोलते हैं. पुरुषसूक्त तथा ब्रह्मसूत्र के ज्योतिश्चरणाधिकरणमें प्रतिपादित ब्रह्मकी तरह उपरोक्त वाणियोंके चार होनेपर भी उनका एकत्व ही माना गया है.

तद् भर्तृहरिणा वाक्यपदीये सूद्धृतं स्वके॥
"वागेवार्थं पश्यति[ख] वाग् ब्रवीति[घ]
वागेवार्थं निहितं सन्तनोति[ग]॥
वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं[क]
तदेतद् एकं प्रविभज्योपभुंक्ते"[३२] ॥५६॥

यह भर्तृहरिने वाक्यपदीयमें बहुत अच्छी तरहसे उद्धृत किया है "वाक् ही ज्ञाता[पश्यन्ती] होके गवादि पदार्थोंको देखती है, वाक् ही वक्ता[वैखरी] बनके स्थूल शब्दोंका उच्चारण करती है, वाक् ही अपनेमें[मध्यमा] शक्तिरूपसे निहित समस्त शक्यार्थों या विषयों का विस्तार करती है व्यक्तरूपमें उत्पन्न करती है, वाक्तत्त्वमें ही[परा] नानाविध विश्व अवस्थित है, वही एक वाक्तत्त्व अपने-आपको भोक्ता और भोग्य दो रूपोंमें बांट करके आत्मोपभोग करता है."

मन्त्रोपनिषद्द्रष्टृणां ज्ञानमागमपूर्वकम्॥
स्वीचकार भर्तृहरिः बहुभिस्तु समादृतः[३३] ॥५७॥

मन्त्रोपनिषद्के द्रष्टा ऋषियोंको भी ज्ञान होता है वह भी आगमपूर्वक ही होता है. अनेक शांकर

विद्वानोंद्वारा समादृत भर्तृहरिने भी ऐसे स्वीकारा है.

वाणीज्ञानयोश्चास्ति स्वपरनिर्वाहशीलता॥
वेदशब्दा: साक्षिचिद्वज् ज्ञेया: स्वपरभासका: ॥५८॥
अनयोरेकतरासत्त्वे उभयोस्स्याद् मृषार्थता॥
सृष्टिर्मूकायितैव स्याद् वाण्या ज्ञानाप्रकाशने॥५९॥
ज्ञानेन वाण्यप्रकाशे जगन्मौढ्यं प्रसज्यते[३४]॥

वाणी एवं ज्ञान दोनों ही स्वभावत: न केवल स्वपरके अपितु अन्योन्यके भी निर्वाहक होते हैं. अत: वेदके शब्दोंको भी साक्षिचित्के समान स्व-परके भासक जानना चाहिए. वाणी एवं ज्ञान मेंसे किसी भी एकको नियततया असदर्थका अवभासक माननेपर दोनोंकी मृषार्थकता सिद्ध हो जायेगी. इतना ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण सृष्टि ही मूक बन जायेगी यदि वाणीके द्वारा ज्ञानका प्रकाशन न हो पाता हो तो. इसी तरह ज्ञानके द्वारा वाणीका प्रकाशन न होता तो सारा जगत् मूढ़ बन जायेगा.

(ब्रह्मके शब्दसे अवाच्य होनेके मतका निरसन)

यतो मनोवाङ्निवृत्ति:[३५] "वाचानभ्युदितं"[३६]तु तत्॥६०॥
इत्येवमादिवचनाद् अवाच्यं ब्रह्म चेन् मतम्॥
"मिथ्या ब्रवीमी"त्युक्तिवन्न तज्जात्वात्मस्पृग्भवेत्॥६१॥

"वाणी तथा मन जहां पहुंचे बिना निवृत्त हो जाते हैं, अत: वाणीके द्वारा जिसे कहा नहीं सकता है वह ब्रह्म है" ऐसे वचनोंके आधारपर जो ब्रह्मको

अवाच्य सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें यह जान लेना चाहिये कि जैसे ''मैं जूठ बोलता हुं'' ऐसे वाक्यप्रयोगार्थ उच्चारित वचन स्वतात्पर्यक नहीं होता. उसी तरह ब्रह्मको मनोवाणीसे अगोचर प्रतिपादित करती वेदवाणीके अलावा जो वाणी है उनके बारेमें होती है. अर्थात् ऐसे वचन आत्मस्पृग् नहीं हो सकते हैं.

''ब्रह्म प्रतिष्ठा मनसो ब्रह्म वाचः''[३७]तथा पुनः॥
''वाचा ब्रह्मात्वभवद्''[३८]उक्तेः ''वाग्देवी ब्रह्मशंसिता''[३९] ॥६२॥
''तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी''[४०]त्युक्तिभिः पुनः॥
वेदैर्वेद्योऽहमेवेति[४१] विश्वरूपमुखोक्तिभिः ॥६३॥

''मन और वाणी ब्रह्ममें प्रतिष्ठित हैं'' ''वाणीद्वारा ब्रह्मका अनुभव हुवा'', ''वाग्देवी ब्रह्मशंसिता है'' ''मैं उस औपनिषद् पुरुषके बारेमें पूछ रहा हुं'' इन ऐसे अनेक श्रुतिवचनोंमें तथा ''सभी वेदोंके द्वारा वेद्य मैं ही हुं'' ऐसा विश्वरूप भगवान्ने गीतामें अपने श्रीमुखसे ही कहा है.

ब्रह्मनिःश्वसिता ब्रह्मप्रतिष्ठा ब्रह्मशंसिनी॥
ब्रह्मेव स्वप्रकाशानाद्यन्ता ब्रह्मस्वरूपिणी॥६४॥
यदारम्भणरूपायां[४२] सृष्टौ च मोक्षपद्धतिः॥
ब्रह्मचिद् या स्वयंज्योतिः सैव प्राग् वागभूत्[४३]परा॥६५॥
परापश्यन्तीमध्यमा वैखर्यनूदितापि वा॥
तन्मृषार्थकतावादो ''माता मम वन्ध्या''सदृक्॥६६॥

वेदवाणी ब्रह्मके द्वारा नि:श्वसित है, ब्रह्ममें प्रतिष्ठित है, ब्रह्मकी ही प्रतिपादिका है, ब्रह्मकी तरह स्वयंप्रकाशरूपा अनादि तथा अनंत होनेसे, स्वयं ब्रह्मस्वरूपा है. भू: भुव: स्व: रूपा इसे सृष्टिका आरम्भण भी इसी वाणीद्वारा हुवा. अतएव मोक्षमार्गरूपा मुक्तिपद्धति है. ब्रह्मचैतन्यको जैसे 'स्वयञ्ज्योति'रूप कहा गया है उसी तरह वाणी भी स्वयञ्ज्योतिरूपा है. ऐसा रूप परावाणीका माना गया है. परा पश्यन्ती मध्यमा तथा इन्हीं त्रिविध वाणिओंके वैखरीमें अनूदित होनेपर भी वाणीको मिथ्यार्थक नही माना जा सकता है. ऐसे कहना भी "मेरी माता वन्ध्या है" इस वाक्यके समान प्रयोग है.

ब्रह्मस्वपरभासिवाचि शक्यार्थत्यागलक्षणा॥
तया प्रकाशितोऽर्थस्तु न स्याद् ब्रह्मात्मक: क्वचित्॥६७॥

स्व-परका ज्ञान प्रकट करनेवाली वेदवाणीके शक्यार्थका त्याग करके लक्षणाके द्वारा अर्थ निकालनेपर वह ब्रह्मात्मक कभी नहीं हो सकता है.

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति नैषा तर्केण मतिरापनेया[४४]॥
प्रत्यक्षबाध्यताभावान्नापि तात्पर्यबाधत:॥६८॥

"वेदकी श्रुतिओंसे सुने बिना अपने आप तर्क-वितर्कयुक्त विचार करनेसे भी यह आत्मतत्त्व समझा नहीं जा सकता." अत: श्रुतिके अर्थको न

तो प्रत्यक्षसे और न तर्कसे ही बाधित माना जा सकता है.

लिलक्षयिषाभावाच्च श्रुत्यर्थे लक्षणा कुतः ?॥
पदाऽवाच्यस्य लक्ष्यत्वं केनचित्तु पदेन वै॥
दृष्टान्तरहितत्वाद्धि स्वीकर्तव्यं भवेन्नहि॥६९॥

अतः अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति के अशक्य होनेके कारण लक्षणा ही अभिप्रेत न हो तो लक्षणा क्यों करनी? वैसे भी लक्षणया तात्पर्योन्नयन और तात्पर्यानुपपत्तिवशात् अन्योन्याश्रयदोषसे ग्रस्त लगते हैं. कथञ्चित् लक्षणाश्रयणद्वारा शक्यार्थका त्याग करनेपर भी सर्वथा अवाच्य वस्तु किसी पदका लक्ष्यार्थ भी बन नहीं सकती है, ऐसा कोई दृष्टान्त ही उपलब्ध नहीं होता.

मृच्छुक्त्योरविकारिण्योः सत्यत्वे वाच्यता कुतः ?॥
अवाच्यत्वे 'घट''रूप्या'भ्यां लक्ष्यत्वं न शक्यते॥७०॥

मृत्तिका एवं शुक्तिका दोनों अविकारी सत्य हों तो वाच्य नहीं होने चाहिये थे और वाच्य हों तो वाचारम्भणके विषय होनेके कारण उन्हें भी व्यावहारिक असत्य मानना पड़ेगा, 'घट' या 'रजत' पदसे लक्षित भी हो नहीं पायेंगे.

''ऐतदात्म्यमिदं सर्वं'' तथा ''तत्त्वमसि''[४५]श्रुतौ॥

लक्षणाश्रयणं साक्षाद् वाचारम्भणमेव तद्॥७१॥

''यह दृश्यमान सबकुछ ऐतदात्म्य=ब्रह्मात्मक है'' तथा ''तू वही है'' अत: इन श्रुतिवचनोंमें लक्षणा स्वीकारना केवल वाणीका विलास वाचारम्भण ही है!

माण्डूक्योपनिषद्भाष्यमंगलाचरणे तु यत्॥
उच्यते भाष्यकारैस्तु तदप्येवमसंगतम्॥७२॥
''यो विश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान् स्थविष्ठान्
पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवाञ्ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्॥
सर्वान् एतान् पुनरपि शनै: स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगण: पात्वसौ नस्तुरीय: ''[४६]॥७३॥

अतएव माण्डूक्योपनिषद्के मंगलाचरणमें भाष्यकार श्रीशंकराचार्यने जो कहा है वह भी असंगत हो जाता है. ''जो सर्वात्मा जाग्रदवस्थामें शुभाशुभ कर्मजनित स्थूल भोगोंको भोग कर स्वप्नकालमें अपनी बुद्धिसे परिकल्पित सूक्ष्म विषयोंको सूर्य आदि बाह्यज्योतिके अभाव होनेके कारण अपने ही प्रकाशसे भोगता है और धीरे-धीरे निद्रावस्थामें इन सभीको अपनेमें स्थापित कर अन्तमें समस्त विशेषोंको छोड़कर निर्गुणरूपसे स्थित हो जाता है वह तुरीय परमात्मा हमारी रक्षा करो''.

''जीवईशेति षण्णां यद्धचनादित्वं समाश्रितम्''[४७]॥
तत् किं प्रागभाववत् स्यात् सान्ता चानादिताथवा॥७४॥
अनाद्यनन्तता वादौ भाविकल्पाप्रसंगत:॥

जगदीश्वरयोर्यस्मात् कार्यकारणता मता॥७५॥
स्वीकर्तव्या भवेत् सृष्टिः शुद्धचैतन्यसम्भवा॥
नेष्टापत्तिस्तु शक्यात्र कल्पेऽस्मिन्न कुतस्तथा?॥७६॥
षण्णामनाद्यनन्तत्वे तुर्यावस्था न कर्हिचित्॥
सिध्येद् निखिलद्वैतोपशमनादेव शक्यता॥७७॥
अतः षट्त्स्विह पञ्चानाम् एकस्यैवाथवा वद॥
अनादित्वं नवै षण्णां मिथ्या द्वैतं गतं तदा॥७८॥

"जीव ईश विशुद्धचित् इनका विभाग अविद्या और आविद्यकबन्धन, ये छह हमारे मतमें अनादि पदार्थ स्वीकारे गये हैं." ये क्या प्रागभावकी तरह अनादि सान्त है अथवा अनादि-अनन्त है? जबकि यदि अनादि-सान्त हों तो भावी कल्पमें भूतकालिक अनित्य पांच पदार्थोंका अभाव सिद्ध होगा. जबकि जगत् और जगदीश को कार्यरूप और कर्तृरूप माना गया है. और इष्टापत्ति करनेपर जगत्की सृष्टि शुद्ध चैतन्यसे माननी पड़ेगी. छहोंको अनादि अनन्त स्वीकारनेपर विश्व तैजस प्राज्ञ अथवा जागरित स्वप्न और सुषुप्ति से अतीत तुरीयावस्था सिद्ध हो नहीं पायेगी. क्योंकि अखिलद्वैतके उपशमनके बाद ही तुरीयावस्था प्राप्त होती है. अतः छह तत्त्वोमें एक ही तत्त्वको अनादि माना जा सकता है छहोंको नहीं. तब छहोंका मिथ्या द्वैत असिद्ध हो जाता है.

व्यवहारेत्वबाध्यस्य पारमार्थिकज्ञानतः॥
परमार्थतया बाधो मिथ्या शून्योपमो मतः॥७९॥
बाधाद् ऊर्ध्वन्तु शून्यत्वं न विवादोऽत्र कस्यचित्[४८]॥

स्वस्य च प्रतिपन्ने तूपाधौ त्रैकालिको हि यो॥८०॥
निषेधस्तस्य प्रतियोगी मिथ्येत्यत्रावधारित:[४९]॥

व्यवहारमें जो अबाध्य होता है उसका भी पारमार्थिक ज्ञान होनेपर पारमार्थिक सत्यतया बाध हो जाता है. बाध हो जानेके बाद तो जो मिथ्या है उसे तो शून्य जैसा ही मानना चाहिये. क्योंकि स्वीकारा गया है कि बाध होनेके बाद तो निर्विवाद शून्य अवशिष्ट रहता है. जिस वस्तुका जिस उपाधिमें आभास हो रहा हो वहीं न तो भूतकालमें न वर्तमानमें और न भविष्यकालमें ही कभी होनेसे केवल आभासकालमें मिथ्या होना माना गया है. परन्तु बाधज्ञान होनेके उपाधितया प्रतीतिकी जगह न था न है और न होगा ऐसा ज्ञान होनेके बाद मिथ्याभास मिट जाता होनेसे शून्य ही रह जाता है.

अतस्तुरीयावस्थायां ब्रह्मण्यद्वये पुन:॥८१॥
स्थितद्वैतसृष्टिहानावग्रे शून्यसरिसृजा॥
"नासीन्नास्ति न भविता"द्वैतस्य स्थितिकल्पने॥८२॥
अबाधिततया तद्धि पारमार्थिकतां व्रजेत्॥
अत्राप्यविद्ययैवावस्थानेऽगीकरणे सति॥८३॥
पूर्वावस्थात्रयाद् भेदस्तुरीयस्य न सिद्धचति॥

अत: चौथी अवस्थामें अद्वय ब्रह्ममें द्वैतरूपा सृष्टिकी हानिके बाद आगामी कल्पमें या तो शून्यमें से सृष्टचुत्पत्तिकी इच्छा स्वीकारनी पड़ेगी, वेदान्तसिद्धान्तके विपरीत. अथवा तुरीयावस्थामें "न वह था, न है, न होगा" ऐसे

द्वैतकी स्थितिकी कल्पना अबाधिततया माननेपर वह पारमार्थिक सिद्ध हो जायेगा. यहां भी अविद्याके द्वारा द्वैतका अवस्थानमें अंगीकार करेंगे तो पूर्वकी तीनों अवस्थासे भिन्न चौथी अवस्था सिद्ध नहीं हो पायेगी.

(शास्त्रमें आत्यन्तिकद्वैतका निषेध किया है ऐच्छिकद्वैतका नहीं)

अतो द्वैतनिषेधेन न द्वितीयं निषिध्यते ॥८४॥
"सोऽकामयत द्वितीयो मे आत्मा जायेत"[५०] वाक्यतः ॥
"आत्मैवेदमग्रआसीद् अपश्यान्यन्न चात्मनो ॥८५॥
द्वितीयमैच्छद्"[५१] उल्लेखाद् न द्वैतं जीवभ्रान्तितः ॥
"स्वात्मानमपातयत द्वेधे"[५२]ति वचनात्पुनः ॥८६॥
श्रुतिभ्यस्तु बहुभ्यो वै द्वितीयं ह्यात्मिकं मतम् ॥
द्वितीयेऽत्यन्तद्वैतबुद्धिरप्रमैव मता ततः ॥८७॥
सत्यसंकल्पसञ्जातं नात्मद्वैतं मृषा भवेत् ? ॥

अतः द्वैतके निषेधसे द्वितीयका निषेध नहीं होता है क्योंकि "उसने कामना की कि मैं आत्मासे ही द्वितीयको उत्पन्न करुं","पहले वह आत्मा ही था, उसने अपने अलावा किसीको नहीं देखा, उसने दूसरेकी इच्छा की." ऐसे शास्त्रवचनोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि ऐच्छिक द्वैत जीवकी भ्रान्तिसे प्रकट नहीं हुवा, क्योंकि वह तो जीवात्माओंके प्रकट होनेसे पहले ब्रह्मके भीतर प्रकट हुवा है. "उसने अपने आपको दो भागोंमें विभक्त किया" इस वचनसे भी यही सिद्ध होता है. अनेक श्रुतिवचनोंमें वही स्वयं ही द्वितीयके रूपमें उत्पन्न हुआ है, ऐसा कहा गया है. आत्मना द्वितीयभावापन्नमें अत्यन्त द्वैतकी बुद्धि

तो अप्रमा मानी जा सकती है, परन्तु आत्मद्वैधाभावापत्तिवश प्रकट हुवा. द्वितीय तो ब्रह्मके अपने सत्यसंकल्पवश ही अनेकभावापन्न होनेके कारण ऐच्छिक द्वैत मिथ्या या मृषा कैसे हो सकता है?

(एक अन्य शंकाका निरास)

द्वित्वं त्वपेक्षाबुद्धिजन्यं ह्येकत्वं सहजं मतम्॥८८॥
इति चेत् तन्नवै युक्तं द्वित्वैकत्वे समे मते॥
उभे द्वित्वैकत्वबुद्धी स्याताञ्चेहोभयात्मिके॥८९॥
क्वचित्प्रमाध्यवसिते भ्रान्तिभाते तथा क्वचित्॥
पटैक्यन्तु बहूनां वै संघाते तन्तूनां प्रमा॥९०॥
अनेकदर्पणोपाधौ मुखैक्यं भ्रान्तिगोचरम्॥
ऐक्याधारमुखानां हि भ्रान्तिभाततया स्फुटम्॥९१॥

द्वित्व तो अपेक्षाबुद्धिसे प्रकट होता है परन्तु एकत्व तो सहज ही होता है, यदि ऐसा कोई कहे तो वह भी युक्त नहीं है. क्योंकि एकत्व तथा द्वित्व दोनों समान ही होते हैं. एकत्व या द्वित्व की बुद्धि जब कहीं होती है ऐसी बुद्धि कभी प्रमारूपा होती है तो कभी भ्रान्तिरूपा भी. अनेक तन्तुओंके संघातरूप पटको एक जानना प्रमारूपा बुद्धि होती है पर अनेक दर्पणोंकी उपाधिमें ऐक्याधाररूप अनेक मुखोंकी प्रतीति भ्रान्तिरूपा होती है. अत: अनेक दर्पणोंमें प्रतीत होते अनेक मुखोंको एक मुख मानना भ्रान्ति ही है (सादृश्यकी कथा अन्यथा है).

तथापेक्षाजन्यबुद्धिः द्वित्वादिविषयिण्यपि ॥
क्वचित्प्रमा क्वचिद्भ्रान्तिः द्विरूपिणी ततः सदा ॥९२॥
नापेक्षाजन्यतादोषाद् द्वित्वबुद्धेस्तु भ्रान्तिता ॥
स्वपरपक्षयोर्द्वैतबुद्धेः स्याद् भ्रमता तदा ॥९३॥
द्वित्वैकत्वयोर्भेदो न भ्रान्त्यभ्रान्तिहेतुकः ॥

इस प्रकार अपेक्षाजन्य बुद्धि भी कभी प्रमारूपा तो कभी भ्रमरूपा भी होती है. अतः द्वित्व एवम् एकत्व का भेद भ्रान्ति एवम् अभ्रान्तिका हेतु नहीं माना जा सकता है.

"स एकधे"[५३]ति वचनाद् नात्यन्तोऽभेद इष्यते ॥९४॥
तथैवात्यन्तभेदोऽपि निरस्तो श्रुतिनैव हि ॥
ब्रह्मस्वाभाविकैक्यं चानैक्यं लीलेच्छया[५४] मतम् ॥९५॥

"वह एक प्रकारसे होता है..सहस्रों प्रकारसे भी होता है" इस वचनसे जैसे आत्यन्तिक अभेद श्रुतिवचनानुसार इष्ट नहीं है वैसे ही अत्यन्त भेद भी श्रुतिके द्वारा ही निरस्त किया गया है. अतः ब्रह्मका स्वाभाविक ऐक्य एवं लीलाकी इच्छासे होता अनैक्य भी स्वीकारना चाहिए.

आद्यं स्वभावानुपाति स्यादनैक्यमथापरम् ॥
तत्सामर्थ्यानुपातीति व्यवस्थितविकल्पता ॥९६॥
ज्ञेया शुद्धाद्वैतवादे श्रुतिवर्त्मोपदर्शिते ॥
श्रीमद्भागवतेनोपबृंहितब्रह्मसूत्रिते ॥९७॥

ब्रह्मका ऐक्य स्वभावानुपाति है तथा अनैक्य

सामर्थ्यानुपाति है. ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था शुद्धाद्वैतवादमें स्वीकारी गई है जो श्रुतिके द्वारा सम्यक्तया परिपुष्ट है तथा श्रीमद्भागवत एवं ब्रह्मसूत्र में भी स्वीकारी गई है.

नह्यपेक्षैकमतिजाः संख्याः द्वित्वादयो मताः॥
किन्तु संख्यापेक्षजैव मतिरत्रोपलभ्यते॥९८॥
अन्यथात्वयथार्थत्वाद् भ्रान्तिरेव भवेत् पुनः॥
प्रमाणं तुलसीदासो वाल्मिकिरपरो महान्॥९९॥
"चतुर्गुणान्तु यां काञ्चित् कृत्वा च पञ्चयोजनात्॥
तद्योगं द्विगुणीकृत्य चाष्टधा भाजनात् सदा॥१००॥
द्विसंख्या 'राम'शब्दस्य सर्वत्रैवोपलभ्यते"॥
नेयं सापेक्षमतिजा मत्यभावेऽपि सिद्धितः॥१०१॥
वस्तुस्वभावतः सिद्धा निःसन्दिग्धा मता सदा॥

द्वित्व त्रित्व आदि संख्या केवल सापेक्षमतिसे ही जन्य होती है, यह भी उपपन्न नहीं होता. क्योंकि संख्याविषयिका स्वयं संख्यासापेक्ष होती है. ऐसा न माननेपर संख्याविषयिणी सारी मति भ्रान्ति ही सिद्ध हो जायेगी, प्रमा नहीं. महर्षि वाल्मिकीके अपर अवतारूप श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका दोहा "नाम चौगुनो पंचयुत पुनि दूनो करि लेहु. तामें आठको भाग दे, शेष बचे सो लेहु"के अनुसार हमारे कितने भी अक्षरोंके नाम हों, गणितकी इस प्रक्रियाकी किसी राशीको चौगुना करके पांच जोड़ कर दुगना करके आठसे भागने पर दो ही संख्या 'रा+म' नामकी बचती है. यहां संख्येय सापेक्ष मतिजन्य संख्या न हो कर

संख्यासापेक्ष जन्य मति होनेका प्रमाण है.

(द्वित्वके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित अद्वैत है. तादात्म्य नहीं है ऐसी शंका एवं समाधान)

नन्वैतदात्म्यश्रुत्युक्ता मिथ्यारोप्यानुवृत्तिता ॥१०२॥
बाधितार्थसामानाधिकरण्यं नादृतं कुतः ? ॥
'ऐतदात्म्यमिदं'वाक्ये 'इदम्'उद्देश्यताश्रयम् ॥१०३॥
'ऐतदात्म्यं'विधेयं वै श्रुतेरज्ञातज्ञापनात् ॥
दृष्टे स्थाणौ तु शक्येत चोरारोपस्य बाध्यता ॥१०४॥
प्रत्यक्षगोचरत्वेनैतदात्म्ये न शक्यता ॥
श्रुत्येकगोचरा नूनं ब्रह्मवच्च तदात्मता ॥१०५॥
ब्रह्मावगतेः प्राक् तद्बाध्यतानिश्चयो नहि ॥
अप्रसक्तं ततो लक्षणया ह्यर्थप्रकल्पनम् ॥१०६॥

"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं" श्रुतिमें मिथ्या आरोपकी अनुवृत्तिरूप बाधितार्थसामानाधिकरण्यका स्वीकार क्यों नहीं करना चाहिये? ऐसे प्रश्नका प्रत्युत्तर यों है कि श्रुति अज्ञातका ज्ञापन करनेवाली होती है. "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" इस वचनमें 'इदम्' उद्देश्यताका आश्रय है तथा इदंकारास्पदको उद्देश्य बना कर उसे 'ऐतदात्म्य' कहा जा रहा है. अब विधेय यदि प्रत्यक्षविषय होता तो प्रत्यक्षसे विधेयभाव बाधित हो पाता. वह तो अप्रत्यक्ष है अतः प्रत्यक्षविरोधवश तो बाधित हो नहीं सकता. तब अन्वय उपपन्न है या अनुपपन्न? अतः वचनका तात्पर्य तो अन्वित होनेके बाद गृहीत होगा सो तात्पर्यानुपपत्ति भी सम्भव नहीं. तब लक्षणाकी आवश्यकता कहांसे उपस्थित होगी? प्रत्यक्षसे गोचर

होनेसे दिखाई देनेवाले स्थाणुमें तो चोरके आरोपका बाध हो सकता है. परन्तु ब्रह्म तो केवल श्रुतिमात्रसे गोचर होनेके कारण तदात्मताके आरोपका बाध ऐतदात्म्यमें हो पाना सम्भव नहीं है. ब्रह्मज्ञानसे पूर्व जगत्का बाध तो सम्भव ही न हो तब लक्षणाके द्वारा की गई अर्थकी कल्पना तो अप्रसक्त ही हो जाती है.

सामानाधिकरण्यं यत् श्रुतं चाभिहितार्थयोः ॥
तत् त्यक्त्वा बाधितार्थैकाधिकरण्यमतो मुधा ॥१०७॥
शब्दप्रमाणकेऽर्थेत्वन्याय्या गौणार्थकल्पना[५५] ॥
उत्प्रेक्षितुमशक्यं यत्त्वन्तरेणागमं मतम्[५६] ॥१०८॥
प्रत्यक्षागोचरं रूपाद्यभावाच्चानुमितेरपि ॥
लिंगाद्यभावाद् वाच्यार्थत्यागः केन प्रकल्प्यते ? ॥१०९॥
लक्षणाश्रयणाच्चैवं भावयाथात्म्यवर्णनात् ॥
वरं वेदान्तप्रामाण्यत्यागो बौद्धादिवन्मतः ॥११०॥

श्रुतिके द्वारा कहे गए सामानाधिकरण्यके अभिहितार्थको छोड़ कर शब्दप्रमाणसे सिद्ध सिद्धान्तमें बाधितार्थ एकाधिकरणकी गौणार्थकल्पना तो व्यर्थ ही है. यह ब्रह्मरूप अर्थ, रूपादि इन्द्रियग्राह्य गुणोंके अभाववश प्रत्यक्षसे अगोचर है तथा लिंग आदिके अभाववश अनुमितिका भी विषय नहीं बन पाता. केवल आगमके वचनोंके बिना उत्प्रेक्षा कर पानी भी सम्भव नहीं है. अतः ऐसे केवल आगमके आधारपर ही अवगत होते भावयाथात्म्यका निरूपण आगमवचनोंके वाच्यार्थका त्याग करके लक्षणाके द्वारा निरूपण करनेसे अच्छा

तो बौद्धादिमतोंके समान ही वेदान्तके प्रामाण्यका ही त्याग कर देना ही होगा.

तत्-त्वमोरप्यन्वयो यः प्रत्यक्षेण विरोधतः॥
भागत्यागलक्षणायां ह्येकवाक्ये विरूपता॥१११॥
भेदात्यन्ताभावरूपोऽभेदो न श्रुतिसम्मतः॥

'तत्'पद और 'त्वम्'पद के परस्पर अन्वयमें प्रत्यक्षविरोधकी कल्पना करके 'तत्'पदका मुख्य वाच्यार्थ परोक्ष सर्वज्ञ सर्वोपादानकारणरूप परमात्मा और 'तत्'पदका मुख्यार्थ प्रत्यक्ष अल्पज्ञमें जीवात्माका अंशभागोंके परित्यागद्वारा अर्थात् भागत्यागलक्षणाके समाश्रयणद्वारा अर्थकी कल्पना एक ही वाक्यमें विरूपता प्रकट करता है. अतः भेदके अत्यन्ताभावरूप अभेदकी बात श्रुतिसम्मत नहीं लगती है.

परा वाग् ब्रह्मणः साक्षात् स्वप्रकाशात्मता मता॥११२॥
निजात्मरूपसन्धानात् सैव पश्यन्त्यजायत॥
सिसृक्षुब्रह्महृदये द्योतमाना तु मध्यमा॥११३॥
षण्मुखोच्चारणानुच्चारणजाता तु वैखरी॥
वैखर्यवस्थापन्नापि वाचारम्भणात्मिका॥११४॥
ब्रह्मता वेदवाण्यास्तु ब्रह्मतत्त्वप्रबोधनात्॥
तादात्म्याद् वेदब्रह्मणोर्वै न स्वार्थेन प्रच्युतिः॥११५॥
अप्रच्युतस्वार्थवाक्ये लक्षणाश्रयणं मुधा॥
सदंशोपादानयोश्चातः चिदंशांशिनोरपि॥११६॥
नहि भेदात्यन्ताभावरूपमद्वैतशक्यता॥

उक्तञ्चैतद् वल्लभेन सुबोधिन्यां[५७] सुनिश्चितम्॥११७॥
इति शुद्धाद्वैतवादो ब्रह्मवादप्रसाधकः॥
स्वाभाविकाद्वैतान्तस्त्वैच्छिकद्वैतसमाश्रयात्॥११८॥
विरुद्धधर्माधारं हि ब्रह्मैकं नैकमप्युत॥
साकारब्रह्मवादेन स्थापितं वल्लभेन वै॥११९॥

ब्रह्मकी स्वयंप्रकाशरूपता और परावाक् तत्त्वतः एक ही हैं. और इस स्वयंप्रकाशरूपा परावाक्का सृष्टिके आरम्भमें—"ब्रह्मैव इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्" (बृह.उप.१।४।१०) —आत्मानुसन्धान किया तब वह पश्यन्ती वाक् बन गयी. यह पश्यन्ती वाक् ही जब "तस्माद् एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत्" (बृह.उप.१।४।३) सिसृक्षाविशिष्ट हुयी तब सिसृक्षु ब्रह्माके हृदयमें द्योतमाना हो कर मध्यमा वाक् बन गयी "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेता.उप.६।१८). षण्मुखके मुखोंसे उच्चारित ऋषिगणोंद्वारा अनूच्चारित होनेपर भी अर्थात् वैखरीभावापन्न होनेपर भी "अनादिनिधना नित्या वाग् उत्सृष्टा स्वयम्भुवा आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" (महाभा.१२।२२४।५५) इन वचनोंके आधारपर यह स्फुट हो ही जाता है कि वैखरी-अवस्थामें वेदवचन अपना नित्यत्व निभाते ही हैं. इसे पारमार्थिक न मान कर व्यावहारिक सत्य भी मानें तावता पारमार्थिक नित्य ब्रह्मकी व्यावहारिक नित्य वेदवाच्यता निरस्त नहीं हो पाती, अन्यथा "अहं ब्रह्मास्मि"रूप वृत्तिज्ञानका

भी विषय शुद्धब्रह्म सिद्ध नहीं हो पायेगा. मुक्तिवार्ता मरुमरीचिकाकी तरह मृषा मृगपिपासा ही सिद्ध होगी. वस्तुतस्तु वेद यदि परावाक् होनेके स्तरपर मृषार्थक न हो कर ब्रह्मात्मक और ब्रह्मतत्त्वप्रबोधक हो तो वेदवचनोंके वाच्यार्थका त्याग सम्भव नहीं रह जायेगा. वाच्यार्थ छोड़ना आवश्यक न हो तो लक्षणावृत्तिका सहारा भी अनावश्यक सिद्ध हो जाता है. अतः न तो सदंशविषयक 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' विधानमें और न चिदंशविषयक 'तत्त्वमसि' विधानमें भेदात्यन्ताभावरूप अद्वैत उपपन्न ही नहीं हो पाता. श्रीवल्लभ महाप्रभुने यह सुबोधिनीमें निर्धारित किया है. अतः शुद्धाद्वैतवाद ब्रह्मवादका प्रसाधक बन जाता है. जहां स्वाभाविक अद्वैतके अन्तर्गत ऐच्छिक द्वैत मान्य किया गया है. यह विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्म स्वभावतः एकमेवाद्वितीय भी और सत्यसंकल्प तथा सर्वभवनसामर्थ्य के वश अनेकवद् भी.

(उपसंहारः)

एवं चिन्तनभातं गदितं
सदसन्निर्वचनाय न शक्यम्॥
श्रुतिप्रतिपादितशुद्धाद्वैतं
परमब्रह्मनिरूपकमत्र॥१२०॥

इस तरह वाक्पतिकी वाणीका चिन्तन करनेपर जो सिद्धान्त प्रतीत हुआ वह प्रतिपादित किया गया. वह ठीक है या नहीं इसकी सदसद्विवेचना करना

मेरेलिये शक्य नहीं है. अस्तु. श्रुतिप्रतिपादित शुद्धाद्वैतानुसार यह परमब्रह्मका निरूपण है.

श्रीवल्लभकरकृतनिजरूप-
श्याममनोहरहृतहृदयेन॥
लिखितं क्षमतां यन्मतिदोषाद्
मयि किञ्चिन्मन्मतिकरणेन॥१२१॥

श्रीवल्लभके निज करकमलोंसे सिद्ध सबके मनको हरनेवाला श्यामसुन्दर स्वरूपको हृद्गत करके यह लेखन जो किया गया उसमें उभरे मेरे मतिजन्य दोषोंको पढ़नेवाले मेरेमें यत्किञ्चित् मन्मति रख कर क्षमा करेंगे.

जयति जगति वाणीर्वाल्लभी या करोति
भुवि भजनविधौ श्रीकृष्णसेवापरान् नः॥
अहमहमिकया च स्पर्धमानाः मिथो नः
रतिमतिकृतिरूपाः वृत्तयो गेहसेव्ये॥१२२॥

जगत्में वाल्लभी वाणीकी विजय हो क्योंकि वही अपने-अपने घरोंमें श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर जनोंकी रति मति और कृति अहमहमिकावाली दिव्य स्पर्धावृत्ति प्रकट कर पानेमें समर्थ बनती है.

वाक्पतेर्लब्धबुध्यैषा साकारब्रह्मवादगा॥
शुद्धाद्वैतवादीया प्रक्रिया विनिरूपिता॥१२३॥

वाक्पतिद्वारा प्राप्त बुद्धिसे साकारब्रह्मवादको कहनेवाले शुद्धाद्वैतवादकी प्रक्रियाका निरूपण पूर्ण हुवा.

रसर्ष्याकाशनेत्राऽब्दे वैक्रमेऽसितमाधवे॥
चतुर्दश्यां शुद्धाद्वैतलेखनं पूर्णतामगात्॥१२४॥

विक्रमसंवत २०७६ के वैशाख कृष्णा चतुर्दशीके दिन शुद्धाद्वैतवादका लेखन सम्पन्न हुआ.

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहरनिर्मित
साकारब्रह्मवादमूलक शुद्धाद्वैतवादः
गोस्वामी मैत्रीकृत भाषानुवाद सम्पूर्ण

.....+.....

उद्धरणतालिका

१.भगवद्गीता : २।१६.

२.कठोपनिषद् : २।३।१३.

३.''सत्त्वेव सौम्य इदम अग्रे आसीद् एकमेवाद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''. छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।२-३. इह विवरणसंग्रह-कृतां भारतीर्थानामपि वचनम् अनुसन्धेयं भवति ''तार्किकमते तावद् उत्पन्नं द्रव्यं क्षणम् अगुणम् अक्रियञ्च तिष्ठति इति न्यायेन यौगपद्याभावात् पटस्यैव उपादानत्वसम्भवः, वेदान्तिमते तु तन्तूनाम् उपादानत्वेऽपि कार्यकारणयोः अभेदात् पटगुणत्वं न हीयते'' विवरणप्रमेयसंग्रह : वर्णक १।अनुच्छेद२८/सी. एवं शुद्धाद्वैतवेदान्तिमतेऽपि ब्रह्मतल्लीलयोः कर्तृक्रियारूपयोः अभेदात् सच्चिदानन्दब्रह्मगुणत्वं न हीयते. तदुक्तं ''तदिच्छामात्रतः तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतना सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकाराः

तदिच्छया विस्फुलिंगाइव अग्नेस्तु सदंशेन जडाअपि आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिण:''. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : - १।२७-२९.

४.''एकमेवाद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय'' छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।२-३.

५.''सन्मात्रत्वं च सत्यत्वं 'तत् सत्यम्'इति श्रुत्यन्तरात्... 'ज्ञानं ब्रह्म'इति कर्तृत्वादिकारकनिवृत्त्यर्थं मृदादिवद् अचिद्रूपतानिवृत्त्यर्थं च प्रयुज्यते, 'ज्ञानं ब्रह्म'इति वचनात् प्राप्तम् अन्तवत्त्वं लौकिकस्य ज्ञानस्य अन्तवत्त्वदर्शनाद् अत: तन्निवृत्त्यर्थम् 'अनन्तम्' इति. सत्यादीनाम् अनृतादिधर्मनिवृत्तिपरत्वाद् विशेष्यस्य ब्रह्मण: उत्पलादिवद् अप्रसिद्धत्वात्... शून्यार्थतैव प्राप्ता सत्यादिवाक्यस्य इति चेद् न लक्षणार्थत्वाद् विशेषणत्वेऽपि सत्यादीनां लक्षणार्थप्राधान्यम्. शून्ये हि लक्ष्ये अनर्थकं लक्षणवचनम्. लक्षणार्थत्वाद् मन्यामहे न शून्यार्थता इति''. तैत्तिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य : २।१ .

६.''भेदसहिष्णु: अभेद: तादात्म्यम्''. सुबोधिनी : १।५।२०. तथा अस्मिन् विषये श्रीभारतीर्था: ''नच एकत्वमेव तादात्म्यम् इति वाच्यं भेदाभेदसहं अन्योन्याभावविरोधि तादात्म्यं भेदविरोधि एकत्वम्''. विवरणप्रमेयसंग्रह : वर्णक १।अनुच्छेद २६.

७.इष्टसिद्धि : १।१०९-१११.

८.''तत्सादृश्यम् अभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्था: षट् प्रकीर्तिता:''. दृष्ट.वैयाकरणभूषणसार : - नञर्थ ४१.

९.''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि...रूपाणि ... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मो एक: सन् एतत् त्रयम्''. बृहदारण्यकोपनिषद्: १।६।१-३.

अत्र विवरणप्रमेयसंग्रहोऽपि अनुसन्धेयो भवति ''नच वेदस्य सर्वप्रकाशकत्वे विवदितव्यं पुराणाद्यनेकविद्यास्थानोपबृंहितेन वेदेन अविषयीकृतस्य वस्तुनः सत्त्वे मानाभावात्. नच वेदोपादानत्वम् असिद्धं वेदस्य नामप्रपञ्चपातित्वाद् नामरूपप्रपञ्चोपादानत्वस्य च ब्रह्मणि सर्वोपनिषत्सिद्धत्वात्'' वि.प्र.सं.६।३.

१०.''तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत्. तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौनामा अयं इदंरूप इति''.बृहदारण्यकोपनिषद्: - १।४।७.

११.''अणोः अणीयान् महतो महीयान्'' कठोपनिषद् : १।२।२०, ''यदेकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्'' महानारायणोपनिषद् : १।५, ''बृहच्च तद् दिव्यतरम् अचिन्त्यं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं... दूरात्सुदूरे तदिहान्तके च'' मुण्डकोपनिषद् : ३।१।७, ''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च मर्त्यञ्चामृतञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च''छान्दाग्योपनिषद् : २।३।१, ''यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवद् निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यम् अभवत्'' तैत्तिरीयोपनिषद्: ३।८.

१२.''यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्यते यथा पृथिव्याम् ओषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा अक्षरात् सम्भवतीह विश्वं... तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपम् अन्नं च जायते'' मुण्डकोपनिषद् : १।१।७-९.

१३.''सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूलाः सौम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः'' छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।४.

१४.''सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेवाद्वितीयं कथम् असतः सद् जायेत?'' छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।१-२.

१५.''तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याकरोत्'' बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।७.

१६.''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्'', ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।४ , ३।१४।१

१७.''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म, ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयमात्मा, आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्'' बृहदारण्यकोपनिषद् : १।६।१, ''स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि'' छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।७.

१८.''स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत् सह एतावान् आस'' बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।३.

१९.''सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः'' नृसिंहोत्तरतापन्युपनिषद् : ९।४.

२०.ब्रह्मसिद्धि ब्रह्मकाण्ड कारिका १.

२१.''वेद अहम् एतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते... तम् एवं विद्वान् अमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते'' तैत्तिरीयारण्यक : ३।१२।७.

२२.''सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... इदं सर्वम् असृजत... सच्च त्यच्च अभवद् निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यम् अभवत्. यद् इदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते'' तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६, ''अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् एकः सन् बहुधा विचारः... सर्वे वेदाः यत्र एकं भवन्ति'' तैत्तिरीयारण्यक : ३।११।२०.

२३.''अयं प्रपञ्चो न प्राकृतो नापि परमाणुजन्यो नापि विवर्तात्मा

नापि अदृष्टादिद्वारा जातो नाप्यसतः सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः तादृशोऽपि भगवद्रूपः'' तत्त्वार्थ-दीपनिबन्धप्रकाशः १।२३.

२४.''अज्ञाननाशकं विज्ञानम् आत्मानुभवो भेदनाशकन्तु भगवद्--विज्ञानम्, उभयोः साक्षात्कारे देहाध्यानिवृत्तिः शुद्धाद्वैतं च स्फुरति. तच्च ज्ञानं न विषयविषयिभावेन'' सुबोधिनी : १०।-२।३५, ''यत्तु अद्वितीयं ज्ञानमिति द्वैतनिवर्तकं ज्ञानं तत्त्वम् इति अर्थः. तत्त्वज्ञानं मोक्षइति सर्वजनीनत्वात् श्रुतिस्मृतिपुराणेषु तस्यैव नामभेदः इति आह ब्रह्म इति परमात्मा इति भगवान् इति शब्द्यते, शब्दमात्रं भिद्यते नतु अर्थभेदो अस्ति'' सुबोधिनी : १।२।११.

२५.पाणिनीयसूत्र : १।४।२२.

२६.''एकमेवाद्वितीयम्''. छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।२

२७.''तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''. छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३

२८.''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्'' छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।४

२९.''चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुः ब्राह्मणा ये मनीषिणः गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति'' ऋक्संहिता : १।२२।१६४।४५. ''कतमानि तानि चत्वारि पदानि? ॐकारो महाव्याहृतयः इति आर्षं... मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकी, ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकी...'' निरुक्तनिघन्टु : १३।१।१०.

३०.''परा पश्यन्ति मध्यमा वैखरीति चत्वारीति. एकैव नादात्मिका वाक् मूलाधाराद् उदिता सती 'परा' इति उच्यते... सैव हृदयगामिनी पश्यन्ती इति उच्यते योगिभिः द्रष्टुं शक्यत्वात्. सैव बुद्धिंगता विवक्षां प्राप्ता मध्यमा इति उच्यते... अथ

यदा सैव वक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादिव्यापारेण बहिर्निगच्छति तदा वैखरी इति उच्यते'' ऋक्संहितासायणभाष्य : १।१६४।४५.

३१.''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् उत अमृतत्वस्य ईशानो यद् अन्नेन अतिरोहति, एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुष: पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष: पादो अस्य इह अभवत् पुन:'' ऋक्संहिता : १०।९०।२-४. ''सिद्धान्ते तु चरणस्य ब्रह्मधर्मत्वं... 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि... गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' इति गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यां वक्तुं तस्या: पादचतुष्टयं प्रतिपाद्य ब्रह्मण: चतुष्पात्त्वम् उक्तं पुरुषसूक्तेऽपि आश्रमचतुष्टयस्था: जीवा: पादत्वेन उक्ता:. तथा प्रणवविद्यायामपि अकारौकारमकारनाद-वाच्या: चत्वार: पादा: विश्वतैजसप्राज्ञतुरीया: उक्ता:'' ज्योतिश्चरणाधिकरणाणुभाष्य : १।१।२३.

३२.वाक्यपदीय : १।११०.

३३.''नागमाद् ऋते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्'' वाक्यपदीय : १।३०.

३४.''वाग्रूपता चेद् उत्क्रामेद् अवबोधस्य शाश्वती न प्रकाश: प्रकाशेत सा ह प्रत्यवमर्शिनी'' वाक्यपदीय : १।११६.

३५.''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' तैत्तिरीयोपदिषद् : २।४.

३६.''यद् वाचा अनभ्युदितं... यद् मनसा न मनुते'' केनोपनिषद् : १।४-५.

३७.''ब्रह्म प्रतिष्ठा मनसो ब्रह्म वाच:... तैत्तिरीयब्राह्मण : ३।७।११।१

३८.तैत्तिरीयसंहिता : ७।१४।१.

३९.अथर्वसंहिता : १९।९।४.

४०.बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।९।२६.

४१.''वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो'' भगवद्गीता : १५।१५. ''किं विधत्ते किम् आचष्टे किम् अनूद्य विकल्पयेद् इत्यस्याः हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन. मां विधत्ते ('वाणीयं वेदसंज्ञिता मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः' भाग.११।१४।३) अभिधत्ते मां ('वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानम् अद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' भाग.१।२।११, 'ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणो द्वयोरप्येकएवार्थ 'भगवत्'शब्दलक्षणः' भाग.३।३२।-३२ैकै१४) विकल्प्य अपोह्यते ह्यहम् एतावान् सर्ववेदार्थो शब्द आस्थाय मां भिदां मायामात्रम् अनूद्य अन्ते प्रतिषिध्य ('प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' ब्र.सू.३।२।२२) प्रसीदति'' भागवतपुराण : ११।२१।४२-४३.

४२.''नैवेह किञ्चन अग्र आसीद् मृत्युना ('मृत्युः सर्वहरश्च अहम् उद्भवश्च भविष्यतां' भग.गीता.१०।३४) इदम् आवृतम् आसीद् अशनायया अशनाया हि मृत्युः तद् मनो अकुर्वीत आत्मन्वी स्याम् इति...सो अकामयत द्वितीयो मे आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनम् समभवद्'' बृहदारण्यकोपनिषद्: १।२।१-४.

४३. अत्र भारतीतीर्थोक्तमपि अनुसन्धातव्यं '' 'यो ब्रह्माणं विदधाति' इत्यादिश्रुतौ हिरण्यगर्भोत्पत्तेः प्रागेव वेदसद्भावावगमात्'' विवरणप्रमेयसंग्रह : वर्णक ६।अनुच्छेद ५१. ''शब्दशब्दवत् स्वपरनिर्वाहकेषु अविरोधात्. अतो ब्रह्मवद् वेदस्यापि पर्यालोचनायाम् अनादित्वं पर्यवस्यति. नतु कालीदासादिग्रन्थवत् पौरुषेयत्वम्.नच अनादित्वेऽपि पुराणवाक्यवद् अन्यथासंनिवेशप्रणयनं शंकनीयं नियतक्रमविशिष्टानामेव वर्णपदवाक्यप्रकरणकाण्डादीनां वेदशब्दवाच्यानां कल्पादिप्रलययोरपि आविर्भावतिरो-

भावभाजानां कूटस्थनित्यत्वांगीकारात्...'' तत्रैव अनुच्छेद ९.

४४.''अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् हि अतर्क्यम् अणुप्रमाणाद् नैषा तर्केण मतिः आपनेया'' कठोपनिषद् : १।२-।८-९.

४५.''स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि''. छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।७.

४६.माण्डूक्योपनिषद्भाष्यमंगलाचरण : २.

४७.सिद्धान्तलेशसंग्रह : १।१७

४८.''बाधप्रतियोगित्वस्य सिद्धये तत्प्रतीतिकाले सदसद्वैलक्षण्यांगीकाराद् बाधाद् ऊर्ध्वन्तु भवत्येव शून्यत्वं, विनष्टस्य शून्यतायां कस्यापि अविवादात्'' वि.प्र.सं. : १।७५.

४९.''प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वं... प्रपञ्चनिषेधाधिकरणीभूतब्रह्माभिन्नत्वाद् निषेधस्य तात्त्विकत्वे-ऽपि न अद्वैतहानिकरत्वम्...'' अद्वैतसिद्धि : परिच्छेद १ मिथ्यात्वलक्षण २.

५०.बृहदारण्यकोपनिषद् : १।२।३.

५१.बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१-३.

५२.बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।३.

५३.''स एकधा भवति... सहस्राणि विंशतिश्च'' छान्दोग्योपनिषद् : ७।२६।३.

५४.''स नैव रेमे... स द्वितीयम् ऐच्छत स ह एतावान् आस'' बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।३.

५५.''अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टो नचैतावता शब्दप्रमाणके ह्यर्थे गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसंगात्'' ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य : १।१।७.

५६.''नहीदम् अतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनम् आगममन्तरेण उत्प्रेक्षितुमपि अशक्यं, रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरो

लिंगाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम् इति अवोचाम'' ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यः २।१।११.

५७.''शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः प्रकाशनं न भवति. शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते स्वप्रकाशमपि. स्वप्रकाशत्वमपि तस्य वेदेनैव उक्तम् 'अनुपलब्धे तत् प्रमाणम्' इति न्यायात्. 'पराञ्चि खानि' इति वाक्याद् अनुपलब्धत्वम्. स्वप्रकाशमपि सौरं तेजः दिवाभीतेन न दृश्यते. नच व्यवधानं किञ्चिद् अपेक्ष्यते, इन्द्रियाणामेव अग्राहकत्वात्. नहि आकाशाग्रहणे, चक्षुषा, रसाग्रहणे वा व्यवधायकम् अस्ति. यदपि 'अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव' इति व्यवधानम् उक्तं तदपि स्वप्रकाशस्य सर्वात्मकस्य मनसि चक्षुषि च घटे प्रकाशमानस्य व्यवधायकं न भवति... अतः शब्देनैव ब्रह्मणो भानम्. 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति तु इन्द्रियरूपा वाक् लौकिकः च शब्दः, लौकिकं च मनो; अन्यथा, 'तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'मनसैव इदम् आप्तव्यम्' इति विरुद्धम् आपद्येत. माहात्म्यार्थं वा द्वयम्. उभयमपि शब्दब्रह्मणएव ज्ञायते...'' भागवतसुबोधिनी : ३।१२।४६

श्रीकृष्णाय नमः

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ब्रह्मवादीया विरुद्धधर्माश्रया वादप्रक्रिया

सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधिनम्।
अनन्तमूर्त्यविभक्तं परं ब्रह्म वयं नुमः ॥

(वादसन्दर्भ)

कोई भी वाद वादि-प्रतिवादीके बीच मतभेदके बिना आत्मलाभ नहीं हो पाता. मतभेद भी मतिभेदके बिना शक्य नहीं. मतिभेद प्रकट होता है वादि-प्रतिवादीकी मतिओंमें पनपे प्रत्ययभेदोंके वश. इस प्रत्ययभेदके मूलमें व्यक्तिके प्रत्यक्ष, अनुमान, तार्किक ऊहापोह, प्रत्यक्षजनक इन्द्रियोंकी आनुवंशिक संरचना और पर्यावरण की विभिन्नताओंका होना है.

प्रत्ययभेदकी संरचनाके मूलमें रही इन उपाधि (एक-वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ दूरत्व या सामीप्य आदि सम्बन्धोंके वशात् स्वभिन्न वस्तुमें रहे धर्मान्तरोंसे युक्त होनेके रूपमें अवभासके हेतुओं) का प्रभाव अस्वीकारा नहीं जा सकता. अतएव निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (विशेष्यताशून्य विशेषणताशून्य तथा संसर्गताशून्य) विषयानुभूति स्वतोभासित होनेपर भी, स्वतःसिद्ध तो हो नहीं सकती. "**लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**" के रूपमें 'सिद्धि'के पारिभाषिक होनेके कारण. अतः अनुमानादि प्रमाणोंके आधारपर इसे सिद्ध करना अपरिहार्य बन जाता है. एतदर्थ व्याप्तिज्ञान अनिवार्य होता है. व्याप्तिज्ञानकी घटक 'व्याप्यवस्तु' और 'व्यापकवस्तु' भी प्रत्यक्षगोचर न हो कर शाब्दिक प्रत्ययरूप होती हैं. धूमका वह्निव्याप्यत्वेन निर्विकल्पज्ञान तो सम्भव नहीं सो अनुमानजन्य होनेपर भी सविकल्पकज्ञानका

विषय माननेपर शब्दानुविद्ध ज्ञान या शाब्दिकप्रत्यय हठात् मानना पड़ता है. इसी तरह 'व्यापकवस्तु'त्वेन वह्निका बोध भी शाब्दिकप्रत्यय ही अन्ततः स्वीकारना पड़ता है. इसमें प्रत्यक्षग्राहिका चक्षुआदि इन्द्रियोंकी आनुवंशिक संरचनाका भेद भी हेतु तो बनेगा. उल्लु आदि प्राणी अंधेरेमें देख सकते हैं. उनका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हमारे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जैसा होगा माननेका कोई कारण नहीं. मधुमख्खीओंको माना जाता है कि पराबैंगनी रश्मिओंसे प्रत्यक्ष होता है, जो हमको नहीं होता. वृक्षके पत्र, जिस दिशासे प्रकाशरश्मिका प्रत्यक्ष होता है, उस दिशाके अभिमुख हो जाते हैं. सरीसृप भी उदरश्रवा होते हैं ऐसा आधुनिक विज्ञान मानता है. उनका निर्विकल्पक श्रावण प्रत्यक्ष हमारे नेत्रोंसे होते निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जैसा तो नहीं हो सकता.

फिर भी कुछ प्रत्यय प्रत्यक्षमूलक होते हैं, कुछ अनुमानमूलक या तर्कमूलक भी अथवा शब्दमूलक भी हो सकते हैं, बल्कि होते ही हैं. उदाहरणतया किसी वस्तुके सामने आते ही वह घड़ा है या घोड़ा के रूपमें उसे जो हम पहचान जाते हैं उसमें कारण उनका 'घड़ा' या 'घोड़ा' पदोंके वाच्य होनेका भी बोध सहकारी तो बनता ही है. दो वस्तुओंके बीच कार्य-कारणभावात्मक व्यष्टि-समष्टि-भावात्मक अंशांशिभावात्मक नियत साहचर्यभावात्मक सम्बन्धोंका भी निर्विकल्पक प्रत्यक्षके गोचर होना तो सम्भव नहीं. अतः सविकल्पक प्रत्यक्षका अवलम्बन करनेपर शाब्दिक प्रत्यय होनेमें पर्यवसान होगा ही. स्वयं 'निर्विकल्प-प्रत्यक्ष'रूप विशिष्टपद भी शाब्दिक प्रत्ययरूपेण स्वीकार करना पड़ता है.

कुछ आनुमानिक प्रत्यय भी होते हैं या शुद्ध तार्किक

उदा. क = ख, ख = ग अतः क = ग. $[(P = Q).(Q = R)] \rightarrow (P = R)$.

ये अनुभवनिरपेक्ष तार्किक प्रत्यय माने जाते हैं. किन्तु ऐसे तार्किक या आनुमानिक प्रत्यय भी शब्दवेधरहित तो नहीं होते. अतः सभी प्रकारके ज्ञानोंका शब्दानुविद्ध होना शाप या वरदान जो मानो अपरिहार्य है. एतावता सिद्ध होता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी निरूपाधिक हो नहीं सकता, शब्दोपाधिक होना तो ध्रुव ही है. अनुभवपर अवलम्बित न होनेवाले शुद्ध तार्किक प्रत्यय भी कभी शब्दवेधरहित नहीं होते, ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति पाते हो या नहीं. ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति तो अव्यभिचारी लिंग नहीं होती, मूकाभिनय लिपि नृत्यमुद्रा आदि द्वारा अभिव्यक्ति सम्भव होनेसे. अतएव वेदमें शाब्दिक प्रत्ययके भलीभांति बोधार्थ उसका (१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा (४) वैखरी अवस्थाओंमें विश्लेषण किया गया है. अतएव 'घट'-'कलश' एवम् 'अश्व'-'अर्वन्' ध्वनियोंकी ध्वनिभेदसहिष्णु एकार्थता प्रमाण बनती है.

दो वादि-प्रतिवादिओंके बीच पारस्परिक असहमतिके प्रत्ययका विषय घड़ा या घोड़े के जैसा इन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्य नहीं होता शाब्दिक प्रत्ययरूप ही होता है.

विभिन्न दर्शनोंको अभिमत पदार्थ; पारिभाषिक पदावलीके विषय होनेके कारण स्वविषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्षानुभूतिके गोचर न हो कर शाब्दिक प्रत्यय ही होते हैं. नामशः न्यायमतके प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति निग्रहस्थान या वैशेषिकोंके द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय अभाव अथवा सांख्याभिमत प्रकृति प्रकृतिविकृति विकृति और अप्रकृति-अविकृति पुरुष ऐसे

सभी प्रत्यय मूलतः शाब्दिक प्रत्यय ही होते हैं. इन विभिन्न दर्शनोंद्वारा प्रास्तावित पदार्थोंको मान्य रखनेवाले या अमान्य करनेवाले दर्शनोंमें अभिधानात्मक प्रत्यय दार्शनिकोंको न तो इन्द्रियार्थसत्संप्रयोगसे जनित होते हैं न आनुमानिक केवल शाब्दिक ही लगते हैं.

यों शब्दको प्रमाण माननेवाले या न माननेवाले सभी दर्शनोंको शाब्दिकप्रत्यय तो अनिवार्यतया अंगीकार करने ही पड़ते हैं.

ऐसी स्थितिमें इन्हें शब्दप्रमावृत्तिगोचर मानना अथवा शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यविकल्पवृत्तिका गोचर मानना? अर्थात् प्रमावृत्तिगोचर सत् होता है और विकल्पवृत्तिगोचर पदार्थ असत् होता है. परन्तु पदार्थके स्वतः सत् होनेके कारण उसे गोचर बनानेवाली अनुभूति या बुद्धि 'प्रमावृत्ति' कहलाती है और स्वतः असत् होनेके कारण उसे गोचर बनानेवाली बोधवृत्ति 'विकल्पवृत्ति' होती है. स्पष्ट है न तो प्रमावृत्ति अपने गोचरीभूत अर्थको सत्ताप्रदान करती है न विकल्पवृत्ति असत्ताप्रदान करती है, ये दोनों वृत्तियां केवल ज्ञापकहेतु होती है कारकहेतु नहीं. यह ज्ञापन प्रामाणिक है या अप्रामाणिक इसका निर्धारण स्वयं इन्हीं वृत्तिओंके बलपर करनेपर आत्माश्रय दोष प्रकट होता है. अतः आत्माश्रय अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोषोंके परिहारद्वारा इनका स्वतःप्रामाण्य या परतःप्रामाण्य जो कुछ स्वीकारना हो स्वीकार सकते हैं परन्तु उसका प्रत्यय भी होगा तो शाब्दिक ही.

भारतीय दर्शन हो या पाश्चात्य दर्शन दोनोंमें प्रमाताको स्वतःसिद्ध मानना या प्रमितिको इस विषयमें सुदूर भूतकालसे विसंवादका एक लंबा इतिहास है. पश्चिममें रेने देकार्तेने "**ओम्नीबस दुबितान्दम**" और "**कोजीतो एर्गो सुम**"के सूत्रद्वारा जो प्रमाताके स्वतःसिद्ध

मानना चाहा. उसे परवर्ती चिन्तकोंने केवल व्याकरणशास्त्रीय ''नदी बहती है'' सदृश विवक्षामूलक कर्ता होनेके रूपमें यथावत् स्वीकारनेपर भी तत्त्वशास्त्रीय कर्ताको तो सन्दिग्ध ही माना, जलके बहनेकी क्रियासे पृथक् बहनेवाली कर्त्री नदी सिद्ध न होनेके कारण. भारतीय दर्शनोंमें भी जिन दर्शनोंने अनुभूतिको स्वयंप्रकाश प्रमिति माना अथवा तो सभी प्रमितिओंका परतःप्रामाण्य या स्वतो-अप्रामाण्य स्वीकारा, उनकी भी ऐसी मान्यताओंके प्रत्यय स्वयंप्रकाश अनुभूतिमूलक या स्वतःप्रामाण्यवाली प्रमितिपर अवलंबित नहीं होते. निर्विकल्पक/सविकल्पक प्रत्यक्ष नियतसाहचर्यदर्शनमूलक व्याप्तिज्ञानसे जन्य अनुमानमूलक नहीं परन्तु शाब्दिक प्रत्यय ही होते हैं.

जापानदेशीय ज़ेनमतका एक प्रसिद्ध कोन चुटकुला है कि एक ज़ेन सन्तने रात सपनेमें खुदको तितली बन गया ऐसा अनुभव किया. सुबह परन्तु एक विकराल संशय हो गया कि खुदका ज़ेन सन्त होना तितलीका सपना है या तितली होना खुदका सपना ?

स्पष्ट है कि स्वप्नद्रष्टा हो या जाग्रद्द्रष्टा दोनों ही स्वयंको दृश्यसमष्टिके व्यष्टि-अंशके ही रूपमें द्रष्टृभावापन्न मानता है. दृश्यसमष्टिके अचेतन या अचेतनवत् होनेके भावकी प्रबलताके वश ही भगवत्पाद शंकराचार्य ''**युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः**'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।१) कहते हैं 'इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोः'' कहनेके बजाय. द्रष्टृदृश्यभावात्मक सम्बन्धका एक दूसरा यह भी आयाम उभरता है कि द्रष्टाकी दृष्टि अज्ञान, संशय, विपर्यास, निश्चय, स्मृति या स्वप्न रूपिणी होनेके अनुव्यवसायमें आपाततः केवल कमसे कम निश्चयात्मिका तो अधिकाधिक स्मृत्यात्मिका दृष्टि बन कर द्रष्टृबाह्य दृश्यवस्तुकी सत्ताको इंगित करती है.

अन्यथा असत्ता सन्दिग्धसत्ता सत्ताभास या असद्भावापन्न सत्ता का ही बोध होता है. अतः ज़ेनके स्वप्नदर्शनके बाद जाग्रद्दर्शनमें प्रतीत होती सत्ता भी अविश्वसनीय लगने लगती हैं यथा : १. **''प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवत् ''** २. **''ये ये प्रत्ययाः ते ते निरालम्बाः प्रत्ययत्वात् स्वाप्निक प्रत्ययवत् ''** (द्र.ब्र.सू.शां.भा.२।२।२९).

इन द्विविध आयामोंके दर्शन करनेपर संभावनाओंका एक त्रिकोण उभरता है :

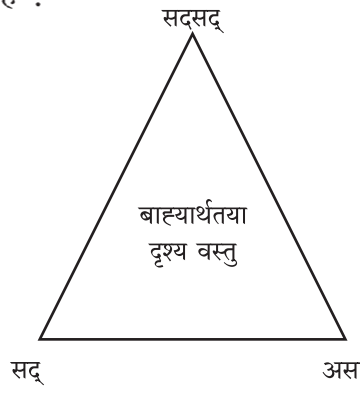

इस त्रिकोणमें उलझी हमारी चेतना निश्चयात्मिका अभिमतिके अभाववश वस्तुतथताके बारेमें तीनों कोटियोंके निषेधद्वारा चौथी या पांचवी कोटि की भी उद्भावना करके या तो एक चतुष्कोण या पंचकोण घड़ लेती है :

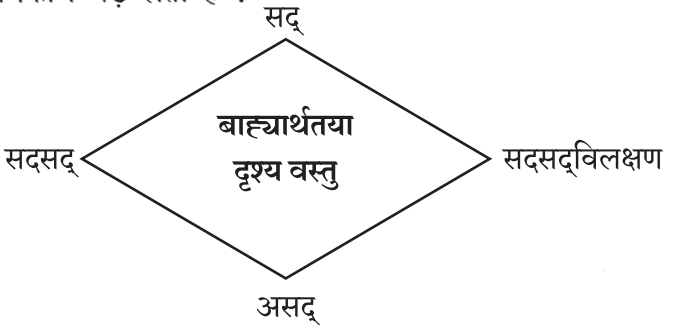

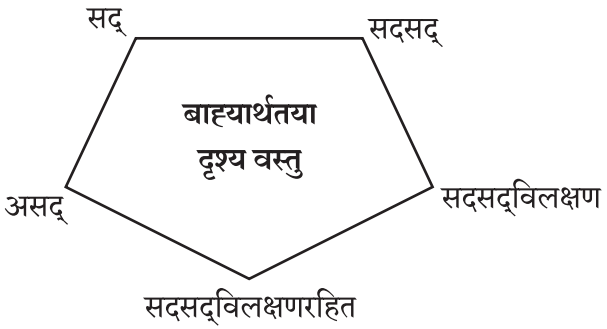

इन परस्परनिरासक अनेकविध सम्भावनाओंमें वास्तविकता जो कुछ हो, इनमें से किस सम्भावित कल्पमें, हमारी द्रष्टृभूत चेतनाका अन्तर्भाव मानना या नहीं मानना ऐसा एक विकराल विकल्पप्रश्न उठ खड़ा होता है.

तदनुसार यदि अन्तर्भाव मानते हैं तो या तो अभेद अन्यथा भेद सिद्ध होता है. अंशतः औपाधिकप्रत्यक्षवश या भ्रान्तिवश अन्तर्भाव होनेपर भी वस्तुतः अन्तर्भूत न होनेवाले अन्य दो या तीन कल्प – भेदाभेद भेदाभेदविलक्षण और न भेद, न अभेद, न भेदाभेद, न भेदाभेदविलक्षण यों ऐसी सभी कल्पनाओंसे अतीत शून्य स्वीकारा जा सकता है. इस तरह एक चतुष्कोणको दूसरे चतुष्कोणसे या पंचकोणसे गुणनप्रक्रियासे संयोजित करनेपर परन्तु प्रतिपादनसुविधार्थ चार गुने चार करनेपर सोलह विकल्प सामने लाना उचित होगा :

(१) बाह्यार्थसद्वाद :

१. द्रष्टृचेतना-भिन्नत्ववाद = सांख्याभिमतप्रकृतिपुरुषभेदवाद

२. द्रष्टृचेतना-अभिन्नत्ववाद = भौतिकवादका एकतम प्रकार

३. द्रष्टृचेतना-भिन्नाभिन्नत्ववाद = भौतिकवादका ही दूसरा प्रकार

४. द्रष्टृचेतना-भिन्नाभिन्नत्वविलक्षणवाद = शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद

(२) बाह्यार्थअसद्वाद :

५. द्रष्टृचेतना-भिन्नत्ववाद = बिशपबर्कले और ब्रेडले का आभासवाद

६. द्रष्टृचेतना-अभिन्नत्ववाद = माध्यमिकोंके ऊपर आरोपित शून्यवाद (neither mind nor matter)

७. द्रष्टृचेतना-भिन्नाभिन्नत्ववाद = अनेकान्तवादान्तर्गत अन्यतमनय

८. द्रष्टृचेतना-भिन्नाभिन्नत्वविलक्षणवाद = विकल्पवृत्तिगोचर / स्याद्वादान्तर्गत अवक्तव्यत्वनय

(३) बाह्यार्थसदसद्वाद :

९. द्रष्टृचेतना-भिन्नत्ववाद = नित्यचेतनावादी न्याय वैशेषिक मीमांसा आदि

१०. द्रष्टृचेतना-अभिन्नत्ववाद = भौतिकवादका तीसरा प्रकार

११. द्रष्टृचेतना-भिन्नाभिन्नत्ववाद = जैनोंके सप्तभंगीन्यायके अन्यतम नयमें समाविष्ट

१२. द्रष्टृचेतना-भिन्नाभिन्नत्वविलक्षणवाद = विकल्पवृत्तिगोचर कल्प / स्याद्वादान्तर्गत अवक्तव्यत्ववाद

(४) बाह्यार्थसदसद्विलक्षणवाद :

१३. द्रष्टृचेतना-भिन्नत्ववाद = शांकरवेदान्त

१४. द्रष्टृचेतना-अभिन्नत्ववाद = क्षणिकविज्ञानवाद

१५. द्रष्टृचेतना-भिन्नाभिन्नत्ववाद = विकल्पवृत्तिगोचर- कल्प / स्याद्वादान्तर्गत अवक्तव्यत्ववाद

१६. द्रष्टृचेतना-भिन्नाभिन्नत्वविलक्षणवाद = अज्ञेयवाद इमान्युएल

कान्टको अभिमत जैसा.

ऐसा तो सोच भी नहीं सकते कि विश्वके सभी दार्शनिक प्रत्ययोंका इन सोलह सम्भावित कल्पोंके भीतर समावेश हो सकता है. फिरभी बहुत सारी प्रमुख धारणाओंका समावेश सोचा जा सकता है. इस प्रतिपादनका आग्रहिलतया अभिप्राय यह नहीं कि समावेश सम्भव है अथवा नहीं. अभिप्रेत, परन्तु, यह है कि ये सोलहके सोलह कल्प केवल शाब्दिक प्रत्यय हैं कुछ प्रमावृत्तिगोचर हों या कुछ विकल्पवृत्तिगोचर!

अतः नैयायिकोंकी तर्जपर कहना हो तो **''सर्वं प्रमेयम् अभिधेयत्वात्''** और रामानुजीय श्रीवेदान्तदेशिककी तर्जपर कहना हो तो **''अवाच्यं वाच्यमिति वा वस्तुनि प्रतिपद्यते वाच्यमेव भवेद् वस्तु 'वाच्यावाच्य'वचोन्वयात्''** (न्या.सि.३।४६) कहा जा सकता है. अतः प्रत्ययोंके प्रात्यक्षिक (empirical) तार्किक (logical) और शाब्दिक (verbal) प्रभेदके आधारपर प्रात्यक्षिक प्रत्यय या तार्किक प्रत्यय का भी अशाब्दिक होना कथमपि उपपन्न नहीं होता.

यद्यपि आधुनिक युगके महान दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल और फादर कॉपल्स्टन् के बीच गॉड्के अस्तित्वके विवादमें एक यह अड़ंगा खड़ा हो गया था कि जिस पदके अर्थका शृंगग्राहिकावृत्तिद्वारा (verification) साक्षाद् ग्रहण शक्य न हो ऐसे 'गॉड्'(GOD) सदृश पद खुदके अर्थके ज्ञापक होनेपर भी वस्तुसत्ताके ग्राहक न हो कर पदघटक अवान्तरपदोंका अर्थहीन संयोजन होते हैं, 'वर्तुल-त्रिकोण' या परीकथाओंके नायक-नायिकाके जैसे शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्य विकल्पवृत्तिके गोचर. कोई भी इसे इन्कार तो नहीं सकता परन्तु फिरभी विकल्पवृत्तिगोचरार्थके ज्ञापक प्रत्ययोंका शृंगग्राहिकावृत्तिद्वारा साक्षाद् ग्रहण न हो पाना हेतु पर्याप्त नहीं लगता, क्योंकि निर्दिष्ट

सोलहके सोलह प्रत्ययोंके अर्थोंका ग्रहण और तन्मूलक वाद/विवाद उनके विकल्पवृत्तिगोचरार्थके ज्ञापक प्रत्ययोंकी तरह न तो अर्थहीन माने जा सकते हैं और ना साक्षाद्ग्रहण (verification) ही संभव है इनका.

अतः वाक्यपदीयकार भर्तृहरिकी घोषणा **''न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते, अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते''** (वाक्यप.१।११५(१२३)) जैसे ही यह भी कहा जा सकता है ''न सोऽस्ति प्रत्ययः शाब्दः यः सत्त्वानुगमाद् ऋते''. अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रामाण्यवादी या सन्मात्रग्राहि प्रत्यक्षवादी शांकर या पाश्चात्य लोजिकल् पोज़िटिविस्ट् सदृश दार्शनिकको स्वस्वमतज्ञापक पद-प्रत्ययार्थका शृंगग्राहिकावृत्तिसे साक्षाद् ग्रहण न भी होता हो फिरभी उन्हें ''शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यविकल्प''वृत्तिका गोचर या अर्थहीन तो माना नहीं जा सकता.

कुछ इसी तरहके तात्पर्यवश ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषद् भी कहते हैं :

१. **''तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि''** (बृह.उप.३।९।२६) २. **''अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् हि अप्रतर्क्यम् अणुप्रमाणात्''** (कठोप.१।२।८) ३. **''नैषा तर्केण मतिः आपनेया''** (कठोप.१।२।९) ४. **''नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा, 'अस्ती'ति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते''** (कठोप.२।३।१२) ५. **''असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेद् अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः इति''** (तैत्ति.उप.२।६). निष्कर्षतया 'ब्रह्म' पदार्थ या प्रत्ययार्थ का निषेध स्वव्याहत माना गया है.

और ब्रह्मवादका वादसन्दर्भ यही है सो ब्रह्मवादकी वादभूमिकी ओर अब अग्रसर हुआ जा सकता है.

(वादभूमि)

जैसा कि निरूपित किया गया 'ब्रह्म' एक शाब्दिक प्रत्यय (verbal concept) है. प्रात्यक्षिक (empirical), आनुमानिक (inferential) तार्किक (logical) नहीं. और यह 'ब्रह्मता' पूर्णता समग्रता का केवल पर्याय नहीं है अपितु देशतः कालतः और स्वरूपतः परिच्छेदरहितताके अभिप्रायवश प्रयुक्त होता है. सत्ता और चेतना के अथवा अचेतनक्रिया और निष्क्रियचेतना के प्रत्यय देशतः कालतः स्वरूपतः अपरिच्छिन्न समष्टिमें इतरेतरविरोध प्रकट किये बिना सामानाधिकरण्य या एकनीडता पा लेते हैं. अतएव ऐसे इस 'ब्रह्म'प्रत्ययगोचर तत्त्वको अकल्प्य-अवाच्य माना जाये अथवा कल्प्य-वाच्य माना जाये? उभयथा स्वीकारना पड़ता है उभयविध पदोंके प्रयोगवशात्. जैसाकि हम कह चुके कि **''न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते''** **''न सोऽस्ति शब्दवाच्यो हि यः सत्त्वानुगमाद् ऋते''** न्यायेन अंगीकार करना पड़ता है. सत्त्वानुगमवशात् सद्वस्तुके प्रतीयमान नाम रूप कर्मों के विकल्पोंके साथ सद्वस्तुका द्वैत या अद्वैत ऐकान्तिक नहीं लगता. ऐसे ही चेतनाके बारेमें प्रतीत होती स्वस्वेतर नाम रूप कर्म के बारेमें प्रकट होते स्फुरण संशय निश्चय भ्रम स्वप्न स्मरणादि से जन्य विकल्पात्मिका मति भी न तो ऐकान्तिक द्वैत या ऐकान्तिक अद्वैत की गवाही देती है.

कोई भी विवाद या संवाद बुद्धिगत तत्तत् प्रत्ययोंके भेदके बिना शक्य नहीं, यह प्रत्ययभेद भी सद्वस्तु और उनकी स्फुरणामें प्रतीत होते विकल्पोंके बिना शक्य नहीं. विकल्प भी सद् वस्तुमें नाम रूप कर्मों के भेद बिना शक्य नहीं. ऐसे ही मतिमें भी अस्फुरण सन्देहात्मकस्फुरण निश्चयात्मकस्फुरण भ्रमात्मकस्फुरण स्वाप्निकस्फुरण या स्मृत्यात्मकस्फुरण के बिना शक्य नही. आत्मचेतना

भी ऐकान्तिक अद्वैत या ऐकान्तिक द्वैत के प्रत्ययोंमें गृहीत नहीं होती. अतएव सत्ता या सद्वस्तु की समग्रता पूर्णता या त्रिविधपरिच्छेदरहितता की स्फुरणा प्रात्यक्षिक तार्किक या आनुमानिक नहीं प्रत्युत शाब्दिक होती है. पूछा जा सकता है कि किसी भी आंगिक अवयवोंसे घटित अवयवीके प्रत्यक्षसाहचर्यवश आंगिक अवयवोंके अवभासित होने पर भी अनवभासित अवयवीका अनुमान होता ही है. अतः सत्ता या सद्वस्तु की पूर्णता समग्रता या त्रिविध अपरिच्छिन्नताके प्रत्ययको आनुमानिक क्यों नहीं मानना? अवयव-अवयवीके नियतसाहचर्यके अनुभवमें त्रिविध परिच्छेदग्रस्त अवयवीका व्याप्तिदर्शन गृहीत होनेपर भी त्रिविधपरिच्छेदरहित समग्रता या पूर्णता के प्रत्यय त्रिविधपरिच्छिन्न सद्वस्तुके व्यापकतया निःसन्देह गृहीत नहीं हो पाता. सन्दिग्ध व्याप्तिके वश होती अनुमिति भी निश्चयाकारवाली न हो कर संशयाकार ही होगी, क्योंकि वर्तमान सद्वस्तु तो त्रिविधपरिच्छेदसे ग्रस्त ही अनुभूत होती है. वह भूतकालमें या भविष्यकालमें कभी त्रिविधपरिच्छेदरहित होगी ही ऐसा निश्चयेन नहीं कहा जा सकता. अतः ब्राह्मिकी समग्रता या पूर्णता का प्रत्यय न तो प्रात्यक्षिक न तार्किक और न आनुमानिक संभव हो सकता है. अतः हमारी मतिमें जो भासित हो रहा है वह शाब्दिक प्रत्यय ही है.

ऐसी स्थितिमें क्या इसे शाब्दीप्रमागोचर प्रत्यय मानना या ''शब्दज्ञानानुपाती-वस्तुशून्यविकल्पवृत्ति'' का गोचर मानना? यह वस्तुशून्यता भी पुनः केवल बाह्य देशकालवर्ती वस्तुसे शून्य या बाह्याभ्यन्तर देशकालवर्ती वस्तुसे शून्य मानना?

पाश्चात्य दार्शनिक डेविड् ह्यूमूके तर्कका विचार करें कि 'क'का कारण 'ख', 'ख'का कारण 'ग', 'ग'का कारण 'घ',

'घ'का कारण 'ङ'. ये पूरी कारणशृंखलाकी गवेषणा करनेके बाद 'क' से 'ङ' पर्यन्त कारणशृंखलाके कारणकी गवेषणार्थ किसी भी बौद्धिक प्रत्ययका औचित्य नहीं रह जाता. इसी तरह ब्रह्मरूप समग्रता या पूर्णता के प्रत्यय भी अनुचित ही लगने लगेंगे.

यहां भी पुनः यही विचारणीय बन जाता है कि ''ब्रह्मताका प्रत्यय अनुचित है'' ऐसा विधानात्मक प्रत्यय भी किसी भी इन्द्रियसे गोचर तो नहीं होता, सो प्रात्यक्षिक तो हो नहीं सकता. अतः अवशिष्ट तार्किक या आनुमानिक मानें तो पुनः व्याप्तिग्रहणकी विकराल समस्या तो यथावत् असमाहित ही रहती है. अतः इसे शाब्दिक प्रत्यय स्वीकारने हठात् बाधित होना पड़ता है. सो ब्रह्म शब्दप्रमैकगम्य है यह सिद्ध होता है. आधुनिक विज्ञानमें GUT (grand unification theory) प्रत्यय शाब्दिक है. इसे औत्प्रेक्षिक (hypothetical) भी मान कर चलें परन्तु इस उत्प्रेक्षामें भी उसके सत् होनेकी कथा भी सदोत्प्रेक्षित रहेगी, असत् होनेकी नहीं. वही बात 'ब्रह्म' रूपी प्रत्यय पर भी लागू होगी.

और ऐसी स्थितिमें उत्प्रेक्षाभासित पदार्थका वस्तुशून्यविकल्पवृत्ति भासित होना नियत नहीं. यहां तक पहुचने पर ऐसी समग्रता/ब्रह्मता देश-काल-वस्तुपरिच्छेद से ग्रस्त पदार्थोंके इतरेतरपरिहारात्मक विरोधका भी इस त्रिविधपरिच्छेदरहितमें विरोधोपशम अर्थात् इतरेतर अपरिहार भी स्वीकारना ही पड़ता है. इसे महाप्रभु वल्लभाचार्य (वि.सं.१५३५-८७) ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयता (coincidentia oppositorum) के रूपमें प्रतिपादित करते हैं. भागवतपुराणमें इसीका निरूपण इन शब्दोमें किया गया है :

''नहि विरोध उभयं भगवति अपरिगणितगुणे ईश्वरे

अनवगाह्य-माहात्म्ये अर्वाचीन-विकल्प-वितर्क-विचारप्रमाणाभास- कुतर्क-शास्त्र-कलिलान्तःकरणाश्रय-दुरवग्रहवादिनां विवादानवसरे उपरतसमस्तमाया-मये केवल आत्ममायाम् अन्तर्धाय कोनु अर्थो दुर्घटइव भवति स्वरूपद्वयाभावात्. समविषममतीनां मतम् अनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्. सएव पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्वभूतप्रत्यगात्म-त्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षितः एकएव पर्यवशेषितः''.

(भाग.पुरा.६।९।३६-३८).

सहज सम्भव है कि मानवीय मति इस तरहके प्रत्ययोंके स्वोत्प्रेक्षित होनेसे भागवतप्रतिपादितको विकल्पवृत्तिगोचर न भी माने पर प्रमागोचर भी मानने तैयार नहीं होगी. अतएव महाप्रभुसदृश सभी वेदान्तिओंका यह दृढ़तर अभिमत है कि 'ब्रह्म' श्रुत्यादिशास्त्रोंके शब्दोंसे जन्य ही प्रत्यय है. अतएव भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ब्रह्मको अवाच्य माननेके बावजूद ''रूपाद्यभावाद्धि न अयम् अर्थो प्रत्यक्षगोचरः लिंगाद्यभावात् च न अनुमानादीनामिति आगममात्रसमधिगम्यएव अयम् अर्थो'', ''नहि इदम् अतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनम् आगममन्तरेण उत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्.'' (ब्र.सू.शां.भा.२।१।६,२।१।११) विधान करना पड़ा. ऐसे ही महाप्रभु भी ''नतु तथापि काचिद् वेदानुसारिणी युक्तिः वक्तव्या शास्त्रसाफल्याय इति चेद्, उच्यते, विरोधएव न आशंकनीयो वस्तुस्वभावाद् अयस्कान्तसन्निधौ लोह परिभ्रमणे या युक्तिः... रेतसो मयूरत्वादिभावे वा. नहि सर्वत्र स्वभावदर्शनाभ्याम् अन्या उपपत्तिः कैश्चिदपि शक्यते वक्तुम्'' (ब्र.सू.अणुभा.१।२।३२) विधान करते हैं.

अतः उपनिषदोंमें जब अवाच्य भी कहा जाता हो और वाच्य भी तो विरुद्धधर्माश्रयतया उभयविध ब्रह्मको स्वीकार लेना चाहिये. इसे बुद्धचारूढ़ करना हो तो सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा प्रयुक्त सर्वरूपता, जिसमें सर्वकी परस्परविरुद्धरूपता और ऐसे सर्वरूपोंके

आश्रयकी एकाद्वितीयताकी धारणा आधार बन पाती है. सर्वोपादान सर्वकर्ता ब्रह्मकी सर्व उपादेय-कार्यरूपोंमें व्याप्य = अनुस्यूत होनेपर भी उपादान-कर्तृतया व्यतिरिक्तता अर्थात् सर्वसमत्वेऽपि सर्वातीतता के विचारको बुद्धचारूढ़ बनाया जा सकता है.

इसी विरुद्धधर्माश्रयताके तात्पर्यवश भागवतपुराणमें "कति तत्त्वानि?" प्रश्नके समाधानरूपेण ये भगवद्वचन उद्धृत हुए हैं :

"युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणाः यथा मायां मदीयाम् उद्गृह्य वदतां किन्नु दुर्घटम्! नैतद् एवं यथा आत्थ त्वं, यद् अहं वच्मि तत् तथा, एवं विवदतां हेतुः शक्तयो मे दुरत्ययाः, यासां व्यतिकराद् आसीद् विकल्पो वदतां पदम्... परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां, पुरुषर्षभ!, पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथावक्तुः विवक्षितम् एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानि इतराणि च पूर्वस्मिन्न वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः. पौर्वापर्यम् अतो अमीषां प्रसंख्यानम् अभीप्सतां यथाविविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवम्".

(भाग.पुरा.११।२२।४-९).

अतएव उद्धवकी दूसरी शंका - **"प्रकृतिः पुरुषश्च उभौ यद्यपि आत्मविलक्षणौ अन्योन्याश्रयात्, कृष्ण!, दृश्यते न भिदा तयोः. प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथा आत्मनि"** (भाग.पुरा.११।२२।२६) के समाधानतया भगवान् कृष्णका उत्तर **"प्रकृतिः पुरुषश्च इति विकल्पः, पुरुषर्षभ!, एष वैकारिको सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः...योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः, प्रधानमूलाद् महतः प्रसूतः. अहं त्रिवृद् मोहविकल्पहेतुः वैकारिकस्तामसः ऐन्द्रियश्च आत्मा परिज्ञानमयो विवादो ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठो व्यर्थोऽपि नैव उपरमेत पुंसां मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात्"** (भाग.पुरा.११।२२।२९-३३) अर्थात् 'प्रकृति' और 'पुरुष' प्रत्ययोंके

इतरेतर विकल्प एक निर्विकल्प परमात्मामें सामानाधिकरण्यको भी निभाते होनेसे वहां एकीभावापन्न हो जाते हैं. ब्रह्मताका प्रत्यय सर्वविधप्रत्ययोंका स्वान्तर्भावकारी प्रत्यय है. अर्थात् 'प्रकृति'का अर्थ ब्रह्मका सदंश इसी तरह 'पुरुष'का अर्थ ब्रह्मका चिदंश. अंशी सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्माद्वैतमें ''प्रकृति ब्रह्म है'' ऐसे उद्देश्यविधेयभावात्म-कभेद भी प्रकट नहीं करता. अतएव महाप्रभु वल्लभाचार्य कहते हैं :

''ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद्॥
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः''॥
(पत्राव.३).

क्योंकि ब्राह्मिकी सच्चिदानन्दता अखण्ड एकरसात्मिका होती है. अतः उद्देश्य-विधेयभावमूलक वाक्यार्थका विषय बन नहीं सकती ''घटो घटः''की तरह, उद्देश्यीभूत प्रथम 'घट'पद और विधेयभूत द्वितीय 'घट'पद में पार्थक्य भासित न होनेके कारण वाक्यार्थबोध नहीं केवल पदार्थबोध ही बच जाता है **''पदम् अभ्यधिकाभावात् स्मारकाद् न विशिष्यते''**न्यायेन. अतः ब्रह्मको उद्देश्य बना कर जो भी विधेयपद प्रयुक्त किया जाये उसका अर्थ ब्रह्मसे भिन्न हो तो 'ब्रह्म'पद अपार्थक सिद्ध होगा और ब्रह्म ही हो तो पदार्थस्मारण सिद्ध होता है वाक्यार्थबोध नहीं, ''राहोः शिरः''की तरह भेदारोपणद्वारा वाक्यरचनाको शक्य और सार्थक मानने पर भी केवल वाचारम्भणरूप शाब्दिक व्यवहारार्थ वह वाक्य उपपन्न होता है.

यह अनिर्वाच्य ब्रह्मकी लोकव्यवहारतः भेदघटित वाच्यता ही **''वाचारम्भणं 'विकारो'नामधेयं 'मृत्तिका'इत्येव सत्यम्''** (छान्दो.उप.६।१।४) श्रुतिमें निरूपित अवाच्यके वाच्यीभवनकी प्रक्रिया

है. इसे "राहोः शिरः"की तरह आरोपित तब मानी जा सकती है जब आरोपाधिष्ठान और आरोप्यमाण के बीच परस्पर द्वैत सिद्ध हो पाता हो. अन्यथा निर्विकार अद्वयकी स्वतः स्वात्मिका विकारभावापत्तिको स्वीकारे बिना कोई गति ही नहीं रह जाती.

अतएव भागवतपुराणमें "**आसीद् ज्ञानम् अथो ह्यर्थः एकमेव अविकल्पितं...तद् मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत् तयोः एकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सा उभयात्मिका ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते**" (भाग.पुरा.११।२४।२-४) इस ज्ञानज्ञेयात्मना आत्मविभाजकका निरूपण हम पाते हैं. एक ओर भागवतके वचनमें भी "**ब्रह्मणे अनन्तशक्तये अगुणाय अविकाराय नानावादानुरोधिने वाच्यवाचकशक्तये... नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये...निगमाय**" (भाग.पुरा.१०।१६।४०-४४) यही स्फुट किया गया है. अतएव "**तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**"-"**अनन्यप्रोक्ते गतिः अत्र नास्ति अणीयान् अप्रतर्क्यः**" (बृह.उप.३।९।२६-कठोप.१।२।८) स्फुट हो जाता है.

अतः ब्रह्मवादीया वादप्रक्रियाको 'विरुद्धधर्माश्रया' कहनेका अभिप्राय इतरेतरपरिहारक प्रात्यक्षिक या तार्किक प्रत्ययोंके आलम्बनीभूत गुणधर्मोंका 'एकमेवाद्वितीयं'ब्रह्ममें अविरोधेन अवस्थानमें पर्यवसित होनेवाला ब्राह्मिक प्रत्यय होता है.

(वादप्रक्रिया)

अतः ब्रह्मवादीया वादप्रक्रियाके आधारपर ब्राह्मिक प्रत्ययके परमात्मीभवन, पारमात्मिक प्रत्ययके भागवतप्रत्यय तक के आत्मविकसन "**वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानम् अद्वयं 'ब्रह्म'इति 'परमात्मा'इति 'भगवान्'इति शब्द्यते**" (भाग.पुरा.१।२।११)में अन्तरायरूप सन्देहोंके

वारणार्थ महाप्रभु वल्लभाचार्य कुछ वादनिकष यों प्रस्तुत करते हैं :

विविदिषाकाल या विवादयिषाकाल में उपयोगी निकष :

प्रथम वादनिकष :

''वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तत् चतुष्टयम्।।
उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम्।।
अविरुद्धन्तु यत्तु अस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा।।
एतद्विरुद्धं यत् सर्वं न तन्मानं कथञ्चन।।
अथवा सर्वरूपत्वाद् नामलीलाविभेदतः।।
विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि''।।
''एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं (सत्) प्रमाजनकम्''

(त.दी.नि.१।७-९, त.दी.नि.प्र.१।७).

इस निकषके भलीभांति विमर्शके हेतु सबसे पहले 'ब्रह्म' 'परमात्मा' 'भगवान्' और 'कृष्ण' के तत्त्वात्मना अवबोधसे पहले इनका शाब्दिक प्रत्ययके रूपमें परामर्श लेना आवश्यक है. तदनुसार -

ब्रह्म = सच्चिदानन्दाद्वैत :

१) **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.२।१).

२) **''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति...इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत् निरुक्तं च अनिरुक्तं च...विज्ञानं च अविज्ञानं च...''** (तैत्ति.उप.२।६).

३) **''यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभ्युद्यते ...यद् मनसा न मनुते येन आहुः मनो मतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि''** (केनोप.१।४-५).

४) ''अनन्यप्रोक्ते गतिः अत्र नास्ति, अणीयान् हि अप्रतर्क्यम् अणुप्रमाणात्. नैषा तर्केण मतिः आपनेया'' (कठोप.१।२।८-९).

५) ''सदेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति'' (छान्दो.उप.६।२।१-३).

परमात्मा =

१) ''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म...ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा एकः सन् एतत् त्रयम्'' (बृह.उप.१।६।१-३).

२) ''तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौनामा अयम्'-'इदंरूपम्' इति स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने अवहितः स्यात्. विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये...अत्र हि एते सर्वे एकी भवन्ति'' (बृह.उप.१।४।७).

३) ''एतद् ज्ञेयं नित्यमेव आत्मसंस्थं...भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममम् एतत्'' (श्वेता.उप.१।१२).

४) ''यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुः. यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः'' (बृह.उप.३।७।१५).

भगवान् =

१) ''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ज्ञानवैराग्ययोः चैव षण्णां 'भग' इति ईरणा'' (विष्णुपुरा.६।५।७४).

२) ''वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानम् अद्वयं 'ब्रह्म'इति 'परमात्मा'इति 'भगवान्'इति शब्द्यते...सएव इदं ससर्ज अग्रे भगवान् आत्ममायया सदसद्रूपया च असौ गुणमय्या अगुणो विभुः...जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः सम्भूतं षोडशकलम् आदौ लोकसिसृक्षया'' (भाग.पुरा.१।२।११,३०,१।३।१).

कृष्ण =

१) ''**अवताराः हि असंख्येया हरेः सत्त्वनिधेः, द्विजाः!, यथा अविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ऋषयो मनवो देवाः मनुपुत्राः महोजसः कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः. एते च अंशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान स्वयम्**'' (भाग.पुरा.१।३।२६-२८).

इन चतुर्विध 'ब्रह्म' 'परमात्मा' 'भगवान्' 'कृष्ण' के शाब्दिक प्रत्ययोंके बारेमें महाप्रभुका कहना है कि ''**वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा 'ब्रह्म'इति 'परमात्मा'इति 'भगवान्'इति शब्द्यते... निर्गलितवस्तुज्ञापकं लिंगं 'ब्रह्मे'त्यादि पदं तत्र तत्र सिद्धम्**'' (त.दी.नि.१।६).

अतः इन चतुर्विध प्रत्ययोंके तुलनात्मक परामर्श करनेपर यह बात उभर कर सामने आती है : 'ब्रह्म' रूपी श्रौत प्रत्यय इतरनिरपेक्ष अखण्डाद्वैतबोधक एक श्रौत प्रत्यय है. 'परमात्मा' प्रत्यय इस ब्रह्ममें ब्रह्मसृष्ट सृष्टिको पुर बना कर वहां प्रविष्ट होनेवाला सृष्टि सापेक्ष प्रत्यय है. 'भगवान्'प्रत्यय तो ब्रह्मात्मिका सृष्टि, जो सृष्ट्यन्तःस्थित परमात्मासे नियंत्रित है और जिसमें ऐश्वर्यादि षड्गुण तिरोहित हैं, ऐसी उस सृष्टिसे अतीत किसीके, अध्रुव ऐश्वर्यादि छह लौकिक गुणोंसे भिन्न, ध्रुव दिव्य गुणोंवाला होनेका प्रत्यय है. अतः 'कृष्ण' = (ब्रह्म + परमात्मा + भगवान्)का एकीकृत भागवत प्रत्यय है. महाप्रभु कहते हैं ''**सएव कदाचिद् जगदुद्धारार्थम् अखण्डः पूर्णः प्रादुर्भूतः सन् 'कृष्णः' इति उच्यते**'' (त.दी.नि.प्र.१।१). यों चारों ही प्रत्यय प्रात्यक्षिक आनुमानिक या तार्किक प्रत्यय नहीं माने जा सकते हैं. केवल शास्त्रीय शब्दोंसे पारिभाषित प्रत्यय हैं. इनकी क्रमिकता और एकार्थबोधकता के बारेमें जो भी असंभावना या विपरीतभावना की आशंका या विमति प्रकट हो सकती है, उसका समाधान प्रात्यक्षिक या तार्किक उपपत्ति या अनुपपत्तिके

आधारपर परामर्श शक्य न होनेसे श्रुति गीता ब्रह्मसूत्र भागवत की एकवाक्यताके आधारपर ही युक्तायुक्तका निर्धारण शक्य है. एतदर्थ उत्तरोत्तर प्रमाणचतुष्टयी पूर्वपूर्व शास्त्रप्रतिपादित प्रत्ययोंके बारेमें उठती असंभावना विपरीतभावना के निवारक होते माने गये हैं.

जो प्रत्यय जिस प्रमितिमें उभरता हो उसके याथार्थ्यका निर्णय उसी प्रत्यक्ष तर्क अनुमिति या शाब्दी आदि प्रमाद्वारा असंभावना या विपरीतभावना की उपपत्ति या अनुपपत्ति के विमर्शद्वारा हो सकता है. अतएव प्रत्यक्षग्राह्य बाह्यार्थवस्तु विषयक लक्षण या प्रत्यय का याथार्थ्य, प्रत्यय और प्रत्याय्य पदार्थकी नियत ज्ञाप्य-ज्ञापकता और जन्य-जनकता पर अवलम्बित होता है. इस व्याप्तिमें अतिव्याप्ति अव्याप्ति या असंभव दोषोंका उत्थापन और निरसन भी प्रत्यक्षमूलक ही उपयुक्त होगा.

ठीक इसी तरह शाब्दिक प्रत्ययके परामर्शमें भी प्रत्ययजनक पद और पदार्थज्ञापक प्रत्यय के बारेमें असंभावना या विपरीतभावना की आपत्ति या परिहार भी शाब्दी मीमांसापर ही अवलम्बित मानना न्यायोचित होगा. इस विषयमें प्रत्यक्ष या तर्क मूलक बाध अप्रसक्त है. इसे भगवत्पाद शंकराचार्यने भी बहुत प्रभावी शब्दोंमें स्वीकारा है : **''तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैः 'अस्ति-नास्ति'-'कर्ताऽकर्ता' इत्यादि विरुद्धं बहु तर्कयद्भिः आकूलीकृतः शास्त्रार्थः. तेन अर्थनिश्चयो दुर्लभः. येतु केवलशास्त्रानुसारिणः शान्तदर्पाः तेषां प्रत्यक्षविषयइव निश्चितः शास्त्रार्थो देवताविषयः''** (बृह.उप.शां.भा.१।४-।७). अतः कभी प्रत्यक्ष या तर्क से विरुद्धता लगनेपर भी निर्धारणीय यही होना चाहिये कि ऐसे विशिष्ट शब्दका तात्पर्य प्रत्यक्ष या तर्क से विरुद्ध पदार्थके बारेमें विवक्षित है या नहीं?

अब यदि विवक्षित है तो प्रबल प्रामाण्य किसका प्रत्यक्षका

या तर्कका होगा या शाब्दिक प्रत्ययका? स्पष्ट है कि शाब्दिक प्रत्ययोंद्वारा अवभासित पदार्थ यदि प्रत्यक्षगोचर या तर्कगोचर हो तो इन दोनोंके प्रबल प्रामाण्यका प्रसंग उठ सकता था; किन्तु, प्रत्यक्षागोचर या तर्कागोचर पदार्थ हो तो इनसे गोचरीभूत न होनेके केवल हेतुवश शाब्दिक प्रत्ययको विकल्पवृत्तिका गोचर ठहराया नहीं जा सकता. अतएव दूसरा निकष इस बारेमें महाप्रभुके अनुसार यों प्रस्तावित है :

द्वितीय वादनिकष :

किसीभी प्रत्ययकी अपने प्रत्याय्य पदार्थकी अज्ञापकतामें हेतु न्यायमतसिद्ध लक्षणके दोष : १.अतिव्याप्ति २.अव्याप्ति ३.असम्भव दोष या पंचविध हेत्वाभास ही हो सकते हैं. यहां, परन्तु, एक आवश्यकतया अवधेय यही है कि ये त्रिविध लक्षणदोष या पंचविध हेतुदोष भी प्रत्यक्ष या तर्क द्वारा निर्धारणीय न हो कर शब्दोपात्त ही होने चाहिये. उदाहरणतया श्रुतिमें आता है कि भृगु ब्रह्मको जाननेके लिए जब अपने पिता वरुणके पास गये तो वरुणने ब्रह्मको **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.३।१) यों सुपरिभाषित किया. तदनुसार भृगुको जो प्राथमिक बोध हुवा वह यों निरूपित हुवा **''अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्''** (तैत्ति.उप.३।२) क्योंकि **''अन्नाद्धचेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते. अन्नेन जातानि जीवन्ति. अन्नं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति तद् विज्ञाय''** (तैत्ति.उप.३।२) ब्रह्मकी परिभाषा अन्नपर लागू होती देख कर अन्नको ब्रह्म समझा गया. अब या तो अन्नको ब्रह्म मानना पड़ेगा या ब्रह्मात्मक. श्रुतिमें आता है कि **''तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः(ब्रह्मणः) आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथ्वी, पृथिव्याम् ओषधयः ओषधीभ्यो अन्नम्''** (तैत्ति.उप.२।१) अतः अन्नको

स्वयं कारणभूत ब्रह्म न मान कर कार्यभूत ब्रह्म मानना पड़ेगा. अन्यथा ब्रह्मके लक्षणकी अन्नमें लक्षणदोषरूपा अतिव्याप्ति माननी पड़ेगी. अन्नकी भूतजनकता भूतजीवनहेतुता और अन्तमें प्राणीकी कथंचित् पुनः भोग्यान्नभावापत्ति प्रत्यक्षदृष्ट होनेके कारण प्रत्यक्षतः अन्नकी ब्रह्मता अर्थात् सत्यज्ञानानन्तरूपता दृष्टिगोचर न होनेपर भी ब्रह्मात्मकता श्रुतिप्रमित स्वीकारनी पड़ेगी. इसी तरह अन्नके बाद जो प्राण मन विज्ञान और आनन्द में उत्तरोत्तर ब्रह्मलक्षणकी अन्विति और ब्रह्मता निर्दिष्ट हुयी है, वहां भी इसी तरहका संशय प्रकट हो सकता है और उसका निराकरण भी यों ही शक्य है. ब्रह्मता और ब्रह्मात्मकता के बीच प्रकट होता भेदसहिष्णु-अभेदरूप 'तादात्म्य' कहो 'ऐतदात्म्य' कहो **''वाचारंभणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्''** (छान्दो.उप.६।१।४) श्रुतिमें घोषित हुवा है, प्रत्यक्ष या तर्क से अबाध्य.

इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रत्यक्ष और श्रुति में ही नहीं अपितु स्वरूपलक्षण और कारणलक्षण प्रतिपादक श्रुतियों भी विरोधाभास प्रकट हो रहा है. अतः अन्नादिको उद्देश्य बना कर उनके ब्रह्म होनेके विधानोंमें 'ब्रह्म'पदका अभिहितार्थ लेना या गौणार्थ लेना? इस दुविधाके समाधानार्थ यह सोचनेको बाधित होना पड़ता है कि जब 'ब्रह्म' स्वयं प्रात्यक्षिक प्रत्यय न हो तो अन्नकी ब्राह्मिकता प्रत्यक्षगोचर केसे हो पायेगी? अतः स्वरूपेण ब्रह्मरूप न होनेपर ब्रह्मोपादानकतया अन्न ब्रह्मात्मक=तत्तादात्म्यभावापन्न है.

इसके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि महाप्रभुके अनुसार वेदान्तवाक्यार्थकी मीमांसामें **''श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्''** (जैमि.मी.सू.३।३।१४) का निकष अपेक्षित होनेपर

भी इनका पारस्परिक प्राबल्य-दौर्बल्य उचित नहीं माना गया है, अन्यतमकी दुर्बलतामूलक एकवाक्यता नहीं प्रत्युत समबलतामूलक एकवाक्यताके तर्कणीय होनेके रूपमें! ये यद्यपि पूर्वमीमांसाके द्वारा प्रस्तावित वादविधिका निकष है, परन्तु; क्योंकि, वहां **''आम्नायस्तु क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्...''**, **''...स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः''** (जैमि.मी.सू.१।२।१,१।२।७) की प्राग्धारणाके वश साध्यार्थबोधनमें ही श्रुतिवचनका तात्पर्य या प्रामाण्य स्वीकारा गया है, परन्तु, भागवतमें कर्ममीमांसाके अन्तर्गत विहित-निषिद्ध कर्मोंकी गुणदोषरूपताके विमर्शमें प्रश्न **''विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हि ईश्वरस्य ते अवक्षते, अरविन्दाक्ष!, गुणं दोषं च कर्मणाम्. गुणदोषभिदादृष्टिः निगमात् ते नहि स्वतो, निगमेन अपवादः च भिदायाः इति हि भ्रमः** समाधान**मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते तु अहम् एतावान् सर्ववेदार्थः शब्दे आस्थाय मां भिदाम्''** (भाग.पुरा.११।२०।१-५, ११।२१।४२) एतावता सिद्ध होता है वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म, कर्ममीमांसोपयोगी विधेय अभिधेय विकल्प्य या अपोह्य रूपी प्रभेदके अवलम्बनद्वारा प्रतिपाद्य न हो कर सर्वविधतया प्रतिपाद्य है. यह धर्मोपदेशमें अप्रसक्त होनेपर भी ब्रह्ममीमांसामें ग्राह्य बन जाता है.

फिरभी वेदान्तदर्शन, क्योंकि, प्रत्यक्षोत्प्रेक्षा या तार्किकोत्प्रेक्षा मूलक नहीं प्रत्युत श्रौतादि शास्त्रीय वाक्यार्थोंकी मीमांसा है. अतः पूर्वमीमांसानिर्दिष्ट तात्पर्यनिर्धारक लिंगोंको वेदान्तवादमें भी अवश्य उपादेय माना गया है.

तृतीय वादनिकष :

''उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥''
(बृहत्संहितायां क्वचित्)

इन शाब्दिक षड्विधलिंगोंके परामर्शके आधारपर शाब्दिक प्रत्ययद्वारा विवक्षित पदार्थके बारेमें असंभावना-विपरीतभावनाओंकी उपपत्ति या अनुपपत्ति विचारणीय तो बनेगी ही. श्रुतिलिंगप्रकरणादिमें जैसे पारदौर्बल्यका सिद्धान्त अभ्युपगत है, वैसे उपक्रमादि षड्विध तात्पर्यलिंगोंमें पारप्राबल्यका सिद्धान्त भी "**उपक्रमादिलिंगानां बलीयो ह्युत्तरोत्तरः**" (द्रष्ट.सर्वदर्श.सं-ग्र.व्या.५ पूर्णप्रज्ञ.दर्श.) फिर भी महाप्रभुके अनुसार परस्पर विरोधाभास उपलब्ध होनेपर भी समप्राबल्य मान कर चलना ही सिद्धान्तित है.

उल्लेखनीय हो जाता है कि प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतामूलक व्याख्याके सन्दर्भमें महाप्रभु यह विविदिषा या विवादयिषा कालके निकषतया ही प्रस्तावित करना चाहते हैं. इनकी एकवाक्यताके आधारपर ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रयतया विवक्षित होना जान लेनेपर या अंगीकार करते ही प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापादिका व्याख्यामें इतरेतर-विरुद्धार्थप्रतिपादकता भी प्रामाणिक प्रतिपादन होनेकी पदवीसे च्युत नहीं हो पाती. ऐसी स्थितिमें प्रत्यक्षद्वारा बाधिततया प्रतीत होती अन्नकी ब्रह्मता भी वस्तुतः बाधित नहीं मानी जा सकती. अतः मुख्यार्थबाधमूलक यहां गौणार्थकल्पनाके बजाय ब्रह्मकी अन्नरूपताको प्रत्यक्षगोचर माननेपर भी अन्नकी ब्रह्मरूपताको श्रुत्येकगोचर मान लेना अभिप्रेत लगता है, अतः गौणार्थकल्पनाकी अपेक्षा रह नहीं जाती.

अतएव श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं "**एवं पूर्णज्ञानोदयावधि यद् ग्राह्यं प्रमाणत्वेन तद् निरूप्य तदनन्तरं यत् प्रमाणं तद् आह 'अथवा सर्वरूपत्वाद् नामलीलाविभेदतः विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि'. 'अथवे'ति वाङ्मात्रमेव प्रमाणम्, अर्थस्य भगवद्रूपत्वाद्... विरुद्धवाक्यत्वे-नैव परस्परं भासमानेषु अविरोधप्रकारम् आह...विरुद्धांश-परित्यागो द्वेधा**

वक्तव्यो भगवत्सामर्थ्येन अलौकिकप्रकारेण, भगवतः सर्वरूपत्वेन वा. अतो युक्तएव अविरोधः'' (त.दी.नि.प्र.१।९). शांकर वेदान्तमें ''अथ एवं विरुद्धार्थानुपपत्तेः प्रामाण्यव्याघातः इति चेद्; न, कल्पनान्तरोपपत्तेः अविरोधात्. उपाधिविशेषसम्बन्धवशाद् विशेषकल्पनान्तरम् उपपद्यते... उपाधिवशात् संसारित्वं न परमार्थतः स्वतो असंसार्येव. एवम् एकत्वं नानात्वं च हिरण्यगर्भस्य. तथा सर्वजीवानां 'तत् त्वम् असि' इति श्रुतेः हिरण्यगर्भस्तु उपाधिशुद्ध्यतिशयापेक्षया प्रायशः परएवेति श्रुतिस्मृतिवादाः प्रवृत्ताः... जीवानान्तु उपाधिगताशुद्धिबाहुल्यात् संसारित्वमेव प्रायशो अभिलप्यते. व्यावृत्त-कृत्स्नोपाधि-भेदापेक्षयातु सर्वः परत्वेन अभिधीयते श्रुतिस्मृतिवादे'' (बृह.उप.शां.भा.१।४।७) कहा गया है. यहां शांकर और वाल्लभ वेदान्तके प्रस्थानोंके बीच वैमत्य प्रकट हो जाता है. वाल्लभ वेदान्तके अनुसार यह भेदक उपाधि ब्रह्माद्वैतकी निरासिका यदि हो तो ब्रह्मवादमें प्रतिषेध्य होगी, ब्रह्मस्वरूपविरोधिनी होनेके कारण. और अनिरासिका हो तो स्वयं ब्रह्म ही स्वभाव या स्वसामर्थ्य वशात् एकानेकभावापन्न होता है, ऐसा मानना अनन्यप्रमाणरूपा श्रुतिद्वारा ही सिद्ध हो जायेगा.

यही बात उपनिषद् तथा भागवत में भी अनेकधा प्रतिपादित हुयी है :

''अणोः अणीयान् महतो महीयान् आत्मा... आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुम् अर्हति'' (कठोप.१।२।२०,२१).

ब्रह्मकी ऐसी विरुद्धधर्माश्रयता एकतर धर्मको गौण मान कर भी उपपन्न हो सकती है या नहीं? एतदर्थ इसे भागवतपुराणके पूर्वोदाहृत ''अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवद् इह गुणविसर्गपतितः

स्वकुशलाकुशलम् उपददाति आहोस्विद् आत्मारामः उपशमशीलः समञ्जसदर्शनः उदास्ते इति ह वाव न विदामः. नहि विरोधः उभयं भगवति अपरिगणितगुणगणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये अर्वाचीनविकल्प-वितर्क-विचार-प्रमाणाभास-कुतर्कशास्त्र-कलिलान्तःकरणाश्रय- दुरवग्रहवादिनां विवादानवसरे उपरतसमस्तमायामये केवल आत्ममायाम् अन्तर्धाय को नु अर्थो दुर्घटइव भवति स्वरूपद्वयाभावात्. समविषममतीनां मतम् अनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियां सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षितः एकएव पर्यावशेषितः'' (भाग.पुरा.६।९।३५-३८)

भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य भी अतएव कहते हैं ''भृत्येतु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वाद् उपपन्नो गौणः 'आत्म'शब्दो 'ममात्मा भद्रसेनः' इति. अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टइति नच एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसंगात्'' (ब्र.सू.शां.भा. १।१।७).

अतएव शास्त्रतात्पर्यनिर्णायक वादकी प्रक्रियामें महाप्रभु भी कहते हैं ''अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते तपसा वेदयुक्त्यातु प्रसादात् परमात्मनः. नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः. ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्... नच विरुद्धवाक्यानां श्रवणात् तन्निर्धारार्थं विचारः कर्तव्यः, उभयोरपि प्रामाणिकत्वेन एकतरनिर्धारस्य (कर्तुम्) अशक्यत्वात्. अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावात्'' (ब्र.सू.अणुभा.१।१।१), ''अन्ये पुनः श्रुत्यनुवादकम् आहुः सर्वज्ञत्वाय श्रुत्यनुसार्यनुमानं च ब्रह्मणि प्रमाणम् इति. तत्तु 'तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति केवलोपनिषद्वेद्यत्वाद् उपेक्ष्यम् अनधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रमाणस्य. मननिदिध्यासनयोः श्रवणांगत्वं सन्देहवारकत्वाद् शास्त्रस्यापि तदंगत्वम्'' (ब्र.सू.अणुभा.१।१।२).

यहां इस युक्तिके सन्दर्भमें भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके दो विधान भी तुलनार्थ उल्लेखनीय हैं ''एतदेव अनुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वसाधनं मन्यन्ते ईश्वरकारणिनः. ननु इहापि तदेव उपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे; न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्. वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते. वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृता हि ब्रह्मावगतिः न अनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृता. सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदाढर्च्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवद् न निवार्यते; श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्य अभ्युपेतत्वात्. तथाहि : 'श्रोतव्यो मन्तव्यः'इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेव उपसम्पद्येत एवमेव इह आचार्यवान् पुरुषो वेद'इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यम् आत्मनो दर्शयति. न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादयएव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायां किन्तु श्रुत्यादयो अनुभवादयश्च यथासम्भवम् इह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वात् च ब्रह्मज्ञानस्य. कर्तव्ये हि विषये न अनुभवापेक्षा अस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।१) इससे विपरीत ''यदुक्तं परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयुः इति तदपि मनोरथमात्रं, रूपाद्यभावाद्धि न अयम् अर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः लिंगाद्यभावाच्च न अनुमानादीनाम् आगममात्रसमधिगम्यएवतु अयम् अर्थो धर्मवत्'' (ब्र.सू.शां.-भा.२।१।६).

कथमपि इस विषयमें प्रकट होती असंभावना या विपरीतभावना सम्बन्धी उपपत्ति या अनुपपत्ति का शब्दमूलक होना तो अपरिहार्य ही रहता है.

चतुर्थ वादनिकष :

इस तरह देखा जा सकता है कि शब्दोंमे भासित होते विरोधाभासका परिहार प्रत्यक्ष या तर्क के आधारपर लक्षणा या गौणी वृत्तिके समाश्रयणद्वारा युक्त नहीं. इसी तरह स्वयं शास्त्रवचनोंके आपसी

विरोधाभासके परिहारार्थ भी लक्षणा या गौणी वृत्तिका समाश्रयण योग्य नहीं माना गया. एतदर्थ महाप्रभुने शब्दव्याख्यामूलक दर्शनोंके लिये मानकका निरूपण करते हुवे वाक्योंके परस्पर एकदूसरेको एकदूसरेका शेष मान कर गौणार्थ या लक्षणा को भी निषेधार्ह माना है. "**प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः परस्परं विरुद्धाः ते न एकशेषं भजन्ति हि. उभयोः वैदिकत्वेन कः स्याद् अत्र नियामकः? विचारकाणां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा. क्रियाविद्यापरत्वेतु विकल्पेन एकवाक्यता. दुष्टोऽपि आश्रियते पक्षो विकल्पाख्यः श्रुतेः बलात्. तथैव भगवद्रूपं यथा हस्तादयः पृथक्. यथा सर्वाविरोधः स्यात् तथैव अत्र विचारणम्. सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते अन्यथा प्रतिभानं यद् उच्चनीचादिभेदतः तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः. यत् किञ्चिद् दूषणं तु अत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयं विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते 'यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम् इति'**" (भाग.सुबो.२।९।३२).

पञ्चम वादनिकष :

श्रौत प्रत्यय रूपी पूर्वकाण्डीय धर्म और उत्तरकाण्डीय ब्रह्म के बारेमें प्रकट होती सारी असंभावना और विपरीतभावना के निवारणार्थ अनुष्ठेय वादके बारेमें एक ५ वां निकष महाप्रभुके अनुसार यह है कि वेदांगोंके अनुसार ही वेदार्थका निर्धारण करना चाहिये. क्योंकि मूलतः वेद चतुर्विध पुरुषार्थोंका प्रतिपादन करना चाहता है. उनमें मोक्ष दुःखाभावरूप होता है और सुख स्वर्गादिरूप होता है. इनके अंगतया धर्म पुरुषार्थ प्रतिपादित हुवा है. आत्मचिन्तन भी एक उच्चतर प्रकारका धर्म ही है. अतएव ज्ञानको स्वतन्त्र पुरुषार्थ स्वीकारा नहीं गया है. अर्थको परम्परया धर्मका साधनरूप पुरुषार्थ माना गया है. यों साक्षात्-परम्परया चार पुरुषार्थोंका स्वरूप मान्य है. यज्ञयागादिरूप धर्म काम पुरुषार्थका साधन; और, ज्ञानसहित कर्म मोक्ष पुरुषार्थका साधन बन जाता है. मूलमें साधनरूप एवं

फलरूप उभयविध परब्रह्म श्रीहरि ही बनते हैं. अतः वेदादि शास्त्रोंके अनुसार उन्हें अभिव्यक्त करनेपर सर्वविध पुरुषार्थ सिद्ध हो पाते हैं (द्रष्ट.त.दी.नि.२।१६-१७). ऋषिगण कर्म और ब्रह्म दोनोंके ही अनेकानेक प्रकारोंका निरूपण करते हैं. उनकी एकवाक्यताके सम्पादानार्थ प्रयत्न न किया जाये तो पारस्परिक विरोधाभासवश सभी अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेंगे. अतः सांग वेदोद्दिष्ट पदार्थोंके बारेमें उन्हें श्रद्धापूर्वक अध्ययन करनेवालेको यद्यपि किसी प्रकारका सन्देह नहीं होता, फिरभी उद्दिष्ट पदार्थोंका लक्षण-परीक्षण कर लेनेपर निश्चय सुदृढ़ हो जाता है. अतः महर्षि जैमिनिने पूर्वकाण्डपर तथा महर्षि बादरायणने उत्तरकाण्डपर सूत्रोंका निर्माण किया. अतः तदनुसार ही पूर्वोत्तरकाण्डीय वचनोंका आशय निर्धारित करना चाहिये. इनके अनुसार आशयनिर्धारण करनेपर ही सर्ववेदार्थका परिज्ञान भलीभांति शक्य हो पाता है (द्रष्ट.त.दी.नि.२।२८-३१). इसके बाद वेदोंकी ही तरह नित्य-काम्य-विकृतके प्रभेदवश पुराण भी धर्मार्थकाममोक्षकी पुरुषार्थचतुष्टयीके साथ भक्तिरूप पंचम पुरुषार्थके प्रतिपादक माने गये हैं. पुराणोंके ज्ञान बिना सर्वमौढ्य प्रकट हो जाता है. क्योंकि श्रुति-स्मृति पुरुषार्थचतुष्टयके बोधार्थ नेत्ररूपा मानी गयी हैं तो पुराण हृदयरूप माने गये हैं. सृष्टिके सारे पदार्थोंका ज्ञान पुराणोंके आधारपर ही होता है. अतएव रामायण-महाभारत भी इतिहासप्रतिपादक होनेके कारण पंचविध पुरुषार्थोंके यथार्थ स्वरूपनिर्धारणमें अपरिहार्य होते हैं (वहीं). स्वयं उपनिषद् ही "**नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः आथर्वणः चतुर्थम्, इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः**" (छान्दो.उप.७।१।४) वचनमें 'वेदानां वेद' पदप्रयोग कर विशेषता प्रकट करते हैं. भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य भी "**महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य**" (ब्र.सू.शां.भा.१।१।३) निरूपणद्वारा औपनिषदिक पदार्थोंके

याथार्थ्यनिर्धारणमें इनका अंगभाव स्वीकारते ही हैं.

व्याख्याशास्त्रीय वादके निकषभूत इन पांच अंगोंके निरूपणके बाद अब इस तरहकी श्रौती वादप्रक्रियाके हेतु समयबन्धनार्थ महाप्रभुका एक 'पत्रावलम्बन' नामक स्वतन्त्र लघुग्रन्थ जो काशीमें श्रीविश्वनाथजीके मन्दिरकी दीवारपर महाप्रभुने चोंटा दिया था, उसमें से प्रस्तुत चर्चामें उपयोगी कुछ अंश यहां संकलित करना चाहूंगा :

(उपक्रमः)

''लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः ।।
लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिको बोध्यते यथा ।।१।।
लोके शब्दार्थसम्बन्धो रूपं तेषां च यादृशम् ।।
न विवादः तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिः तथा भवेत् ।।२।।
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित् ।।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः ।।३।।
ये धातुशब्दाः यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः ।।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित् ।।४।।
.....
एकार्थता तु सर्वत्र विशेषोऽप्युच्यते स्फुटः ।।

(वेदार्थस्वरूपविचारः)

तत्र संशयमापन्ना बुद्धिर्वाक्यार्थनिर्णये ।।
एकवाक्यत्वसन्देहाद् ऐकार्थ्याभावतः स्फुटम् ।।१८।।
स एको अर्थो अत्र वक्तव्यो यच्छरीरप्रवेशतः ।।
एकार्थतां श्रुतिर्याति तदभावे तु निष्फला ।।१९।।
कुण्ठितैव भवेद् नूनं.....।।
एवं पूर्वर्षिभिः प्रोक्तं जैमिनिः प्रथमं स्वयम् ।।

निश्चित्य लोकशिक्षार्थम् अर्थप्राधान्यतस्तथा ॥२१॥
धर्मं विचारयामास प्रामाण्यादिपुरस्सरम् ॥

(वेदवेदान्तयोः अभेदो भेदो वेति शङ्कासमाधाने)

सन्देहस्तु पुनर् जातो वेदान्तेषु यथा पुरा ॥२२॥
एकवाक्यत्वम् एषां हि धर्मकाण्डे कथं भवेत् ॥
धर्मः पञ्चविधो द्वेधा षड्भिः सम्पद्यते तु सः ॥२३॥
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-विभेदतः ॥
सर्वो वेदः तेषु लीनो वेदान्तेषु विचार्यते ॥२४॥
'यदेव विद्यये'[१]त्याह 'ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ'[२]एव च ॥
तज्ज्ञानं तेषु हि प्रोक्तं कर्तृशेषाः ततस्तु ते ॥२५॥
'ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यानि'[३] इति यथा तथा ॥
फलश्रुत्या पूर्वकाण्डसमाप्त्या च अवगम्यते ॥२६॥
'ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति'[४], 'परं वाप्नोति'[५] कुत्रचिद् ॥
'वेदम् अनूच्य आचार्य...'[६] इति उक्तोपनिषद्वचः ॥२७॥
शास्त्रान्तरेऽपि एवमेव वैदिकानां मतं तथा ॥
अतः स्वतन्त्रता वाच्या तथा चेद् नैकवाक्यता ॥२८॥
'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'[७] इत्यादिश्च विरुद्धचते ॥
वैदिकानाम् अभिध्यानं स्वरादिनियमैः युतम् ॥२९॥
वेदाएव नचान्यार्था वाच्या बुद्धिमता क्वचित् ॥

(१.छान्दो.उप.१।१।१०, २.ऐत.आर.३।९।६,
आप.श्रौ.सू.३।१८।१, ३.भाग.पुरा.७।१५।२,
४.मुद्र.उप.३।२।९, ५.द्र. : तैत्ति.उप.२।१।१,
६.तैत्ति.उप.१।११।१, ७.मनुस्मृ.२।६)

(तत्र समाधानम्)

अतः कृतापि जिज्ञासा कुण्ठितैव भवेद् ध्रुवम् ॥३०॥

अनारभ्याधीतगार्ह्यस्मार्ताइव भवेद् यदि।।
प्रक्रिया महतां वृत्तिः स्वातन्त्र्यं चात्र तेन न।।३१।।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं श्रेयः स्मार्तं न वैदिकम्।।
पुरुषेक्षावशेनैते साध्यसाधनतां गताः।।३२।।
अलौकिको हि वेदार्थः प्रमाणान्तरगो नहि।।
परमात्मविचारेण ते चत्वारो ह्यलौकिकाः।।३३।।
धर्मे ब्रह्मणि च प्रोक्ताः फलत्वेन तथैव ते।।
'विराजम् अभिसम्पद्यते'[१] 'वसीयान् भवति'[२]
'कामुकाः एनं स्त्रियो भवन्ति'[३] 'प्रजापतेरेव सायुज्यम् उपैति'[४]
'यः एवं वेद प्रतितिष्ठति अन्नवान् अन्नादो भवति
महान् भवति प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन'[५].

(१.तैत्ति.संहि.७।१।१।१, २.तैत्ति.संहि.३।१।७।४,
३.तैत्ति.संहि.६।१।६।६, ४.शतप.ब्रा.१२।१।३।२,
५.तैत्ति.उप.३।६)

(उपसंहारः)

श्रीकृष्णस्य प्रसादेन मायावादो निराकृतः।।३४।।
अवैदिको, महादेवः तत्र साक्षी न संशयः।।
ये वैदिकाः महात्मानः तेषां चानुमतिस्तथा।।३५।।
अवेदविद् न मनुते मया चोपेक्षितः पुनः।।
स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः।।३६।।
काशीपतिः त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु।।
कस्यचित्त्वथ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा।।३७।।
न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानाम् इयं गतिः।।
डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि।।३८।।
विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः।।"

कुल मिला कर इस सारे प्रतिपादनका फलितार्थ यही है कि व्याख्याशास्त्रीय वादमें इन सभी शास्त्रवचनोंकी परस्पर आन्तर एकवाक्यताके सम्पादनार्थ साधक-बाधक उपपत्तियों और अनुपपत्तियों का महत्त्व रहता ही है.

षष्ठ वादनिकष :

इन विभिन्न आर्ष शास्त्रोंकी आन्तर संगतिकी तरह वेद गीता ब्रह्मसूत्र और भागवत रूपी प्रमाणचतुष्टयीको उपलक्षण मान कर चलें तो वेदमें बहुभवनेच्छामूलक भेदप्रधान ब्रह्मकी अविद्यारूपा स्वर्गादिफलप्रदा कर्मशक्ति और वेदान्तमें स्वरूपैक्यमूलक अभेदप्रधान ज्ञानरूपा मोक्षफलप्रदा विद्याशक्ति यों एकाकी ब्रह्मकी द्विविध शक्तियोंका निरूपण माननेपर दोनोंकी आन्तरिक एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है. अन्यथा परस्परविरुद्धार्थ प्रतिपादकतया दोनों ही सुन्दोपसुन्दन्यायसे एकदूसरेके प्रामाण्यके अपहारक बन जायेंगे : **''सन्देहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात् तदुद्भवः विरुद्धशास्त्रसम्भेदाद् अंगैश्च अशक्यनिश्चयः. तस्मात् सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः. अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थाद् मध्यमश्च तथादिमः. असंदिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणाखननवद् मतः मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे, दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम्(सन्देहवारणं + दृढता) सन्देहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनां क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती संदिह्येते परस्थिते. उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत्. वेदेन बोधितं तद्धि नान्यथा भवितुं क्षमः. नहि श्रुतिविरोधोऽस्ति कल्प्योऽपि न विरुद्धयते, सर्वभावसमर्थत्वाद् अचिन्त्यैश्वर्यवद् बृहत्''** (ब्र.सू.अणुभा.१।१।१,१।१।२). अतः पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के निकष उभयसाधारण होनेपर भी कुछ अपना-अपना वैशिष्ट्य भी बनाये रखते हैं.

इसी तरह भगवद्गीता भी अपने सूत्र-वृत्ति-भाष्योपम तीन

षट्कोंद्वारा सांख्य-योग भक्ति रूपी पुरुषार्थत्रयीके अलावा वेदादिगुह्य प्रपत्तिरूप पुरुषार्थोंके भी प्रतिपादनद्वारा अर्जुनके व्याजसे सभीके उद्धारार्थ उपदिष्ट शास्त्र है. यही उसकी आन्तरिक संगति या एकवाक्यताका स्वरूप है : ''**सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतया उदितः ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः. स इदानीन्तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः**'' (त.दी.नि.२।६२-६४).

ब्रह्मसूत्रोंकी आन्तरिक एकवाक्यता अनेकविध श्रुतिवचनोंके अधिकरणात्मक वादोंमें प्रतिपाद्य न्यायोंके प्रभेदके बावजूद प्रमाण=समन्वय प्रमेय=अविरोध साधन तथा फल के प्रतिपादक चार अध्यायोंमें केवल एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके चतुर्विध रूपोंका प्रतिपादन तात्पर्यविषयीभूत है : ''**कर्मवद् ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः. तेषां भिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीति हि कर्मशाखागताः चक्रे निर्णयः पृथगेव हि. असन्दिग्धोऽपि वेदार्थः स्थूणाखननवत् कृतः. मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयं(सन्देहाभावो दार्ढ्यं) जैमिनिः कर्मतत्त्वज्ञो निर्णयः पूर्वम् उक्तवान् व्यासः स्वयं हि सर्वज्ञः उत्तरे निर्णयं जगौ. उभयोर्हि परिज्ञाने सवेदार्थनिर्णयः**'' (त.दी.नि.२।२८-३१).

इसी तरह भागवत पुराणमें भी अभीष्ट आन्तरिक एकवाक्यताके निदर्शनार्थ महाप्रभु कहते हैं ''**शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये वाक्ये पदे अक्षरे एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते**'' (त.दी.नि.३।१।३) अर्थात् उपनिषदुक्त ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति**'' (तैत्ति.उप.३।१) ब्रह्मके लक्षणको भूतल पर प्रकट होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी उत्पत्ति=सर्ग-विसर्ग, स्थिति=स्थान-पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा-निरोधरूपा षड्विध प्रभेदोंके साथ और प्रयन्ति=मुक्ति और संविशन्ति=आश्रयभावापत्ति यों

दशविध लीलाओंमें समन्विति दिखानेके लिये है. यह भागवतपुराणकी आन्तरिक एकवाक्यता है. इसी तरह अन्य भी पुराणोंमें उट्टंकनीय मान लेनी चाहिये.

यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है कि जैसे मीमांसासूत्रमें **''श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्''** (जैमि.मी.सू.३।३।१४) कहा है. मीमांसामें 'पारदौर्बल्यम्' मानें श्रुतिसे लिंग, लिंगसे वाक्य, वाक्यसे प्रकरण, प्रकरणसे स्थान, स्थानसे समाख्या को दुर्बल माने गये हैं. जबकि इसके विपरीत वाल्लभवेदान्त, शास्त्रार्थसे स्कन्धार्थ, स्कन्धार्थसे प्रकरणार्थ, प्रकरणार्थसे अध्यायार्थ, अध्यायार्थसे वाक्यार्थ, अन्तमें श्रुतिस्थानीय पदार्थ और उसके भी घटक अक्षरार्थको गौणार्थक किये बिना यथाश्रुत अभिहितार्थको ले कर भी उस अभिहितार्थ शास्त्रार्थरूप कृष्णसे भिन्नतया प्रतीत होनेपर भी सर्वत्र श्रीकृष्णके तादात्म्यवश और लीलेच्छाप्रयुक्त भेदवशात् भी भिन्नतया प्रतीत होता स्वीकारा गया है. अतः शास्त्रार्थकी तुलनामें स्कन्धार्थसे ले कर पदार्थ अक्षरार्थों को निर्बल स्वीकारा गया है. इसमें मुख्यतया अवधारणीय तथ्य यही है कि श्रीमहाप्रभुके अनुसार श्रीमद्भागवत महापुराण रूपी सम्पूर्ण शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय या अर्थ परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं. जैसाकि कहा गया है **''श्रीकृष्णं परमानन्दं (शास्त्रार्थः) दशलीलायुतं (स्कन्धार्थः) सदा (लीलावतीर्णरूपेण अनवतारकाले नामात्मकभागवतरूपेण) सर्वभक्तस-मुद्धारे (तत्तत्-प्रकरण-वर्णित-भक्तोद्धारोपाख्यानविषयत्वेन) विस्फुरन्तं परं नुमः...भागवतार्थः तादृशो वक्तव्यो यो द्वादशस्कन्धार्थेषु अनुस्यूतो भवति. एवम् उत्तरत्रापि स्वावयवेषु अनुस्यूतः तदैव अविरोधो भवति''** (त.दी.नि.प्र.३।१।१-२) अतएव जब तृतीयादि स्कन्धोंमें जहां शब्दशः कृष्णलीला अभिधावृत्तिसे सुनायी या दिखलायी न देती हो वहां

भी मंचपर अभिधया वर्णित लीलाका अभिहितार्थ छोड़े बिना यवनिकाके रूपमें शास्त्रार्थरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण तात्पर्यवृत्त्या अभिप्रेत स्वीकारने चाहियें. इस अर्थमें पूर्वमीमांसाभिमत श्रुति आदिकी पारदौर्बल्यवाली व्याख्यानीति भिन्न निकष यहां वाल्लभ-वेदान्तने प्रस्तावित किया है.

भागवतपुराणपर व्याख्यारूप सुबोधिनीके प्रारंभमें महाप्रभुने एक उद्‌गार प्रकट किया है : **''लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनाद् अन्यपूरणम्. आर्थिकन्तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनाद् ऋते''** (भाग.सुबो.१।१।१). अर्थात् इस विषयमें प्रत्यक्षातीत या तर्कातीत विषयोंके बारेमें वैदिक पदोंके असाधारण महत्त्वके वशाद् लक्षणाप्रयोगकी अस्वीकार्यता दरसाई जा रही है, उसमें मुख्यार्थके त्यागद्वारा लौकिक वचनोंकी तरह वैदिक वचनोंमें भी आती अविश्वसनीयताको हेतु माना गया है. उसमें, किन्तु , आर्थिक या तात्पर्यवृत्ति के समाश्रयण करनेपर भी वाच्यार्थके छूट जाने या गौण बन जाते होनेके कारण समानयोगक्षेम गले पड़ेगा.

अत: इस समस्याके समाधानहेतु मूलमें इन वृत्तियोंके स्वरूप प्रभेद और पार्थक्यहेतुओंका साहित्यदर्पणकारके अनुसार ही कुछ आकलन करनेको उनकी विवेचना देख लेना प्रासंगिक होगा. यथा : **''अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्च इति त्रिधा मत:. वाच्यो अर्थो अभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मत: व्यंग्यो व्यञ्जनया ता: स्यु: तिस्र: शब्दस्य वृत्तय:''** (साहि.दर्प.२।२-३) इन तीन तरहकी वृत्तियोंकी विवेचना करते हुवे लक्षणाके अस्सी भेदोपभेदकी परिगणना ग्रन्थकारने समझानी चाही है. एतदन्तर्गत **''विरतासु अभिधाद्यासु पदार्थो बोध्यते पर: सा वृत्ति: व्यञ्जना नाम शब्दस्य अर्थादिकस्य च. 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:' इति नयेन अभिधा-लक्षणा-तात्पर्याख्यासु तिसृषु**

वृत्तिषु स्वं-स्वम् अर्थं बोधयित्वा उपक्षीणासु यया अन्यो अर्थो बोध्यते सा शब्दस्य अर्थस्य प्रकृतिप्रत्यादेः ('आदि'पदाद् उपसर्गादेः) च शक्तिः व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम. तत्र अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा. अभिधामूलाम् आह : अनेककार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैः नियन्त्रिते एकत्र अर्थे अन्यधीहेतुः व्यञ्जना सा अभिधाश्रया... लक्षणामूलाम् आह : लक्षणा उपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनं यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया'' (साहि.दर्प.२।१२-१५).

अतः लक्षणाकी वर्जनीयतामें और आर्थिक या व्यञ्जना की उपादेयतामें अभिधामूला लक्षणाके बारेमें कौन सा कल्प मान्य रखना होगा तथा लक्षणामूला व्यञ्जनाको ग्राह्य मानना या त्याज्य यह भी स्पष्टताकी अपेक्षा उठ खड़ी होती है.

इस सोपानपर यह स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है कि लक्षणावृत्तिका समाश्रयण करना पड़ता है, या तो अन्वयानुपपत्तिवशात् या तात्पर्यानुपपत्तिवशात्. इसी कारण लक्षणाके अनकेविध प्रभेद तत्तत् स्थानोंपर स्वीकारे गये हैं :

[१]जहल्लक्षणा= [२]केवलक्षणा [३]जहदजहल्लक्षणा= [४]भागत्यागलक्षणा

[५]अजहल्लक्षणा [६]लक्षितलक्षणा [७]निरूढलक्षणा [८]विपरीतलक्षणा

[९]भाविनीवृत्तिलक्षणा [१०]भूतवृत्तिलक्षणा या बाधितार्थानुवृत्तिलक्षणा आदि.

इनमें वाच्यार्थके त्यागका हेतु बनती है या तो अन्वयानुपपत्ति या फिर तात्पर्यानुपपत्ति.

उदाहरणतया **''गंगायां घोषः''** शैत्य पावनत्व या जलसौलभ्य

आदि प्रयोजनके विविक्षित होनेके कारण 'गंगा'पदका प्रवाहरूप अर्थ छोड़ कर गंगातट अर्थ लिया जाता है. ऐसी स्थितिमें तात्पर्यार्थ और वाच्यार्थ के बीच अपरिहार्य भेद स्वीकारना पड़ता है.

तात्पर्यानुपपत्तिके वशाद् जहदजहल्लक्षणाके उदाहरण **''काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्''** वाक्यमें यद्यपि वाच्यार्थ काक और तात्पर्यार्थ काकेतर दधिके उपघातक अन्य भी, ये परस्पर भिन्न होनेपर भी, वाच्यार्थत्वेन अगृहीत परन्तु तात्पर्यार्थत्वेन गृहीत होते हैं. अतः इनमें परस्पर भेदके बजाय भेदाभेद सा अवभासित होता है. अजहल्लक्षणाके उदाहरण ''छत्रिणो यान्ति'' सदृश वचनमें वाच्यार्थद्वारा अविवक्षित होनेपर भी छत्रिबहुल समुदायके साथ छत्ररहित पुरुषोंका भी गमन प्रत्यक्षबोधमें भासित होता है, एतावता ''छत्रिणो यान्ति'' वाक्यमें प्रयुक्त 'छत्री'पद पूर्णतया बाधित न लगता होनेपर भी अंशतोबाधित लगता है. तदर्थ वाच्यार्थके त्याग बिना तात्पर्यार्थ छत्रि-अछत्रि-उभयविध पुरुषोंका गमन वाक्यतापर्यगोचर लें या न लें परन्तु वाक्यार्थके उपपन्न होनेका बोध तो निष्पन्न हो ही जाता है, यह वाच्यार्थके व्याप्यतया और तात्पर्यार्थके व्यापकतया अवभासित होता है. कभी **''पूतिगन्धस्तु पंकजः''** सदृश वचनमें 'पंकज'पदका योगरूढ़ अर्थ पुष्परूप वाच्यार्थके त्यागपूर्वक यौगिकार्थ पंकजन्य होनेका तात्पर्यगोचर अर्थ अवभासित होता है. यहां तात्पर्यार्थ व्याप्यत्वेन और वाच्यार्थ व्यापकत्वेन गृहीत होता है. **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं''**-**''तत् त्वम् असि''** वचनमें भी पूर्वार्धमें बाधितार्थसामानाधिकरण्यलक्षणा, उदा. **''यः चौरः सः स्थाणुः''**न्यायेन और **''तत् त्वम् असि''** रूप उत्तरार्धमें भागत्यागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा लेनी पड़ी है. अतः इन तात्पर्यार्थ और वाच्यार्थों के भेदाभेदकी संभावनाओंको एक बार दृष्टिगत करके आगे बढ़ना उचित होगा. क्योंकि पूर्वमीमांसाकी

तरह ब्रह्मनिरूपणमें भेदके बजाय अभेद प्रधान माना जाता है. यह वेदान्तके चार प्रस्थानोंके सन्दर्भमें सावधानतया अनुसंधेय है.

सर्वप्रथम शांकर वेदान्तमें भेद मिथ्योपाधिक मायिक और अभेद स्वाभाविक होता है. द्वितीय भास्करवेदान्तमें भेद वास्तविकोपाधिक और अभेद स्वाभाविक होता है. रामानुज-माध्वादि द्वैतवादी वेदान्तियोंके मतमें भेद निरुपाधिक वास्तविक तथा अभेद वास्तविक होनेपर भी औपाधिक या स्वाभाविक होता है. वाल्लभ वेदान्तमें परन्तु ब्रह्ममें भेद सर्वभवनसामर्थ्यानुपाती लीलात्मक होता है और अभेद स्वभावानुपाती होता है. अतएव कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग आदि सृष्टचन्तर्गत ब्रह्मकी ओर ले जानेवाले मार्गोंमें भी ब्रह्मकी अविद्या और विद्या शक्ति दोनोंका समाश्रयण अनिवार्य रहता है. यह ईशावास्योपनिषद्के इस ''**अन्धंतमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो य उ विद्यायां रताः. अन्यदेव आहुः विद्यया अन्यद् आहुः अविद्यया इति शुश्रुम धीराणां ये नः तद् विचचक्षिरे. विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं स ह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते**'' (ईशा.उप.९-११) वचनमें हम पाते हैं. महाप्रभु भी अतएव कहते हैं ''**विद्याविद्ये हरेः शक्ती**'',''**विद्यया अविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति**'' (त.दी.नि.१।३१,३३). अतएव ब्रह्मप्रापक कर्मज्ञानादि मार्ग, क्योंकि, अविद्याबद्ध जीवाधिकारक होते हैं अतः ब्रह्मकी अनेकविध शक्तियोंके अवलम्बनके बिना ब्रह्माभिमुख हुवा नहीं जा सकता. ब्रह्मवैमुख्यापादक मार्गोंकी ओर अग्रसर होना हो तो भी ब्रह्मकी अविद्याशक्तिका ही समाश्रयण अपेक्षित होता है. महाप्रभुने यह भी स्पष्टीकरण दिया है कि ''**रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः इति नित्यः श्रुतेः अर्थः सात्त्विकानां प्रकाशते... सर्वे वेदविदो जाताः स्वभावगुणभेदतः. तेषां प्रकृतिवैचित्र्यात् श्रुत्यर्थो बहुधा**

उदितः'' (त.दी.नि.२।१८-२०). अतः कर्ममीमांसामें उभयविध शक्तिका समाश्रय जैसे किया जाता है वैसे ही ज्ञानमार्गीय उपासनाओंमें भी भेदावलम्बन गलेपतित होता ही है.

स्वयं भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य भी ब्रह्मसूत्रभाष्यमें ब्रह्मको शास्त्रैकसमधिगम्य स्वीकारनेके बावजूद **''न शास्ता शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा न च त्वं नच अहं नच अयं प्रपञ्चः स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुः तदेको अवशिष्टः शिवः केवलो अहम्... नच एकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्याद् नवा केवलत्वं नच अकेवलत्वं न शून्यं नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि''** (दशश्लो.७,१०) स्वीकारना पड़ा. 'नाहं' कहनेके बावजूद दशों श्लोकोंके अन्तमें भी आविद्यक 'अहं'की निरन्तर आवृत्ति करनी ही पड़ी है. वाल्लभ वेदान्त इस विषयमें यही कहना चाहता है कि यह 'अहं' और 'नाहं' का भेद जीवकी अविद्याके वशात् होता तो ब्रह्मविद्या-पारंगतमें मुखरित न हो पाता. परन्तु निरन्तर निर्बाध मुखरित रहता होनेके कारण इसे ब्रह्माधीन ब्रह्मकी ब्रह्मात्मिका शक्ति मानना ही न्यायोचित होगा.

ब्रह्ममें स्वरूपेण सायुज्य या एकत्वापादन से पूर्व ब्राह्मिक प्रमाण प्रमेय साधन या फल सभी प्रकारकी लीलाओंके विमर्शार्थ कहीं पूर्वमीमांसा सदृश शास्त्रोंमें भेदप्राधान्येन भेदसहिष्णु-अभेदका निरूपण विवक्षित है. तो कहीं उत्तरमीमांसा सदृश शास्त्रोंमें अभेदप्रधान्येन भेदसहिष्णु-अभेदरूपका. यों तादात्म्यकल्पनाके अवलम्बनद्वारा सर्वभवनसामर्थ्यरूपा निजमायासे ब्रह्मका निजलीलया वाच्यवाचक-भेदभावापन्न होनेके सन्दर्भमें कर्मतया निरूपण होता हो तो शास्त्रीय विधेय-अभिधेयमें गुणरूपतया और इसी तरह शास्त्रीय विकल्प्य-अपोह्यमें दोषरूपतया भी शास्त्रतात्पर्यका विषय बनता है. अतः ब्रह्मस्वरूपके

निरूपणमें तत्पर शास्त्रवचनोंमें गुणदोषभावातीत भी उसी ब्रह्मको स्वीकार लेना चाहिये **''यत् किञ्चिद् दूषणं तु अत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयं विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम्''** (सुबो.२।९।३२). अकारण अवाच्य ब्रह्मसे पृथक् सदसत्त्वेन अनिर्वचनीय माया या अविद्या का अन्तर्गडुकी प्रस्तुतिसे वेदान्तमें लाभके बजाय बौद्धमतप्रतिवेशी होने बाधित होना पड़ता है! अतः विकल्प्यार्थ और अपोह्यार्थ भी यदि ब्रह्म ही हो तो विचारणीय यही रह जाता है कि जिस लक्षणावृत्तिका काम तात्पर्यार्थ और वाच्यार्थ के बीच भेदकल्पनाके बिना न चलता हो ऐसी लक्षणावृत्तिका समाश्रयण वेदान्तमें हेय मानना चाहिये और जिस तात्पर्यार्थ और वाच्यार्थ के बीच भेद अवभासित न होता हो वहां वाच्यार्थसे भिन्न भी वाच्यार्थमूलक व्यंग्यार्थ या तात्पर्यार्थ खोजना वेदान्तचिन्तनमें दोषरूप नहीं होगा. तदनुसार एक सारणी द्वारा इसका अवलोकन उपकारक होगा.

यथा :

<u>भेदघटित</u>

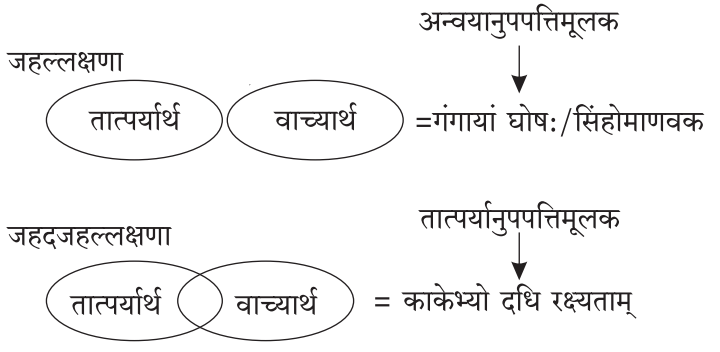

अजहल्लक्षणा

= छत्रिणो यान्ति

= पूतिगन्धस्तु पंकज:

<u>अभेदघटित</u>

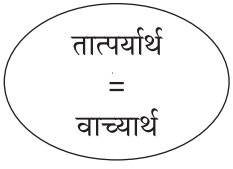

= बहुव्रीही/चित्रगु:
घटं कुरु शाटकं वय – भाविनी वृत्ति
चौर: स्थाणुरयं – भूतवृत्ति

इन दोनों ही सम्भावनाओंके बारेमें उभरती अनुपपत्ति यदि प्रत्यक्षमूलिका या तर्कमूलिका हो तो शब्दैकगम्य पदार्थमें कथंचित् प्रत्यक्ष या तर्क का संचार भी गलेपतित होगा ही. अतः दो पदोंके अन्वय परस्पर या सम्पूर्ण वाक्योंके तात्पर्यका ऊहापोह प्रात्यक्षिक या तार्किक न हो कर शब्दमूलक हो तो एकतरके प्रबल या निर्बल का विवाद भी समुपस्थित होगा. अतः उससे भी बचना हो तो एकमात्र उपाय बच जाता है दोनोंके वाच्यार्थके परित्याग किये बिना व्याख्यान. विषय सम्बन्ध अधिकार साधन

फल आदि प्रभेदवशात् व्याक्यार्थसम्पादन करना.

अत: ऐसी उभयविध शास्त्रान्तरके साथ और स्वगत आन्तरिक एकवाक्यताके बारेमें साधक-बाधक उपपत्ति या अनुपपत्ति को वादप्रक्रियाके उपकरणतया देखना आवश्यक हो जाता है. सो यद्यपि उद्देशविधाद्वारा आकर ग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं होनेपर भी प्रयोगविधामें उपलब्ध होती होनेसे यहां संकलित कर देना उपयुक्त होगा. तात्पर्यनिर्णायक लिंगोंमें उपपत्तिको जो अन्यतम लिंगतया मान्य किया गया है, वह सभी तरहकी उपपत्तियोंका उपलक्षण माना जा सकता है उसे तालिकाद्वारा यों परखा जा सकता है :

(वादोपकरण)

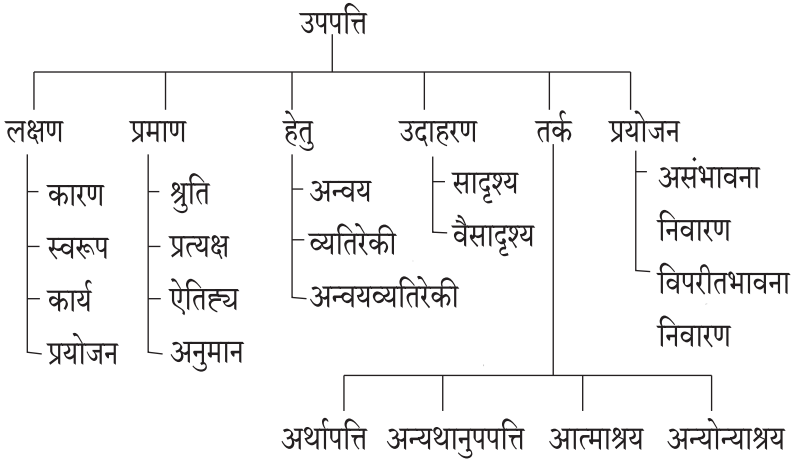

यह यद्यपि वर्गीकृतरूपमें वाल्लभवेदान्तके आकर ग्रन्थोंमें कहीं

उपलब्ध नहीं होता फिरभी ब्रह्मवादीया वादप्रक्रियामें यथायथ प्रयुक्त होता दृष्टिगत होनेसे ऊह्य है.

अबाधित या बाधायोग्य होनेपर ही प्रामाण्य अंगीकार्य बनता है. इस विषयमें प्रमाणसम्प्लव नहीं होना चाहिये प्रमाणव्यवस्थाके आधारपर प्रामाण्य मीमांस्य बनता है.

प्रक्रिया ब्रह्मवादीया श्रुतितात्पर्यनिर्भरा॥
विचारितेत्यदुष्टं यद् ग्राह्यं क्षम्यमथेतरत्॥१॥
शुद्धाद्वैतप्राणभूतं सच्चिदानन्दब्रह्म यत्॥
तत्सनामनियोगेन निबन्धो निर्मितो मया॥२॥
स्वाधर्मण्यं ज्ञापयामि विदुषस्तस्य चात्र हि॥
उपस्थानासमर्थस्यालेखेनोपस्थितस्य मे॥३॥

श्रीहरिः

सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति

[१.आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानाद् आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति.

२.सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता.

३.एषो अस्य परमः आनन्दः एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति.

४.यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति, भूमैव सुखम्. भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः.

आनन्दमयो अभ्यासात्.]

अमरकोशमें ''मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदः आमोदः संमदः आनन्दथुः आनन्दः शर्म शातं सुखम्'' (अम.को.१।४।२४-५) इन पदोंको पर्यायवाचक माना गया है, इनके अन्तर्गत 'सुख' और 'आनन्द' भी परिगणित हुवे हैं. फिरभी इन पदोंकी व्याकरणशास्त्रीय व्युत्पत्ति और व्यवहारकालिक प्रयोग के प्रभेदका अनुसन्धान करनेपर, उभरनेवाली विभिन्न अर्थछायाओंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है. 'सुख'पद सामान्यतया ''सुखयति इति सुखम्'' रूपेण व्युत्पन्न माना जाता है; परन्तु, ''**कर्तृकरणाद् धात्वर्थे**'' (पाणि.धा.पा.) के नियमके आधारपर इन्द्रियार्थक 'ख'के साथ 'सु'उपसर्ग जोड़ कर बनाया गया यह पद है. इसे चुरादिगणपठित 'णिच्' प्रत्यय लगानेपर 'सुखयति' क्रियापद बनता है. अतः आनन्दका पर्याय होनेपर भी सुखका मूलरूपेण विभिन्न कर्म-ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा सम्पन्न

होते व्यापार होना ध्वनित होता है. इसके विपरीत 'आनन्द'पद समृद्ध्यर्थक 'नद'धातुके साथ पुनः 'आ' उपसर्ग जोड़नेसे बनाया गया पद है. अर्थात् ऐसी जो वृद्धि निरतिशय हो वह आनन्द कहलाती है. उपनिषद् अतएव **''यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति''** (छान्दो.उप.७।२३।१) प्रतिपादन करते समय ऐन्द्रियक अल्पसुखको वस्तुतः सुख न मान कर भूमा सुखकी क्षुद्रमात्रा होना स्वीकारते हैं. इसकी तुलनामें आनन्द निरतिशयता या अपरिच्छिन्नता के अर्थमें ही प्रयोज्य बनता है. अतएव **''एषो अस्य परमः आनन्दः एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति''** (बृह.उप.४।३।३२) वचनमें ब्रह्मके अंशभूत अन्य भूतात्मा उस परम आनन्दकी सुखरूपा मात्राओंका उपजीवन करते हैं, ऐसा विधान भी संगत हो जाता है.

इस निरतिशय सुखको आत्यन्तिक दुःखाभावके साथ होते सुखके रूपमें खोजनेपर रसशास्त्रकी दृष्टिसे करुण रौद्र भयानक बीभत्स रसोंके कारण होते शोक क्रोध भीति और जुगुप्सा के दुःखप्रद भावोंमें भी मिलते ब्रह्मानन्दसहोदर रसानन्दकी व्याख्या अशक्य हो जाती है. अतः दुःखके केवल आत्यन्तिक अपोहन या आत्यन्तिक सुखके साथ-साथ दुःखके अपोहनमें आनन्दकी मीमांसा शक्य नहीं. अतएव दुःखसे अमिश्रित सुखके रूपमें भी आनन्दकी व्याख्या उपपन्न नहीं होती. रसशास्त्रीय बातोंको भुला दें तब भी, उदाहरणतया, *''विद्या कुतः सुखार्थिनां, विद्यार्थिनां कुतः सुखम्? सुखार्थी चेत् त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी चेत् त्यजेत् सुखम्''* जैसे सुभाषितोंमें कष्टसाध्य विद्योपार्जनमें या अन्यान्य भी कष्टसाध्य उद्यमोंमें मिलते आनन्दकी व्याख्या भी शक्य नहीं. अतएव तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मज्ञानोपदेशके प्रसंगमें एक अन्य व्याख्यानीतिका अनुसरण करते आनन्दको ऐन्द्रियक धरातलपर उतारनेके बावजूद अनैन्द्रियक सुखके

रूपमें ही उसे समझाना चाहता है **''सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति! युवा स्यात् साधु युवा अध्यायकः आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः तस्य इयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुषो आनन्दः ते ये शतं मानुषाः आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणाम् आनन्दः श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य... ते ये शतं बृहस्पतेः आनन्दः स एको ब्रह्मणः आनन्दः''** (तैत्ति.उप.२।८) अर्थात् भौतिक सामाजिक शारीरिक और मानसिक रूपमें स्वस्थ महत्त्वांकाक्षी उद्यमशील युवान विद्यार्थी कष्टसाध्य विद्योपार्जनका आनन्द जैसे लेता है, वैसा ही आनन्द जो अपनी अनेकविध कामनाओंके आवेगसे त्रस्त न हो ऐसे श्रोत्रिय अर्थात् श्रुत्युक्त साधनामें निरत साधकको भी अनुभूत होता है. यों मानुष आनन्दको उत्तरोत्तर परस्पर दस बार शतशतगुणित करनेकी प्रक्रियामें लगभग बीस अरब गुनी आनन्दरूप ब्रह्मकी अगणितानन्दता प्रतिपादित की गयी है.

अस्तु, इस अगणित आनन्दकी अवधारणामें 'अकामहत' होनेकी शर्त और जोड़नेपर पुनः एक प्रश्न उठता है. क्योंकि किसी भी कार्यके उपक्रममें हमारी कामनाओंका पूर्ण न होना हमारेलिये निश्चय ही दुःखका हेतु तो बनता ही है. अतः निष्काम हो कर यदि कहीं हम प्रवृत्त हो पाते हों तो हमें अनेकस्तरीय आनन्दकी अनुभूति मिल सकती है. और यों देखने जानेपर **''यन्न दुःखेन सम्भिन्नं नच ग्रस्तम् अनन्तरम् अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं 'स्व'पदास्पदम्''**( ) वचनमें जैसा प्रतिपादित हुवा तदनुसार पुनः अनभिलषित दुःखसे अमिश्रित निज आत्मीय अभिलाषाओंकी पूर्तिमें अनुभूत होते सुखका ही दूसरा नाम आनन्द सिद्ध होता है. सो इधर-उधर भटक कर पुनः प्रस्थानबिन्दुपर ही यात्राके लौट आने जैसा यह वृत्तान्त बन जाता है. अतः इस आनन्दकी मीमांसामें हमें सुख और/अथवा सकामता/निष्कामता की वैचारिक

दिशाकी ओर अगतिकतया मुड़ना पड़ेगा.

तदर्थ महर्षि याज्ञवल्क्य और उनकी भार्या मैत्रेयी के परस्पर संवादका विमर्श आवश्यक है.

वहां यह आता है कि महर्षिने संन्यासग्रहणसे पूर्व अपनी पत्नी मैत्रेयी और द्वितीय भार्या कात्यायनी के बीच सम्पत्तिके विभाजनका अभिप्राय प्रकट किया. इसपर मैत्रयीने जिज्ञासा प्रकट की कि महर्षि जितनी सम्पत्तिके बंटवारेमें देना चाहते हैं, उसे पा लेनेपर भी तैत्तिरीयोपनिषद्में पहले जैसे **''तस्य इयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्''** दिखलाया वैसे ही **''सर्वा इयं पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेन अमृता स्याम्?''** यों सम्पत्तिके बंटवारेमें खुदका अपरितोष प्रकट किया. इसपर महर्षिने जो खुलासा दिया वह यह कि **''''न' इति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैव उपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्याद्. अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति इति वित्तेन''** अर्थात् भौतिक सुख पानेके साधनोंसे अमृतत्वका कुछ लेना-देना नहीं है. इसपर मैत्रेयीने आपत्ति प्रकट की **''येन अहं न अमृता स्यां किम् अहं तेन कुर्याम्?''** (बृह.उप.२।४।१-३) अर्थात् सारी पृथिवीको धनसे ढक देनेपर भी अमृतता प्राप्त न हो पाती हो तो ऐसे जीवनको जीनेसे क्या लाभ? इस समस्याके समाधानतया महर्षि याज्ञवल्क्यने जो उपदेश दिया उसमें प्रिय और काम्य के बीच रहा तारतम्य स्फुटतया समझाया है. वहां जो कुछ कहा उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एक उद्गार यह प्रकट हुवा है :

> **''नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति... मैत्रेयि! आत्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्...**

सर्वं तं परादाद् यो अन्यत्र आत्मनः सर्वं वेद...
इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा''.

(बृह.उप.२।४।५-६).

इस संवादपर ध्यान देनेपर ऐसा लगता है कि मूलतः प्रत्येक व्यक्तिका प्रेम तो स्वयं निजात्माके साथ होता है. अतः मूलतः आत्मकामना ही अपनेसे अतिरिक्त वस्तु या व्यक्ति के बारेमें प्रेमात्मना प्रकट होती है. अतः आत्मद्रष्टा आत्ममति आत्मविज्ञानी के लिये स्वयं अपनेसे अतिरिक्त कुछ भी श्रवणीय मननीय निदिध्यासनीय रह नहीं जाता. क्योंकि सारे बाह्य परिवेशसे लगाव हमारा आत्मरतिमूलक होता है.

अतः प्रश्न उठता है कि इस तरहका आत्मकैवल्य क्या वस्तुतः अमृतसुख या अमृतानन्द प्रदान कर सकता है?

प्रश्न यहां वैयक्तिक मृत्युत्रास या आत्मविघातक द्वैतघटित बाह्य परिवेश के बारेमें न हो कर परिच्छिन्न व्यक्तिचेतनाकी परिसीमासे अपरिच्छिन्न आत्मबोधकी अन्वितिका है. मृत्युभीतिसे बचनेको शरीरातीत आत्माके अस्तित्वसे आश्वस्त होनेकी वास्तविक या अवास्तविक दुराशाका नहीं है. अतः यहां ऐन्द्रियक सुखसे अतीत भूमासुख या आनन्द को कैसे प्राप्त किया जाये? यह जिज्ञास्य बन रहा है.

क्योंकि इसी बृहदारण्यकोपनिषद्के प्रारम्भमें एक रोचक ब्राह्मिक वृत्तान्त वर्णित हुवा है :

''आत्मा वा इदम् अग्रे आसीत् पुरुषविधः.

सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यत्. सो 'अहम् अस्मि' इति अग्रे व्याहरत् ततो 'अहं'नामा अभवत्... सो अबिभेत् तस्माद् एकाकी बिभेति. स ह अयम् ईक्षांचक्रे यद् 'मदन्यत् नास्ति कस्माद् नु बिभेमि! ततएव अस्य भयं वीयाय. कस्माद् विभेष्यद्? द्वितीयाद् वै भयं भवति. स वै नैव रेमे. तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. स ह एतावान् आस... तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत्. तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौनामा' अयम् 'इदंरूप' इति. सएष इह प्रविष्टः... अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव 'प्राण'नाम भवति. वदन् 'वाक्', पश्यन् 'चक्षु' शृण्वन् 'श्रोत्रं', मन्वानो 'मनः'. तानि एतानि कर्मनामान्येव. स यो अतः ऐकैकम् उपास्ते न स वेद अकृत्स्नो हि एषो अतः एकैकेन भवति. 'आत्मा'इत्येव उपासीत अत्र हि एते सर्वे एकं भवन्ति. तदेतत् पदनीयम् अस्य सर्वस्य यद् अयम् आत्मा अनेन हि एतत् सर्वं वेद."

(बृह.उप.१।४।१-७).

अर्थात् सर्वथा एकाकी आत्माको भी अपने कैवल्यमें प्रकट हुयी भीतिका तो निवारण यद्यपि स्वयंकी एकाकिताके तथ्यके वश हो पाता है परन्तु उस एकाकितामें अरति जो सताती थी उसके निवारण न हो पानेके कारण स्वयंके एकत्वमें अनेकता प्रकट करनी पड़ी!

यों द्वैतमें भीतिका दुःख और अद्वैतमें अरतिका असुख इन दोनों बाधाओंसे उबरनेका उपाय द्रष्टा आत्माके कैवल्यमें दृश्यीभूत

विषय और उनके ग्राहककरण आदिके बाहुल्यकी अनुभूति अपरिहार्य बन जाती है. वह भीतिरहित आत्मरति तभी निष्पन्न हो पाती है. अत: ऐन्द्रियक एक-एककी आंशिक क्षुद्रताकी उपासनाके कारण पैदा होती भीतिसे बचा कर अतीन्द्रिय समग्र अंशीकी रतिको उभारनेपर यहां भार दिया गया है.

इस मोड़पर पहुंचनेपर हमें दु:खाभावरूप अपोहनका आश्रय लिये बिना भूमासुख या आनन्द के भावात्मक स्वरूप या निर्वचन की अन्तर्दृष्टि उपलब्ध हो जाती है. यह स्वयं व्यक्तिके देहेन्द्रियादि क्रियाकलापोंकी अनेकविधतामें एक आत्माको बहुविध नाम-रूप-कर्मोंके रूपमें निहारनेकी कथा है. अर्थात् अंशात्मिका क्षुद्रताओंमें अंशीरूप आत्माके केवल अखण्डैक्यकी अवधारणा नहीं है. ऐन्द्रियक सुख प्रदान करनेवाले अनेकविध अंशात्मक नाम-रूप-कर्मोंका **''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. एतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा एक: सन् एतत् त्रयम्''** (बृह.उप.१।६।१-६) यों अंशी ब्रह्मकी अखण्डैकरूपताके साथ अनुदर्शन कर पाना शोकमोहातीत भूमासुख या आनन्द है.

यह वैयक्तिक स्तरपर जैसा जो कुछ हो, उसे वैश्विक स्तरपर जबतक समन्वित न किया जाये तब तक आनन्द प्रकट नहीं हो पाता ऐसे सिद्धान्तकी उद्घोषणा है.

यही बात ईशावास्योपनिषद्में **''यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति सर्वभूतेषु च आत्मानं ततो न विजुगुप्सते. यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानत: तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वम् अनुपश्यत:''** (ईशा.उप.६-७) अर्थात् यह आत्मानुभूति और विश्वानुभूति के बीच किसी तरहके तादात्म्यदर्शनका सिद्धान्त है. उनका इतरेतरनिरासक

दो खण्डोंमें विभाजन नहीं. अतएव ईशावास्योपनिषद् अंशात्मक खण्डोंकी अनेकविधता जो अविद्यावश भासित होती है और अंशीकी अखण्डैकता जो विद्यावश भासित होती है, उन्हें भी एकीकृत रूपमें निहारनेको **''अन्धंतमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो य उ विद्यायां रताः... विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते''** (ईशा.उप.९-११) ऐसा उपदेश देता है. उपनिषद् शोकमोहातीत सुखानुभूतिकी अवस्थाको तादात्म्यदर्शनके साथ जोड़ आनन्दकी अपोहनात्मिका व्याख्या देनेके बजाय भावात्मक धर्मके आधारपर निर्वचन करना चाहता है. निष्कर्षतः सुखानुभूतिको दुःखाभावकी अनुभूतिमें खपाया नहीं जा सकता है.

मूलमें इस तरहके असंकीर्ण खण्डोंके बारेमें आत्यन्तिक भेदवादी दृष्टिकोण द्रव्य और/अथवा क्रियाकी तरह अर्थात् *अस्ति* (बींग) और *भवति* (बिकमिंग) के इतरेतरनिरासक दो पृथक वृत्तोंको स्वीकारनेकी संकीर्ण मानसिकताका परिणाम है. अतः ब्राह्मिक आनन्द और जागतिक सुख के अन्तर्भेदोंको परखना हो तो **'सच्चिदानन्द'** (द्रष्ट.''ब्रह्मैव इदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपम्'' नृ.उ.ता.उप.७) ब्रह्मकी **'सत्यं-ज्ञानम्-अनन्तं ब्रह्म'** (तैत्ति.उप.२।१) बननेकी औपनिषदिक प्रक्रियाका अनुसन्धान आवश्यक सिद्ध होता है.

तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मवल्लीमें यह प्रतिपादन हमें मिलता है कि ब्रह्ममें से कैसे क्रमशः उत्तरोत्तर आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी ओषधि अन्न और पुरुष प्रकट हुवे; और, इस अन्नोद्भूत अन्नमय कोषरूप पुरुषके अन्तर्गत कैसे प्राण मन विज्ञान आनन्दमय अन्तर्निहित रहते हैं. क्योंकि उस एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके भीतर कामना प्रकट हुयी कि मैं आत्मबहुल हो जाऊं. सो

उस सच्चिदानन्दने अपने सदंशमेंसे आकाशादि पांच तत्त्व प्रकट किये. इनके संघातसे बने कोषमें वह पुनः अन्नमयब्रह्म प्राणमयब्रह्म मनोमयब्रह्म विज्ञानमयब्रह्म और आनन्दमयब्रह्म के पांचविध रूपोंको धारण कर प्रविष्ट हो गया. इस सृष्टिप्रक्रियाको स्वीकारनेके कारण उपनिषद् कहता है :

> **''सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति. स तपो अतप्यत स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत. यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत. तदनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च, सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते''.**
>
> (तैत्ति.उप.२।६).

अतः अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्ममें सत् चिद्रूप होता है, इसी तरह चित् भी आनन्दरूप होनेसे केवल अस्ति(बींग)रूप धर्मी होता है परन्तु आकाशादिक्रमसे बहुभावापन्न होनेपर वह सत् सत्य(=सत्+त्यत्) अर्थात् भवति(बिकमिंग) धर्मरूप क्रिया बन जाता है. इसी तरह अखण्डसच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका धर्मिरूप चित् ज्ञान(=विज्ञान + अविज्ञान) धर्मरूप 'जानाति/न जानाति' क्रिया बन जाता है. समानन्यायेन धर्मिरूप आनन्द भी अनेकविध नाम-रूप-कर्मोमें प्रकट होनेके कारण 'सुखयति/दुःखयति'धर्मरूप क्रिया बन जाता है. यहीं आगे चल कर उपनिषद् यह भी समझाता है कि कैसे इस ब्रह्मने अपने-आपको इतने सारे रूपोंमें सिरजा होनेके कारण इन सभी अनेकविधतामें अन्तर्निहित रस तो एकमात्र वही है. क्योंकि वह यदि इन क्षररूपोंके भीतर अक्षरात्मना विद्यमान

न होता तो कौन इस क्षयिष्णु जगत्में एक सांस लेनेभरको जीना चाहता! अतः जो द्वन्द्वात्मक रूप प्रकट किये उनमें सत्के भीतर त्यत्, निरुक्तके भीतर अनिरुक्त सनिलयनके भीतर अनिलयन और अनृत-अविज्ञानके भीतर सत्य-विज्ञान रूपोंको धारण करनेवाला अन्तर्निगूढ़ रहता ही है. अतः जो द्रष्टा इन खण्डोंमें परस्पर अन्तर या इतरेतरनिरासक आत्यन्तिक भेदमें निगूढ़ अन्यको नहीं देख पाता उसे तो भय लगता ही है. जो भेद देखने लगता है उसका तो भयभीत या शोकमोहग्रस्त होना स्वाभाविक कथा है.

कुल मिला कर सब कुछ आनन्दसे प्रकट हुवा है, आनन्दमें अवस्थित है; और, आनन्दमें ही अन्तमें विलीन होनेवाला है. उस ब्रह्मात्मक आनन्द और जागतिक सुखदुःख के बीच अमिट भेदरेखा खींचनेके कारण शोकमोहभयादि दुःखसे ग्रस्त हो जाता है. यों आनन्दमें दुःखानुभूतिकी उपपत्ति मिल जाती है.

अतएव भगवद्गीताके अठाहरवें अध्यायमें :

> **''सुखन्तु इदानीं त्रिविधं शृणु : ...[१] अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति, यत् तद् अग्रे विषमिव परिणामे अमृतोपमं तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं आत्मबुद्धिप्रसादजं [२] विषयेन्द्रियसंयोगात् यत् तद् अग्रे अमृतोपमं परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतं [३] यद् अग्रे च अनुबन्धे च सुखं मोहनम् आत्मनो निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसम् उदाहृतम्. न तद् अस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः सत्त्वं प्रकृतिजैः मुक्तं यद् एभिः स्यात् त्रिभिः गुणैः''.**
>
> (भग.गीता.१८।३६-४०).

अर्थात् आनन्द तो प्राकृत गुणोंके दायरेमें आ नहीं पाता, क्योंकि वे प्राकृत गुण अपरिच्छिन्न आनन्दके दायरेमें प्रकट हुवे परिच्छेद हैं. सुख, परन्तु, अपनी तीनों सात्त्विक राजस और तामस विधाओंमें, उस अखण्ड सच्चिदानन्दके अवभासित न हो पानेके कारण, आनन्दकी क्षुद्रमात्राओंके साथ दु:खमिश्रिततया प्रतिभासित होता है. यह ऐसा प्रकट निर्वचनीय निलयन प्राणेन्द्रियमनोबुद्धि-अहंकार-चित्तादिकी उपाधिके साथ विज्ञात होते अनृत नाम रूप कर्म रूपी विषयोंके बारेमें होता है. ये सभी कुछ उस एक पूर्वोक्त नृसिंहोत्तरतापिनीयमें निरूपित सच्चिदानन्दरूपकी अपनी समग्रतामें प्रतिभासित न हो कर सदंश चिदंश और आनन्दके क्षुद्रांशमात्राओंमें प्रतिभासित होनेके कारण घटित होता है.

यहां उल्लेखनीय हो जाता है कि इन प्रतिभासोंके बारेमें कही जाती अनृतता निरुपाधिकी न हो कर सोपाधिकी जाननी चाहिये. इसे सोपाधिक सत्यतामें खपा देना अतएव अनुचित है. क्योंकि ब्रह्मकी सदंशरूपा जड़प्रकृति और चिदंशरूपा जीवप्रकृति यों दोनोंका परमात्माकी प्रकृति होना उल्लिखित है भगवद्गीतामें :

> **''भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकारः इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा, अपरा इयम् इतस्तु अन्या प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां... यया इदं धार्यते जगत्''.**
>
> (भग.गीता.७।४-५).

यों दोनोंका ही पारमात्मिक प्रकृति होना प्रतिपादित किया गया है. अत: दोनों स्वरूपत: तो एकात्मक पारमार्थिक सत्य ही हैं. फिरभी विभक्ततया अवभासित होनेके कारण दोनों ही

विभक्त गुणधर्मोंको प्रकट करनेवाली बन जाती हैं. अत: उनकी मौलिक एकात्मकताके बोधसे पूर्व प्रतीत होते गुणधर्मोंका एकदूजेमें समारोपण, एक सोपाधिक अनृतता प्रकट करने लगता है. यह अनृतता मौलिक एकात्मकताके प्रतिभासित होते ही पारमार्थिक सत्यताकी प्रतिभासिका भी बन सकती है. यह तथ्य भगवद्गीताके इसी अध्यायमें अनावृत हुवा है :

''ये चैव सात्त्विका: भावा: राजसा: तामसा: च ये मत्तएव इति तान् विद्धि नतु अहं तेषु ते मयि. त्रिभि: गुणमयै: भावै: एभि: सर्वम् इदं जगत् मोहितं न अभिजानाति माम् एभ्य: परम् अव्ययम्''.

(भग.गीता.७।१२-१३).

अर्थात् जीवचेतनाकी तरह त्रिगुणात्मिका जड़प्रकृति भी परब्रह्म परमात्माकी समग्रतामें तो पारमार्थिकतया एकीभावापन्न ही रहती है सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश चिदंश और आनन्दांश के रूपोंमें आत्मविभाजनकी प्रक्रियामें अनेकभावापन्ना हो कर एकदूजेमें अप्रकट गुणधर्मोंका एकदूजेकी उपाधि बन कर समारोपका जब हेतु बन जाती हैं तब एक सोपाधिक अनृतता प्रकट हो जाती है. अर्थात् समग्र अंशीका अंशोंमें न समाना परन्तु सभी अंशोंका समावेश तो अंशीमें न होता हो तो अंशांशिभाव ही अनुपपन्न हो जाता है यह **''नतु अहं तेषु ते मयि''** कहनेका अभिप्राय है. इस पारमार्थिक तथ्यका उद्घोष छान्दोग्योपनिषद्में भी अतीव प्रभावशाली शब्दोंमें यों किया गया है :

''सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूला:... इमा: सर्वा: प्रजा: सदायतना: सत्प्रतिष्ठा:. यथानु खलु... इमा:

तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृद् ऐकैका भवति... अस्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणः तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्. स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि''.

(छान्दो.उप.६।८।६-७).

अर्थात् दृश्यरूप यह सारा स्थूल जगत् जैसे सन्मूलक है और वह अपने सूक्ष्मरूपमें प्रत्यावर्तनसे पहले समझमें नहीं आ सकता. फिरभी अपने सूक्ष्म मूलरूपसे प्रकट होनेके बाद स्थूल जगत् उसी सूक्ष्ममें अवस्थित रहनेपर भी जब तक अन्तमें सूक्ष्म मूलरूपमें विलीन नहीं हो जाता तब तक उससे भिन्नतया ही अवभासित होता है. सूक्ष्म मूलरूपमें क्रमशः प्रत्यावर्तनकी प्रक्रियामें वाणी मनमें मन प्राणमें प्राण तेजस् तत्त्वमें और तेजस् तत्त्व परदेवतारूप परब्रह्म परमात्मामें विलीन हो जाता है. अतः परिदृश्यमान सभी कुछ एतदात्मक ब्रह्मात्मक ही सिद्ध होता है. क्योंकि सभीके भीतर आत्मतया तो परमात्मा ही अवस्थित है और वही तुम चिदंशरूप जीव भी तो हो.

इसी तरह सभी सात्त्विक राजस और तामस सुख भी अन्तमें तो आनन्दमें से प्रकट हुवे हैं, आनन्दमें अवस्थित हैं; और, आनन्दमें ही अन्तमें विलीन होनेवाले हैं. अतः आनन्दात्मक ही हैं. परन्तु अपने स्थूल प्राकृत गुणोंकी सात्त्विक राजस तामस उपाधिओंसे ग्रस्त होनेके कारण, साथ ही साथ, मौलिक एकात्मकताके अनवभासित रहनेके कारण भी उनकी आनन्दात्मकता प्रकट नहीं हो पाती. वह लोकमें थोड़ी-बहुत रसात्मक आनन्दानुभूतिकी प्रक्रियामें अपनी झलक कुछ परिमित कालकी अवधिमें प्रकट करती होनेपर

भी शाश्वततया प्रकट नहीं हो पाती.

निष्कर्षतया आनन्द एक ऐसा धर्मी(अस्ति=बींग) है जिसमें 'सुखयति/दुःखयति' धर्मरूपा क्रिया(भवति=बिकमिंग) अनेकविध रूपोंमें प्रकट होती है और उपपन्न भी होती है. सुख और दुःख इतरेतरके निरासक हो सकते हैं परन्तु आनन्द सर्वोद्भावक सर्वसमावेशी तथा सर्वसमाहारी देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन एक धर्मी है.

सैषा आनन्दस्य मीमांसा!

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ब्रह्मवादी चिन्तनकी सहिष्णुता

(मंगलाचरण)

''आप्यायन्तु मम अंगानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि सर्वाणि. सर्वं ब्रह्म औपनिषदम्. मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद्. अनिराकरणं मे अस्तु. तद् अनिराकरणं मे अस्तु. तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु मयि सन्तु. ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'' (केनोप.शां.पा.).

(उपक्रम)

''अन्धकार और विरोधाभास से ग्रस्त हो जानेकी दिशामें मानवीय तर्क सत्वर तत्पर रहता है... क्योंकि जिन धारणाओं या सिद्धान्तों का वह उपयोग करना चाहता है, वे अनुभवोंकी मर्यादाओंसे अतीत होते हैं. वे हमारे इन्द्रियजन्य अनुभवोंपर आश्रित निरीक्षण या परीक्षण के विषय बन नहीं पाते. यों इन अन्तहीन विवादोंकी युद्धभूमिको ही 'पराभौतिकी' या 'तत्त्वशास्त्र' कहा जाता है. एक समय था कि जब पराभौतिकी सभी विज्ञानोंकी महारानी मानी जाती थी... अब तो समयके दिशा बदलते प्रवाहके वश इस भद्र महिलाके प्रति तिरस्कारका अतिरेक बढ़ गया होनेसे वह हेकुबाकी तरह विलाप करती सी लगती है कि ''मैं अपने यशकी गरिमाके शिखरपर अनेक पुत्रोंके रहते भी निर्वासित भटक रही हूं'' ('शुद्ध-उपपत्तिमीमांसा'के प्रथम संस्करणके उपोद्घातमें इमानुएल कान्ट)

जर्मनीके महान् दार्शनिक इमानुएल् कान्ट्ने बाह्य पदार्थ या वस्तु को अज्ञेय; जबकि, यथावभात वस्तुको हमारे भीतर वस्तुके अवभासनकी जो अपरिहार्य कारणसामग्री उपलब्ध रहती हैं, उनकी मर्यादाओंके अनुसार ही अवभासित होती होनेसे ऐसे अवभासनका याथार्थ्य अशक्य मान लिया है.

यहां यह विचारणीय लगता है कि बाह्य पदार्थ या वस्तु के बारेमें जैसी धारणा हम घड़ते हैं, बाह्य वस्तुका सर्वथा तदनुरूप होना अथवा हमारी अनुभूतियोंका ही बाह्य वस्तुओंके सर्वथा अनुरूप होना निश्चित हो भी सकता है और नहीं भी. फिरभी बाह्य पदार्थोंके साथ स्वयं हमारे दैनन्दिन व्यवहारोंके उदाहरणोंमें अपनी अभिलाषा अपेक्षा आवश्यकता या योजना के अनुरूप क्या हम बाह्य वस्तुओंका आविष्कार पुनर्निर्माण परिवर्तन या परिवर्धन कर नहीं पाते! वस्तुतः तो आधुनिक विज्ञानकी विविध शाखाओंने इस दिशामें नित्य-नूतन वैज्ञानिक अन्वेषण और नित्य-नूतन आविष्कारों द्वारा मानवीय चेतनाको न केवल चकित प्रत्युत झकझोर सा ही दिया है. अतः हमारी चेतनाके अन्यतम व्यापार अभिलाषा अपेक्षा आवश्यकता या योजना के अनुरूप यदि बाह्य पदार्थ प्रकट हो पाते हों या घड़े जा सकते हों तो, उसी चेतनाके अन्यतम आयामरूप अनुभूति या अवधारणा रूपी व्यापारोंको बाह्य पदार्थानुरूप स्वीकार लेनेमें भी, किसी तरहकी आपत्ति तो उठनी नहीं चाहिये. यह अनुभूतिरूप या अवधारणारूप चेतनाव्यापार जैसे वस्तुतन्त्र हो सकता है वैसे ही अनुभूतिकी जनक जो करणसामग्री होती हैं उनके आधीन औपाधिक भी हो सकता है. हमारी अभिलाषाके अनुरूप बाह्य पदार्थोंके ढल पानेकी केवल एक हकीकत ही, स्वयं बाह्य पदार्थ और आन्तरिक अवधारणाओं

के बीच मानी जाती तथाकथित ऐकान्तिक अननुरूपताको अप्रामाणिक सिद्ध कर देती है.

कौन नहीं जानता कि प्रारम्भमें अनवगत परन्तु बादमें न केवल भलीभांति अन्विष्ट; प्रत्युत, मेंदेलेव सदृश वैज्ञानिकोंद्वारा सभीके इलेक्ट्रॉन्स् न्यूट्रॉन्स् एवं प्रोटॉन्स् के विविध आणविक भारोंकी सारणीद्वारा सुव्यवस्थापित प्रकृतिसिद्ध ९४ तत्त्वोंके आईसोटोप्स्के अलावा भी संप्रति वैज्ञानिकोंद्वारा कृत्रिम १४ या १५ आईसोटोप्स्, मस्तिष्कके भीतर केवल प्रत्ययोंके रूपमें नहीं प्रत्युत प्रकृतिसिद्ध अन्यान्य तत्त्वोंकी तरह ही मस्तिष्कसे बाहर विद्यमानतया स्वीकारे गये हैं अथवा प्रकट किये गये हैं.

माइक्रोस्कॉपिक् सूक्ष्मतम संरचनावाले एककोशीय जीवाणु रासायनिकाणु भौतिकाणु जैसे पदार्थोंकी तरह, सुदूरतर बाह्य अवकाशमें अवस्थित टेलिस्कॉपिक स्थूलतर ब्रह्माण्ड कृष्णविवर तारा उल्कापिण्ड जैसे पदार्थोंको भी; अथवा, हमारे भीतर ज्ञानोपकरणतया भरी हुयी सामग्रिओंकी संरचनाओंको भी पहले कभी हम तदोपलब्ध ज्ञानोपकरणोंके सहारे तो कथमपि जान नहीं पाते थे.

नेत्रपटल भी तो, अपनी प्रतिबिम्बग्राहिणी संरचनाके आधीन, दृष्टिगोचर होनेवाले बाह्य पदार्थोंको दिशाव्यत्ययद्वारा, अर्थात् दृश्यवस्तुके उपरी भागको नीचे और दायें भागको बायें ही, गृहीत करता है. फिरभी मस्तिष्क उसे बाह्य देशमें यथावस्थित ही प्रदर्शित करता है, नकि अपरिहार्य ज्ञानोपकरणोपहित दृश्यरूपकी आभासित रीतिके अनुसार.

वैसे आज तो ऐसे सभी बाह्य पदार्थोंको जान पानेके अनेकविध वैज्ञानिक उपकरण, नामतः, एक्सरे इन्फ्रारेड और अल्ट्रावायोलेट्

रेज़् सोनोग्राफी एम.आर.आई. माइक्रोस्कोप् टेलीस्कोप् राडार् आदि भी आविष्कृत हो चुके हैं. इन नूतन आविष्कृत उपकरणोंके कारण ज्ञानोपकरणकी सामग्रियोंकी कार्यप्रणाली, उनके मस्तिष्कान्तर्वर्ती केन्द्रों या नाड़ियों की तरह उनमें प्रयुक्त होनेवाले जैवरसायनों, आदिका भी इदमित्थं ज्ञान प्राप्त होने लगा है. न केवल इतना अपितु उनके भलीभांति कार्यक्षम न हो पानेपर जेनेटिकल् पुनर्निर्माण भी दिनानुदिन शक्य बनता जा रहा है. इससे आगे बढ़ कर इन जैविक ज्ञानोपकरणकी सामग्रियोंके अनुकरणद्वारा अजैविक डिजिटल् तकनीकी जड़यन्त्र — आंखकी तरह काम करते डिजिटल् केमेरा, कानकी तरह काम करते माईक्, मुखकी तरह काम करनेवाले स्पीकर्, नाककी तरह गन्धग्राही उपकरण, मस्तिष्कके विचारोंको पढ़-जान पानेवाले उपकरण, चरण, हस्त आदि — भी आविष्कृत हुवे हैं.

अतः स्वयं अज्ञेयवाद, अर्थात् एग्नोस्टिसिज़म्, ही अपनी अनेकानेक अकाट्य उपपत्तियोंके साथ महारानी हेकुबाकी तरह विलाप करता सा अब प्रतीत होने लगा है!

अतएव वस्तुतः तो बाह्य पदार्थके अंशात्मना या पूर्णतया अज्ञेय होनेकी अवधारणा भी, दोनोंके बीच किसी न किसी तरहके आदान-प्रदानात्मक अन्तर्व्यवहारका सबल प्रमाण मानी जानी चाहिये; बाह्य पदार्थके अज्ञेयतया समवधारित होनेके कारण ही. अतएव आत्यन्तिकी अननुरूपता या इतरेतरासहिष्णु विसंवादिता युक्तिसंगत नहीं लगती है.

निष्कर्षतया कहा जा सकता है कि विज्ञानतया अभिमत अनेकविध विद्याओंकी महारानी पराभौतिकीका, हेकुबाकी तरह अकारण, विलाप करते रहनेका अब कोई औचित्य शेष नहीं रह गया

है. फिरभी पराभौतिकीके लिये भी, अपने प्रशास्य प्रदेशोंकी परिधिओं या परिसीमाओं का प्रशासनौपयिक सन्देहरहित आकलन कर लेना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हो गया है. अतः अनेक पुत्रोंके विद्यमान रहनेपर भी, निर्वासित होनेकी आत्मग्लानि या कुण्ठा से अकारण त्रस्त या ग्रस्त होनेके बजाय विकसमान अद्यतन विविध विज्ञानोंके सूचनोंको दत्तकविधानकी प्रक्रियाद्वारा अपने पुत्रतया मान्य करनेका औदार्य उसे प्रकट करना चाहिये. तभी वह सर्वविध त्रास एवं कुण्ठा से मुक्ति पा सकेगी!

(आधुनिक विज्ञानके सन्दर्भमें कर्ममीमांसा तथा ब्रह्ममीमांसा का द्वैत)

अपने देशमें भी, जर्मनदेशीय इमानुएल् कान्ट्की तरह ही, तत्त्वमीमांसाके क्षेत्रमें यद्यपि केवलाद्वैतवादका परन्तु प्रामाण्यमीमांसाके क्षेत्रमें द्वैतवादका अवलम्बन करनेको भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने भी—

> **''कर्म, लौकिक हों या वैदिक, उन्हें करना हो तो किया जा सकता है, न करना हो तो न भी करना शक्य है; और इसी तरह किसी अन्यथा प्रकारसे करना हो वह भी शक्य है. यों तीनों प्रकारके विकल्प शक्य होते हैं... ऐसे, किन्तु, वस्तुके बारेमें होने न होने या अन्यथा भी होनेके विकल्प शक्य नहीं. विकल्पना तो, क्योंकि, पुरुषकी बुद्धि अपेक्षाके अनुसार ही होती है. किसी भी वस्तुके याथात्म्यका ज्ञान जबकि पुरुषकी बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखता. तो उसे क्या अपेक्षा रहती है? वह तो केवल वस्तुके आधीन ही उत्पन्न होता है... इसी तरह पूर्वसिद्ध वस्तुओंके अनुभवका भी प्रामाणिक होना वस्तुओंके आधीन ही होता है''**[१].

ऐसे प्रतिपादनोंमें चेतनाशील पुरुषके लिये निजकर्तव्यका प्रमाबोध

किसी कर्मको करने, न करने अथवा अन्यथा करने के बौद्धिक संकल्पके अधीनतया मान्य किया है. इसके विपरीत बाह्य वस्तुके याथार्थ्यके अवबोधमें बुद्धितन्त्रताके बजाय वस्तुतन्त्रताका सिद्धान्त प्रस्तुत किया है. यों प्रमाणमीमांसामें द्वैतवाद पुरस्कृत किया सिद्ध हो जाता है.

इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि वस्तुतः तो चेतनाशील पुरुषमें भी स्वभावजन्य, अथवा आधुनिक शरीरशास्त्रीय परिभाषाके अनुसार कहना हो तो ओटॉनोमस् नर्वस् सिस्टम्के कारण, उदाहरणतया, श्वासोच्छ्वास, शयनावस्थामें पार्श्वपरिवर्तन, पक्ष्मपातन, जागरण, रोदन-हास्य, नाड़िओंमें रक्ताभिसंचरण इत्यादि अनेकविध क्रियायें बौद्धिक संकल्पके बिना ही सजीवशरीरके स्वभाववश भी प्रकट होती दिखलायी देती हैं. अतः शरीरोद्भूत क्रिया अथवा कार्यों का बौद्धिक संकल्पसे नियततया जन्य होना ही विवादके घेरेमें घिरा हो तब उनके कर्तव्य अकर्तव्य या अन्यथाकर्तव्य होनेका प्रमाबोध भी संकल्पमूलक कैसे रह पायेगा ?

इसी तरह भूकम्प बाढ़ अंधड़ आदि प्राकृतिक प्रभावोंके वश असंकल्पित, उदाहरणतया, गिरना बहना चलते-चलते अचानक ऊपर उड़ जाना आदि, क्रियायें शरीरमें प्रकट होती ही हैं. इन क्रियाओंमें ग्रस्त शरीरी अपने खण्डित अहंकारवश उन्हें असंकल्पित क्रिया मानता हो तो माने परन्तु "मैं गिर रहा हूं—मैं बह रहा हूं—मैं उड़ रहा हूं" ऐसी अनुभूतियोंका शरीरमें प्रकट होना तो इन्कारा नहीं जा सकता है. इसी तरह शरीरको प्रभावित करनेवाले शीतातपवर्षाजन्य रोग आदि हेतुओंके प्रभाववश भी, उदाहरणतया, अंगकम्पन वमन अतिरेचन प्रलाप आदि अनेकविध क्रिया बिना ही किसी संकल्पके ही हमारे शरीरमें प्रकट होती

दिखलायी नहीं देती क्या? ऐसी स्थितिमें इन अनेकविध क्रियाओंके बारेमें हमें न तो संकल्पजन्यता और न कर्तव्यताका ही बोध होता है. अतः भूतवस्तु न होनेपर भी इन क्रियाओंमें भी वस्तुतन्त्र प्रमाबोध स्वीकारना ही पड़ता है.

ऐसी स्थितिमें समान शरीरमें कुछ क्रियायें संकल्पित होती हैं तो बहोत सारी क्रियायें असंकल्पित भी होती हैं, ऐसा अर्धजरतीयन्याय स्वीकार लेना ही युक्तिसंगत लगता है.

न केवल इतना प्रत्युत प्रत्यक्षावभासन भी, कुछ उदाहरणोंमें, संकल्पतन्त्र होता है तो अन्य कुछ उदाहारणोंमें वस्तुतन्त्र भी. असंकल्पित प्रत्यक्षोंके उदाहरणतया जैसे विद्युत्प्रकाशन मेघगर्जन आदिकी चाक्षुष या श्रावण प्रत्यक्षानुभूति वस्तुतन्त्रतया प्रकट होती हैं, वैसे ही इच्छाजन्य या प्रयत्नजन्य क्रियायें भी प्रकट होती ही हैं. क्योंकि मुखके असंकल्पित प्रत्यक्षावभासनके कालमें भी केवल नासिकादर्शन नयनगोलकदर्शन कपोलचिबुक आदिमें अवस्थित तिलकालकके संकल्पजन्य दर्शन या एकाग्र अनुदर्शन सुकर होते ही हैं. इन उदाहरणोंमें अक्रियारूप अर्थात् ज्ञानरूप होनेपर भी संकल्पतन्त्रता सर्वजनविदित सन्देहातीत तथ्य है. इसी तरह गीतश्रवणकालमें भी षड्जादिस्वरश्रुतिओंका भलीभांति एकाग्र अनुश्रवण भी, इच्छा संकल्प या प्रयत्न के वश, होता भी पाया जाता है. भूमि आदिपर समुपवेशनके समय भूमि आदिमें अवस्थित तीक्ष्ण कण्टक आदिकी तीक्ष्णताका स्पार्शन आकलन भी इच्छा या प्रयत्न के कारण ही शक्य हो पाता है.

अतः शरीरमें प्रकट होनवाली सभी क्रियायें न तो कर्तव्यतया अभिप्रेत होती हैं न अकर्तव्यतया ही; और, न ज्ञान ही अपने

सर्वविध प्रकारोंमें सर्वदा अचिकीर्षित या अकर्तव्य होनेके कारण वस्तुतन्त्रतया ही प्रकट होता है.

अतः क्रियाबोधकी केवल संकल्पतन्त्रता और रूपादिबोधकी केवल वस्तुतन्त्रता के द्वैतके बारेमें भी औत्सर्गिक या आपवादिक विषयव्यवस्था अपेक्षित है ही. अतः इस विषयमें कोई साधारण नियम घड़ा या स्वीकारा नहीं जा सकता है. वेदके संहिता ब्राह्मण एवं उपनिषदों में भी, अतएव, प्रजापति विष्णु अग्नि आदि यज्ञदेवताओंको तथा ब्रह्मको सिद्ध तथा साध्य उभयरूप स्वीकारा गया है :

क.''जो भी कोई सतरह प्रकारके प्रजापतिको यज्ञमें अनुगत स्वीकार पाता है''.

ख.''वह (प्रजापति) यज्ञ बन कर यज्ञका कारण स्वयं ही बना'',''विष्णु यज्ञरूप भी है और यज्ञदेवता भी''.

ग.''नाम रूप कर्म वैसे तो तीन होते हैं... ब्रह्म किन्तु इन सभी नामोंका... रूपोंका... कर्मोंका भरण करता है. अतः ये तीन होनेपर भी आत्माके रूपमें एक होते हैं. इसी तरह आत्मा भी एक होनेपर भी तीन होती है...''[२].

अतः क्रिया एवं ज्ञान के बीच पुरस्फूर्तिक रूपमें यद्यपि परस्पर 'अस्ति-भवति', अर्थात् Being-Becoming के जैसा प्रभेद या तारतम्य प्रकट होता है. परन्तु स्वयम् 'अस्ति' (Being) ही तो कालप्रवाहकी क्षणरूप उपाधियोंमें प्रकट हो जाता है इसके अलावा 'भवति' (Becoming) और क्या है? यदि अपने घरकी खिड़कीमें से बाहर दिखलायी देते असीम आकाशको केवल खिड़कीकी

सीमामें दिखलायी देनेके अपराधवश भिन्न या खण्डित न मानना हो तो. अतएव महर्षि यास्क निरुक्तनिघन्टुमें कहते हैं:

> **''क्रियापदमें प्रधानता भाव (अर्थात् अस्थिर क्रिया होने) की होती है. नामपदमें, जबकि, प्रधानता स्थिर सत्ताकी होती है... सत्तावान् पदार्थोंका निर्देश 'यह गाय है', 'यह घोड़ा है', 'यह पुरुष है' 'यह हाथी है' ऐसा (अंगुलीनिर्देशपूर्वक) किया जाता है. इसके विपरीत भावका निर्देश 'यह हो रहा है' इस तरहके शब्दोंमें 'बैठ रहा है'-'सो रहा है'-'जा रहा है'-'खड़ा हो रहा है' ऐसे किया जाता है... इस भावके छह विकार होते हैं, ऐसा वार्ष्यायणि ऋषिका अभिप्राय है : 'पैदा होता है', 'है', 'विपरिणत होता है', 'बढ़ता है', 'घटता है' और 'विनष्ट हो जाता है'... इनके अतिरिक्त जो भी कोई विकार होते हैं, उन्हें भी इन्हीं विकारोंमें अन्तर्भूत समझ लेना चाहिये, ऐसा वार्ष्यायणिने कहा है''**[३].

अतएव ब्रह्मको नित्य निर्विकल्प मान लेना, क्योंकि विकल्प तो क्षयिष्णु कर्मोंमें ही शक्य हो सकते हैं, यह धारणा मूलमें भगवद्गीताके **''कर्ममें, यदि, ऐसी ब्रह्मसमाधि सिद्ध हो जाये तो अर्पण भी ब्रह्मरूप हो जाता है, हवि भी ब्रह्मरूप, अग्नि भी ब्रह्मरूप, अर्पणकर्ता भी ब्रह्मरूप और जिसे अर्पण किया जाता है वह भी ब्रह्मरूप है''**[४] वचनसे विपरीत प्रतीत होती है. क्रियोपकारक कर्ता कर्म करण सम्प्रदान और अधिकरण रूपी पांच कारकोंसे सम्पन्न होती क्षयिष्णु क्रिया भी उसके सभी कारकोंमें ब्रह्मभावदृष्टि रख कर अनुष्ठित हो पाती हो तो वह क्षयिष्णु होनेके बजाय अक्षय ब्रह्मात्मिका कर्मसमाधि बन जाती है, ऐसा भगवद्गीता

तो आश्वासन प्रदान करती ही है. अतः अकारण ही कर्मके वास्ते अब्रह्मबुद्धिके वश असहिष्णु बरताव नहीं करना चाहिये.

(विश्लेषणवादके सन्दर्भमें परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील तत्त्वोंका स्वरूप)

अस्तु. मस्तिष्कविज्ञानकी अभी तक विकसित शाखाने पराभौतिकी द्वारा प्रशासित जिन प्रदेशोंको पदाक्रान्त बनाया है, वह सजीव प्राणिओंमें प्रकट होती स्वाभाविक या प्राभाविक क्रियाओं एवं संवेदनाओं का क्षेत्र है. इस क्षेत्रमें निरीक्षण तथा परीक्षण प्रचुर हुवे हैं. शारीरिक क्रिया या संवेदना क्षेत्रोंके विमर्शमें मस्तिष्कके भीतर अवस्थित विभिन्न केन्द्रोंके नक्शोंके निर्माण तथा उनके अनुकरणद्वारा वैसे जड़ या जैविक यन्त्रोंका भी निर्माण एवं प्रयोग, पराभौतिकी तत्त्वशास्त्रद्वारा प्रशासित प्रदेशोंको हथिया लेनेके वास्ते, आधुनिक विज्ञानका सर्वथा अद्यतन पादक्षेप यह है. सफल होनेपर आधुनिक विज्ञान पराभौतिकी तत्त्वशास्त्रका सहयोगी ही बनेगा या विरोधी ही, इस बारेमें आशावादी या निराशावादी बनना एक वैचारिक धांधली मुझे अभी लगती है.

कलानुभूति या कलाविष्कृति, नैतिक कर्तव्यबोध या कर्तव्यानुष्ठान अथवा किन्हीं विषयोंमें धार्मिक आस्था या तदनुरूप धर्मानुष्ठान को सम्पन्न करनेवाले मस्तिष्कके भीतर रहे बोधकेन्द्र या आदेशकेन्द्र वहां कहां पर अवस्थित हैं, उनमें अपने कार्यको सम्पन्न करनेमें किस प्रकारके वैद्युतरासायनिक परिवर्तन आते हैं, इन सारी बातोंसे जुड़े परीक्षणोंमें पराभौतिकी-प्रशासित क्षेत्रोंका बलाद् अधिग्रहण कर उन्हें निज अंकुशमें लानेको आधुनिक विज्ञानने दुर्दम पराक्रम प्रकट किया है. पर यह तो सजीव प्राणीकी चेतनाके विकासके प्रायः सभी सोपानपर अभी ही नहीं सदा-सर्वदा चलती आयी चिरन्तन कथा है.

जड़ पदार्थोंकी विविधतामें भी तो कोई एक पदार्थ कभी दूसरे पदार्थका आविर्भावक, तो कभी परिवर्धक, तो कभी परिशोषक या परिहारक कब नहीं था! इन्हीं जड़ पदार्थोंके बीच प्रकट होनेवाले सजीव अचर स्पर्शवेदी शरीरोंका जड़ पदार्थोंपर जैसा वर्चस्व प्रकट हुवा वैसा ही इन सजीव अचर पदार्थोंपर भी तो पुनः सचर स्पर्शवेदी शरीरधारियोंका वर्चस्व या अंकुश रहा ही है. उनमें भी पुनः विद्यमान रस-गन्ध-ध्वनि-रूपके संवेदी सजीव शरीरोंपर इन पंचविध तन्मात्राओंके न केवल विद्यमानसंवेदी अपितु स्मृतिजन्य संस्कारवश प्रत्यभिज्ञासम्पन्न सजीव प्राणियोंका भी वर्चस्व रहा ही है. विकाससोपानपर प्रकट होनेवाले इनपर भी पुनः इन पंचविध तन्मात्राओंकी समुत्पत्ति-समापत्ति-समाप्तिके संवेदी शरीरोंका वर्चस्व रहा ही है. यों अपनेसे उपरले विकाससोपानपर प्रकट होनेवाली बुद्धिसामर्थ्यका निचले सोपानोंपर प्रकट होनेवाले बुद्धिसामर्थ्यपर वर्चस्व सर्वदा ही इतिहाससिद्ध रहा है. फिरभी प्रकृतिने अपने सन्तुलनशील स्वभावके वश किसीको जीवनाधार ही बना कर विनष्ट नहीं होने दिया.

अतः यह कहनेका साहस हम जुटा पाते हैं कि निचले सोपानोंपर अवस्थित बाह्य पदार्थोंके असंकल्पित अनुभवों अवधारणाओं तथा व्यवहार्यता पर पराभौतिकीविदोंको सतानेवाली अनिश्चिति आज कष्टप्रद भी हो तब भी भविष्यमें अनुभवातीत पदार्थोंके चिन्तनक्षेत्रमें निजवर्चस्विताके वास्ते पराभौतिकीके चिन्तकोंके हितमें प्रकृतिस्वभावोपात्त सन्तुलन प्रकट हो ही जायेगा! क्योंकि प्राणिविकासके विविध सोपानोंपर भी निचले स्तरके संवेदनशीलतावाले सजीव प्राणियोंपर उपरले स्तरके सजीव प्राणियों वर्चस्व पहले भी दुःसह रहा होनेपर भी सर्वथा असह्य या निःशेष विघातक तो कभी हो नहीं पाया, वैसे ही निचले स्तरके पदार्थोंके स्वरूप अनुभव एवं व्यावहारिक

उपयोगिता की रीतिको आधुनिक विज्ञानोंकी विविधता हथिया भी लेगी, तबभी उनसे उपरले अनुभवातीत पदार्थोंपर पराभौतिकी-चिन्तन अवरुद्ध नहीं हो पायेगा. भूतकालमें भी जैसे निचले स्तरकी विद्यमानवेदी चेतनाको जहां अभावबोध होता होगा, तब वहीं समुत्पत्ति-समापत्ति-समाप्तिकी संवेदनाशील चेतना भावग्राहिणी बन जानेके कारण अपने व्यवहारको व्यापक क्षेत्रोंमें वर्चस्वितया कार्यकारी बना पायी थी. फिरभी स्वाभाविक अनुभूतिके क्षेत्रमें कुछ न कुछ तो आपाधापी प्राणियोंके इतिहासमें भी सदा-सर्वदा प्रकट होती ही रही है. प्रकृतिकी सर्वपालनात्मिका शक्तिके कारण इसी तरहका सन्तुलन सदा-सर्वदा निभता रहा है!

एक सन्दर्भान्तरमें इस तरहकी आपाधापीकी दारुणकथा भागवतपुराणमें इन उल्लेखनीय शब्दोंमें वर्णित हुयी है :

क.''बिन हाथवाले प्राणी हाथवाले प्राणिओंके भक्ष्य बनते हैं, बिना पगके जो प्राणी होते हैं वे चौपगे प्राणिओंके भक्ष्य बन जाते हैं, क्षुद्रकाय प्राणी महाकाय प्राणियोंके भक्ष्य बनते हैं. प्रत्येक जीवका जीवन इस तरह दूसरे जीवपर टिका हुवा है. वैसे तो इन सभी रूपोंमें एकमात्र स्वयंप्रकाश भगवान्... जो आत्माओंके भी आत्मा हैं, वे भीतर भी अनुभूत होते हैं और बाहर भी. अपनी मायाशक्तिके कारण बहुधा भासित होते हैं''.

ख.''उन परम भगवान्ने प्रत्येक सर्गके बाद अपनी शक्तिद्वारा यह प्रकट किया है... समुद्रके भीतरसे बाहर निकाली पृथ्वीको जब द्रुमोंसे चारों ओर घिरी हुयी पायी तो अनुसर्गके निर्माणार्थ नियुक्त अधिकारी क्रुद्ध हो गये... और वायु और अग्नि का निर्माण करके उन वृक्षोंको

जला देने तत्पर हो गये... उनके द्वारा वृक्षोंको जलता हुवा देख कर... उनके क्रोधको शान्त करते हुवे बोले 'इन दीन वृक्षोंको जला देना आवश्यक नहीं, क्योंकि आपको तो प्रजाओंके पतिके रूपमें प्रजाकी वृद्धिका कार्य सोंपा गया है नकि वृक्षोंको जला देनेका! प्रजापतिओंके पतिरूप विभु अव्यय भगवान् हरिने ऊर्जा प्रकट करनेके हेतु वनस्पतियोंका एवं ओषधिओंका निर्माण किया है, क्योंकि अचर प्राणी चरिष्णु प्राणियोंके अन्न बनाये गये हैं. चरणरहित प्राणी पादचारियोंके अन्नतया निर्मित हुवे हैं, हस्तरहित प्राणी हस्तयुक्तोंके अन्नतया निर्मित हुवे हैं, दो पगवाले प्राणी चार पगवाले प्राणियोंके अन्नतया निर्मित हुवे हैं. अतः आप तो पापरहित होनेके कारण देवाधिदेव और अपने पिताकी आज्ञाके अनुसार प्रजाओंके सर्गके लिये नियुक्त हुवे हो सो वृक्षोंको जला देना आपकेलिये कैसे उचित हो सकता है? अतः सज्जनोंके मार्गको अपना कर अपने इस धधकते कोपका त्याग आपको कर देना चाहिये''.[५]

अतः यह तो सृष्टिके निर्माणसंविधानमें सर्वत्र उपलब्ध होनेवाला शाश्वत सत्य ही है! अतएव प्रचुर अन्नके चतुर्दिक् पर्यावरणमें ही अन्नाद प्राणी जीवित या विद्यमान रह सकता है और अन्नाद प्राणीके भीतर पहुंच जानेके बाद भक्षित अन्न ही अन्नादके साथ स्वरूपभावापन्न हो जाता है. अतएव भक्ष्य अन्न और भक्षक अन्नाद के बीच परस्पर अद्वैतानुभूतिमें आत्मविश्वैक्यभावका उपदेश तैत्तिरीयोपनिषद्में मिलता है :

''मैं स्वयं अन्न भी हुं... और अन्नभक्षी भी... मैं

उस अन्नका भक्षण करता हुं जो अन्न मेरा भक्षक है... यों सोचनेपर मैं सारा भुवन बन जाता हुं. जो इस तरह समझ पाता है उसके लिये सुप्रकाश ज्योति प्रकट हो जाती है''[६].

मुझे तो ऐसा लगता है कि आधुनिक विज्ञानके द्वारा पराभौतिकीके क्षेत्रको हड़पे या निगले जानेपर अन्नाद आधुनिक विज्ञानके भीतर जब पराभौतिक शास्त्र अन्नात्मना पहुंच जायेगा तब भक्ष्य अन्न और भक्षक अन्नाद के बीच तादात्म्यभावापत्ति सिद्ध हो जायेगी. फलरूपेण पराभौतिकी आधुनिक विज्ञानको सहज ही पराभौतिकीभावापन्न बना कर उसके स्वरूपकी घटक बन जायेगी! अतः ऐसे पराक्रमके सफल होनेपर भी विज्ञान उतना ही नियन्त्रण हमारी चिन्तनसामर्थ्यपर प्रकट कर पायेगा जितना कि ऐसे नियन्त्रणोंद्वारा यथाभिलाष स्वयंको भलीभांति कार्य सम्पन्न करने सक्षम बन पाये, उससे अधिक नहीं.

अतः आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन यदि पराभौतिकीचिन्तनपर कोपमयी या हिंसात्मिका दृष्टि रखता है तो वह दृश्यसृष्टिका वास्तविक हित नहीं कर पायेगा! वास्तविक विश्वहित तो पराभौतिकीचिन्तनकी तरह द्रष्टृसृष्टिपर भी अनुकम्पामयी या स्नेहमयी दृष्टिको निभानेपर ही शक्य है. इसी तरह पराभौतिकीचिन्तनको भी आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तनपर कोपमयी हिंसात्मिका दृष्टि नहीं रखनी चाहिये.

क्योंकि दिखना/देखना, सुनाई देना/सुनना, प्रिय लगना/प्रेम-करना, अप्रिय लगना/उपेक्षा-द्वेष-करना, भय लगना/डरना-चाहना अथवा विचार-आना/विचार-करना आदि प्रकारभेदोंके बने रहते विचारशील मानवपशुको विचाररहित नहीं बनाया जा सकेगा.

अतएव विज्ञानके अन्वेषण-प्रयोग-आविष्कारोंद्वारा प्राप्त निष्कर्षोंपर यह चिन्तनप्रधान प्राणी अपना चिन्तन बन्द तो नहीं कर पायेगा. यह तो स्वाभाविक ही है कि पहले जैसे दृष्ट-श्रुत आदि उदाहरणोंके आधारपर उभरती जिज्ञासाके उपशमनार्थ उपपत्ति/अनुपपत्ति सोची जाती थी, वह अब वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रयोगोपात्त उदाहरणोंका अवलम्बन कर विचारणीय बनानेको बाधित होना पड़ेगा. प्रारम्भमें इसमें पराभौतिकीचिन्तकोंको अपनी हेठी लगती भी हो पर अन्तमें कभी न कभी तो लगनी बन्द हो ही जायेगी! अतः मानवीय बुद्धिरूप अधिकरणमें समानाधिकरणतया प्रकट होते पराभौतिक चिन्तन और वैज्ञानिक चिन्तन को ब्रह्मोपम अपने सामानाधिकरण्यका विचार कर परस्पर असहिष्णु नहीं बनना चाहिये.

आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तकोंद्वारा पराभौतिकचिन्तनकी उपेक्षा इसी तरह पराभौतिकचिन्तकोंको सताती आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तनकी भीतिके मूलमें, जो समस्या है वह तो विश्लेषणवाद या संश्लेषणवाद के साथ जुड़ी अतिरेकतावादी मनोवृत्तिकी ही है.

उदाहरणतया भावपदार्थका "[१]द्रव्य [२]गुण [३]कर्म [४]सामान्य [५]विशेष [६]समवाय" में विश्लेषण स्वयं वैशेषिकोंने ही पुरःस्कृत किया है. उनके इस अपराधवश, यदि, बौद्ध चिन्तन भावपदार्थको स्वीकारना न चाहता हो तो, वैशेषिक भी कह तो सकते ही हैं कि "[१]दुःख [२]अविद्या [३]संस्कार [४]विज्ञान [५]नामरूप [६]षडायतन [७]स्पर्श [८]वेदना [९]तृष्णा [१०]उपादान [११]भव [१२]जाति" के दुःखचक्रका अपने घटकोंमें विश्लेषण स्वयं बौद्धोंने ही प्रस्तुत किया है. अतः ये बारह घटक तो स्वीकारे जा सकते हैं पर इनसे घटित दुःखचक्र नहीं, न तो प्रतीत्यसमुत्पादकी प्रक्रियाके अवलम्बनद्वारा और न अस्ति-नास्ति-उभय-अनुभयातीत शून्यताकी प्रक्रियाके अवलम्बनद्वारा.

और तब तो "[१] सम्यग्दृष्टि [२] सम्यक्संकल्प [३] सम्यग्वाचा [४] सम्यक्कामान्त [५] सम्यगाजीव [६] सम्यग्व्यायाम [७] सम्यक्स्मृति [८] सम्यक्समाधि" वाले अष्टांगमार्गका विश्लेषण भी स्वयं सौगतोंद्वारा पुरस्कृत होनेसे प्रज्ञा-शील-समाधिकी दुःखनिरोधगामिनी त्रयी भी स्वीकार्य न हो पायेगी!

ब्रह्माण्डविज्ञानकी दृष्टिसे सौरमण्डलका भी उसके नाभिदेशमें अवस्थित सूर्य रूपी तारा एवं उसकी परिक्रमा करनेवाले बुध शुक्र पृथ्वी मंगल गुरु शनि आदि ग्रहपिण्डोंमें विश्लेषण शक्य होनेसे 'सौरमण्डल' पदको वाच्यार्थहीन वाचक नहीं माना जा सकता. सौरमण्डलके, क्योंकि, अस्तित्वको इन्कारनेपर पृथ्वीपर जन्म ले कर ऐसा विधान करनेवाला स्वयं ही असिद्ध हो जायेगा!

किसी बाह्य पदार्थके चाक्षुष अवभासनकी प्रक्रियामें, क्योंकि, बाह्य पदार्थकी बाहरी परत परसे परावृत्त प्रकाश नेत्रपटलमें प्रतिबिम्बित होता है, वहां प्रकाशके ग्रहणार्थ शंकु-शलाकाओंमें प्रकाशकिरणोंका पृथक्करण होता है, बादमें नेत्रगोलक और मस्तिष्क के बीच जो नाड़ीतन्त्र बिछा हुवा है उनमें रहनेवाले नाड़ीकोशों (Nervecells or neurons) में वैद्युतरसायनिक तरंगोंमें रूपान्तरण प्रतिक्रियाके रूपमें प्रकट होता है. ये तरंगें मस्तिष्कके भीतर भरे संवेदनशील नाड़ीकोशमुकुरों (Mirror neurons) में दर्ज होते हैं. इस तरह नेत्रपटलपर प्रकाशपातनकी प्रक्रियासे शुरु होनेवाली क्रियाकी वैद्युतरसायनिक प्रतिक्रियाकी कई कड़ियोंके अलावा चाक्षुष अवभासनकी चेतनात्मिका सत्ताका अस्वीकार भी किया जा सकता है. ऐसे विश्लेषणवादकी, परन्तु, अतिरेकिताके वश तो सम्पूर्ण मानवशरीरकी वास्तविकताको भी इन्हींके जैसी प्रक्रियाओंमें किये जाते विश्लेषणोंके आधारपर इन्कारा जा सकेगा. शरीरान्तर्वती काम या प्रेम की इच्छा भी अन्तमें तो टेस्टोरेन्की

रासायनिक प्रतिक्रियाके अलावा अन्य कुछ नहीं!

अतः ऐसे इन सभी उदाहरणोंकी सम्पुष्टि मोबाईल् या डिजिटल् केमेरा आदि उपकरणोंमें रहे प्रकाश ध्वनि स्पर्श गन्ध आदिके ग्राहक संवाहक संग्राहक डिजिट्स्की दुहाई दे कर की जाती है. एतावता मानवीय शरीरमें प्रकट होती इन संवेदनाओंको आत्मघातक विश्लेषणवादिताके अतिरेकमें कैसे इन्कारा जा सकता है? क्योंकि इन कृत्रिम उपकरणोंमें भी ऐसी बाह्य तन्मात्राओंकी ग्राहकता, उनके भीतर रहे कोषोपम कोष्ठों तक उनकी संवाहकता और उनके वहां किये जाते संग्रहण की वास्तविकताका निर्धारण भी, पुनः प्रकृतिद्वारा विनिर्मित सजीव कोषोंद्वारा किये जाते ग्रहण संवाहन एवं संग्रहण के साक्ष्यपर अवलम्बित हुवे बिना शक्य नहीं.

मेंदेलेवद्वारा सारणीबद्ध किये गये सृष्टिके मूल तत्त्वोंका भी इलेक्ट्रॉन्स् न्यूट्रॉन्स् और प्रोटॉन्स् में विश्लेषण किया ही गया है. और इन परमाणुत्रयीके भी पुनः क्वार्क्स् (quarks)के घटक फॅर्मिनोस्, जो पुनः बेरिऑन्स् और मेज़ोन्स् घटकतया उत्प्रेक्षित हैं, उनमें विश्लेषण प्रस्तावित है. तो ऐसे विश्लेषणवादकी अतिरेकता भरी मनोवृत्तिद्वारा आधुनिक विज्ञानकी विविध शाखाओंद्वारा मान्य पदार्थोंका भी अन्यथा व्याख्यान कहां अशक्य है?

अतः इन दिखलायी सुनायी देती तन्मात्राओंकी उपलब्धियोंके अलावा संकल्पजन्य देखने सुनने सूंघने छूने चखने आदिके अवबोधकलापकी तरह इच्छाजन्य चलने पकड़ने आदिके क्रियाकलापोंमें कृत्रिम अकृत्रिम जड़क्रियातीत इच्छा-अनिच्छा रुचि-अरुचि उत्प्रेक्षा-निश्चिति उपलब्धि-अनुपलब्धि सन्तोष-असन्तोष विस्मय-अविस्मय भीति-क्रोध रति-अरति विचार-ध्यान आदिके मनोभावोंकी

वास्तविकताको भी इन्कारा नहीं जा सकता है.

उदाहरणतया मैं अपने कमरेमें बैठा हुवा, चर्मचक्षुसे तो कमरेके बाहर देखनेमें अक्षम हूं. तब भी अपने ज्ञानचक्षुसे मैं अपने कमरेके भीतर बैठा हुवा ही मुंबई महाराष्ट्र भारत एशिया पृथ्वी में बैठे होनेकी अनुभूति कर सकता हुं, नैयायिक इसे ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिका उचित उदाहरण मानें या न मानें! यह कृत्रिम वैज्ञानिक उपकरणोंके बलपर तो शक्य नहीं. मान भी लें कि ऐसा भी कोई उपकरण आविष्कृत हो जायेगा. तबभी उसे प्रयोगमें लाने या न लाने का निश्चय तो स्वयं मैं ही करूंगा. अतः उससे अधिक उपरले सोपानपर पुनः पराभौतिकीको अपने चिन्तनात्मक प्रशासन वर्चस्व उपलब्ध रहेगा ही.

अतएव प्रत्यक्षावभासनकी उपलब्ध दर्शनोपकरणकी सामग्रियोंके वश अवभासित होती विविधताके भीतर जो आत्मैक्यका अनुदर्शन कर पाता है, उसे शोक-मोह नहीं होता, ऐसा उपनिषद् हमें समझाना चाहते हैं :

> **''यदि सारे भूत-भौतिक पदार्थोंको एक आत्माके भीतर कोई जान पाता हो तो फिर शोक-मोह उसे सताते नहीं''** [७].

इस औपनिषद धारणामें कई चिन्तकोंको आत्मकैवल्यवाद (solipsism) होने की ऐकान्तिक धारणाका दोष स्फुरित हो सकता है. यहां, परन्तु, धैर्यपूर्वक लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यही है कि उपनिषद् सर्वभूतोंके द्वैतको मिथ्या या असत् मान कर बाधित नहीं करना चाहता; प्रत्युत सर्वभूतोंके द्वैतदर्शनमें आत्मकैवल्यके

अनुदर्शनकी बात कह रहा है. एक भाषामें कहे गये किसी तथ्यका दूसरी भाषामें अनुवाद करनेसे मूलभाषा बाधित नहीं परन्तु अनूदित होती है. दिखलायी देते निखिल भूतोंके द्वैतको आत्माद्वैतमें देख पानेका उपदेश यहां अभिप्रेत है.

अतः जो परिणमनशील होता है वह हमें दिखलायी सुनायी आदि पड़ता है. मानवीय ज्ञानके इस प्रदेशको आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन पराभौतिकीकी पराधीनतासे छुड़ा कर वहां अपना राज्य या प्रशासन वह प्रस्थापित कर रहा हो या करना चाहता हो तो पराभौतिकीके चिन्तनके वास्ते कोई महती हानि हुयी हो, ऐसा लगता नहीं. प्रतिक्षण परिणामी इस अप्रशास्य प्रदेशपर सर्वदा परिवर्तनशील वैज्ञानिक चिन्तन ''यथा राजा तथा प्रजा'' न्यायके अनुसार इतरेतरोपम औचित्य ही प्रकट करता है.

(ब्रह्मवाद)

इन प्रतिक्षण परिणामशील प्रापञ्चिक विषयोंका यदि कोई अभिन्ननिमित्तोपादानप्रयोजनशाली अविकारी तत्त्व हो तो वह तो दिखलायी नहीं देगा. उसे तो देखना ही पड़ेगा. अतएव पराभौतिकी दर्शनशास्त्रद्वारा संस्कृत नयनोंसे ही उसे देखा जा सकेगा. अतएव ऋग्वेदमें कहा गया है ''**जो कुछ है या जो कुछ होनेवाला है वह सभी कुछ यह पुरुष ही तो है. वह तो ऐसे अमृतका धनी है कि जो अन्नका रूप धारण करनेपर भी तिरोहित नहीं हो पाता है**''[८] अर्थात् अन्नात्मना भक्ष्य बननेके कारण चर्मचक्षुसे नष्ट हुवा सा लगनेपर भी श्रौतज्ञानकी चक्षुसे निहारनेपर जो तिरोहित नहीं लगता हो ऐसा ब्रह्मरूप पुरुष अमृतत्वका स्वामी पदार्थ है! अतएव विनाशशील पदार्थोंको उस अविनाशीकी महिमाके रूपमें बिरदानेको श्रुति कहती है ''**इतनी तो उसकी महिमा है अन्यथा**

वह पुरुष तो इससे कहीं अधिक है. क्योंकि उस चार चरणवाले पुरुषके एक चरणमें यह सारा मर्त्य विश्व समाया हुवा है और तीन अमृत चरण तो द्युलोकमें हैं''[९].

यों अंश और अंशी परस्पर, देश-काल-स्वरूपमें परिच्छिन्न इन्स्टॅन्स् और देश-काल-स्वरूपभेदातीत रूल्, अथवा देश-काल-स्वरूपमें परिच्छिन्न फेक्ट् और देश-काल-स्वरूपभेदातीत ट्रुथ् की तरह माने जाने चाहियें. अतएव जागतिक सारे नाम रूप और कर्म, देश-काल-स्वरूपके प्रभेदवश, परिच्छिन्न होते हैं. जबकि ब्रह्मको देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदसे अतीत माना गया है : **''ब्रह्म सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, बह्म अपरिच्छिन्नस्वरूप है'', ''द्रव्य कर्म काल स्वभाव या जीव भी वासुदेवसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं होते''**[१०].

अतएव श्वेताश्वतरोपनिषद्में **''क्या-कैसा ब्रह्म कारण है? हम कैसे जन्मे हैं और जीवित रहते हैं? हम कहां सम्प्रतिष्ठित हैं? हमारे भीतर कौन अधिष्ठित है? किस कारणके वश हमें जिन बातोंमें सुख नहीं मिलता उन्हीं बातोंमें हम जुत जाते हैं? इस बारेमें ब्रह्मविदोंने क्या-कैसी व्यवस्था समझायी है?''**[११] इस ऐसी जिज्ञासाके समाधानार्थ सुस्पष्ट शब्दोंमें **''काल स्वभाव नियति यदृच्छा भूत योनि पुरुष इस तरहके कारण सोचे-विचारे जाते हैं, क्या इनके परस्पर संयोगमें आत्मभाववश आत्माको सुखदुःख होता है? या सुखदुःखके बारेमें अनीश्वर होनेके कारण आत्माको भी स्वीकारना शक्य नहीं? उन्होंने ध्यानयोगमें परायण हो कर देखा कि जितने भी कारण हो सकते हैं उन सभी काल आत्मा आदि रूपोंवाले तत्त्वोंमें वही एक देव अपनी आत्मशक्तिमें निगूढ़ कालात्मयुक्त हो कर अधिष्ठित रहता है''**[१२] इस वचनमें सृष्टिकारणतया समझमें आनेवाले या प्रस्तुत होनेवाले सभी तत्त्वोंका अन्तर्यामी अधिष्ठाता ब्रह्म ही इन सभी नाम-रूप-कर्मात्मक

तत्त्वोंका अनन्य आधार है ऐसा समझाया गया है.

आधुनिक विज्ञानको यह ब्रह्म न भी समझमें आता हो और वह श्रुतिसंकलित कारणतत्त्वोंमें से अन्यतम या पृथक् ही कोई कारणतत्त्व स्वीकारना चाहता हो, तब भी श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्मके ही उसे कोई अनुपदिष्ट-अचर्चित नाम-रूप-कर्मके रूपमें स्वीकार लेनेमें ब्रह्मवादीके लिये घबराने जैसी कोई बात नहीं है. क्योंकि श्रुतिके **''वह धीर पुरुष सारे रूपोंको धारण कर और तदनुसारी नामोंको भी धारण कर अवस्थित है''**[१३] वचनमें सम्भावित सकल नाम-रूपोंका विधारक ब्रह्मको तो माना ही गया है.

ऐसी स्थितिमें पूर्वोल्लिखित **''इतनी उसकी महिमा है''**[१४] वचनके आधारपर जो कुछ दिख रहा है वह उसका ही माहात्म्य है. अर्थात् उस महान् आत्माके महान् आत्मा होनेका साक्ष्य है. देखना हमें, परन्तु, उपनिषदोंके अनुसार उसका तादात्म्य है.

इस ब्रह्मके ऐसे माहात्म्य और तादात्म्य का उपदेश श्रुतिवचनोंमें स्व-पर-सर्वानुभूतियोंकी अनेकविध मुद्राओंमें दिया गया है :

क.''पहले तो यह ब्रह्म ही था. उसने अपने-आपको 'मैं ब्रह्म हुं' ऐसे जाना अतः सभी कुछ बन गया. अतएव आज भी जो इस तरह अपने-आपको ब्रह्म जान पाता है वह सभी कुछ बन जाता है''.

ख.''यह सभी कुछ एतदात्मक है. वह सत्य है. आत्मा तो वही है और तुम भी वही हो''.

ग.''यह सभी कुछ ब्रह्म है, अतः उस ब्रह्मकी उपासना, सब कुछ उसमें पैदा-लीन होता है, सभी उसीमें सांस

ले रहे हैं, यों शांत हो कर ऐसी उसकी उपासना करनी चाहिये'' [१५].

इन वचनोंके अनुसार 'अहं'कारगोचर 'त्वं'कारगोचर 'इदं'कारगोचर 'सर्व'कारगोचर यों दिखलायी देते सभी पदार्थोंके बारेमें पहले उन्हें एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके माहात्म्यके रूपमें देखनेकी औपनिषदी दृष्टि पनपनी चाहिये. अन्तमें इन्हें उद्देश्य बना कर इनके ब्रह्म होनेके विधानद्वारा इनका और ब्रह्मका तादात्म्य समझाया गया है.

अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य माहात्म्यबोधपूर्वक प्रकट होती तादात्म्यरतिको भक्तिके रूपमें परिभाषित और उद्‌बोधित करना चाहते हैं. जगत्‌को ब्रह्मके अंश या कार्य के रूपमें जानना ब्रह्मके माहात्म्यको जान लेनेकी बात है परन्तु जगत्‌के साथ ब्रह्मका तादात्म्य समझ आनेपर ब्रह्मके बारेमें अनन्यात्मासक्ति पनपती है. तदर्थ अपना यानिकि सकल जगत्‌का ब्रह्मके साथ तादात्म्य जानना भी आवश्यक होता है (द्रष्ट.सुबो.२।९।३५ तथा त.दी.नि.१।४२).

दूसरे शब्दोंमें कहना हो तो दिखलायी देते जगत्‌को ब्रह्मके माहात्म्यके रूपमें देख पानेपर ही अंश और अंशी के बीच रहा तादात्म्य बुद्धिगत या हृदयारूढ़ हो पाता है.

(ब्रह्मका वेदान्तप्रतिपादित स्वरूप)

अतएव वेदान्तके विभिन्न प्रस्थानोंमें, ब्रह्मके साथ जगत्‌का अद्वैत है या द्वैत, इस विषयको ले कर पर्याप्त परस्पर असहिष्णु विचारभेद प्रवर्तित हुवे हैं. ब्रह्मवादी दृष्टिकोणसे उस विवाद या विमति का मूल ब्रह्मके माहात्म्य या अभेद के बारेमें अतिरेकतावादी

दृष्टिकोण ही है. अतः माहात्म्य और तादात्म्य दोनोंको अंगीकार करनेपर अर्थात् तादात्म्यसहिष्णु माहात्म्य और माहात्म्यसहिष्णु तादात्म्य यदि स्वीकार्य बन पाये तो ईशावास्योपनिषद्में इसे कैसे प्रतिपादित किया गया, उसे भी देख लेना प्रासंगिक होगा :

> **''जो अविद्याके उपासक होते हैं वे तो अन्धंतम नरकमें प्रवेश करनेवाले हैं. परन्तु जो विद्यामें ही रत रह जाते हैं वे तो उससे भी अधिक अंधेरेमें प्रवेश करनेवाले होते हैं. अतः जो उसे विद्याकी तरह अविद्याके भी साथ जान पाते हैं, वे अविद्याके कारण मृत्युको पार करके विद्याद्वारा मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं''** [१६].

यहां सुस्पष्ट शब्दोंमें अविद्या और विद्या को परस्पर असहिष्णुतया उपस्थापित करनेके बजाय उभयपूरकतया प्रस्तुत किया गया है. ब्रह्मबोधरहित अहंकार अथवा आत्मरति अविद्या है. और यह चेतनाको अन्धंतमगामिनी बना देती है. तादात्म्यबोधरहित ब्रह्मका माहात्म्यबोध विद्या तो अवश्य है परन्तु उसे अन्धंतमसे भी अधिक दुर्गति प्रदान करनेवाला माना गया है. अतः अपने आविद्यक अहंकारमें झलकनेवाली आत्मरतिके द्वारा जो ब्राह्मिक तादात्म्यका अनुभव कर पाता हो अथवा ब्राह्मिक माहात्म्यका स्वीकार जो अपने आविद्यक अहंकारके साथ स्वीकार पाता है, वही आविद्यक अहंकारके सहारे स्वयंकी मर्त्यता होनेकी भीतिसे मुक्त हो कर ब्राह्मिक तादात्म्यके बोधवश ब्राह्मिक रमणके हिस्सा होनेकी आश्वस्तताके वश अमृतत्वको प्राप्त कर पाता है.

यूरोपीय चिन्तक पास्कल्का एक विधान है कि यह विशाल निष्ठुर ब्रह्माण्ड यदि मानवको कभी निःशेषतया विनष्ट भी कर

देगा तो भी महान् तो मानवको ही मानना चाहिये, क्योंकि मानव यह जान पाता है कि उसे निःशेष किया जा रहा है जबकि ब्रह्माण्ड यह जान नहीं पायेगा कि उसमें प्रकट होनेवाली कितनी महत्त्वपूर्ण संरचना उसने खतम कर दी! इस तरहकी विचारधारामें मानवीय अहंकारका ब्रह्माण्डके इदंकारसे तादात्म्य अनुभव करनेके बजाय केवल माहात्म्य ही स्वीकारा जा रहा है, वह भी ब्रह्माण्डके द्वारा मानवके नष्ट होनेकी संभावना और भीति के साथ!

ब्रह्मवाद, परन्तु, मानवीय बुद्धि व्यवहार और हृदय में ऐसी अवधारणा प्रस्थापित करना चाहता है कि ब्रह्मको अपना अंशी-उपादान माननेपर स्वयंके नाशके त्रास एवं कुण्ठा से मुक्ति मिल सकती है. क्योंकि एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके माहात्म्यको भलीभांति जान लेनेपर वही क्षणिक क्षयिष्णु क्रियारूपमें भी प्रकट हुवा है और वही अक्षय सनातन चेतनाके रूपमें उसका साक्षी भी बनता है. और ऐसा तथ्य अवगत होनेपर भक्ष्य अन्नकी नश्वरता और उसके कारण ज्योतीरूप भक्षक अन्नादकी अन्नमयताके कारण प्रकट होती अन्धकारोपमा मृत्युभीति और कुण्ठा पर काबू मिल सकता है.

महर्षि यास्कने **''अन्ध' नाम अन्नका है... तमस्को भी 'अन्ध' कहा जाता है, क्योंकि उसमें न ध्यान शक्य होता है और न दर्शन ही''**[१७] यों अन्न और अन्धकार दोनोंमें 'अन्ध'पदकी शक्ति स्वीकारी है. इसी तरह **''मृत्यु तो असत् है—अमृत सद् होता है'', ''मृत्यु निश्चय ही तमोरूप होती है—अमृत तो ज्योतीरूप होता है'', ''प्रधान क्षर होता है—अक्षर अमृतरूप होता है''**[१८] इन वचनोंमें 'मृत्यु'-'अमृत', 'तमो-ज्योति', 'असत्'-'सत्' आदि पदयुगलोंमें

इतरेतरार्थव्यावर्तकता प्रतीत तो अवश्य ही होती है. औपनिषद् ब्रह्मके भीतर, परन्तु, ये ही पदार्थ अपना इतरेतरसहिष्णु स्वरूप भी दरसाते ही हैं. यथा बृहदारण्यकोपनिषद् एवं भगवद्गीता में सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि **''ब्रह्मके दो रूप होते हैं : वह मर्त्यरूप भी होता है और अमृतरूप भी, प्रकट सत् भी होता है और अप्रकट त्यत् भी''**, **''अमृत भी और मृत्यु भी सद् और असत् भी मैं ही हुं''**,**''सर्वहारी मृत्यु भी मैं हुं और होनेवालोंका उद्भव भी''** [१९].

अतः एक ओर ऐसे वचन और दूसरी ओर **''जो ऐसे समझता है कि ब्रह्मका कहीं भी अस्तित्व ही नहीं वह तो स्वयं ही असत् हो जाता है''** [२०] वचनोंको एक साथ पढ़नेपर कुछ असंमजसता भी भासित हो सकती है. स्वयम् इसी उपनिषद्में, किन्तु, एक नितान्त मननीय समाधान भी प्रस्तुत हुवा है :

> **''उसने कामना की कि वह बहुत बन कर प्रकट हो जाय... उसने तप किया और तपद्वारा उसने यह सभी कुछ प्रकट किया... सत् और असत्... विज्ञान और अविज्ञान, सत्य और अनृत भी''** [२१].

अतः कहा जा सकता है कि ब्रह्म स्वरूपतः असत् हो नहीं सकता परन्तु एतावता लीलया वह असत् बन न पाता हो इतना असमर्थ माननेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है! यही बात मृत्यु तम अन्धकार या अविद्या के बारेमें भी कही जा सकती है. प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि सदैकरस ब्रह्म असत् कैसे बन पायेगा?

इस बारेमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कुछ इस तरहकी प्रक्रिया

दरसाते हैं कि सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आनन्दांशके तिरोधानद्वारा जैसे लीलया अज्ञ जीवात्मा बन सकता है, अथवा जैसे अपने चिदंशके तिरोधानद्वारा जड़ प्रकृति और उसका विकाररूप पांचभौतिक प्रपंच भी बन सकता है, वैसे ही सदंशके भी तिरोधानद्वारा, अर्थात् स्वरूपानुपाती नहीं किन्तु स्वसामर्थ्यानुपाती नाम-रूप-कर्म वह प्रकट कर सकता है. ऐसे नाम-रूप-कर्म सदुपादानक न होनेके कारण 'असत्' कहलाते हैं. इसी तरह तमस् या अन्धकार या अविज्ञान या अविद्या भी, अपने चिदंश या आनन्दांश के तिरोधानद्वारा, सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रकट कर सकता है. इसी तरह मृत्यु तो प्राणशक्ति और अन्नमय शरीर के परस्पर वियोजनके अलावा और कुछ नहीं. वह ब्रह्म भी अपने द्वारा परिगृहीत शरीररूपोंमें प्रकट करने सर्वसमर्थ है ही.

(विविध मतोंको परस्परासहिष्णु बनानेवाले कतिपय विवादग्रस्त मुद्दे)

निष्कर्षतया विभिन्न मतवादोंको निरन्तर उलझाये रखनेवाले कतिपय प्रमुख परस्पर विरोधाभासी मुद्दोंपर, उदाहरणतया, [१] विद्या अविद्यासहिष्णु हो सकती है या नहीं? [२] कालातीत नित्यता कालिक-अनित्यतासहिष्णु हो सकती है या नहीं? अर्थात् अनादिता जन्मसहिष्णु हो सकती है या नहीं? [३] अमृतता मृत्युसहिष्णु हो सकती है या नहीं? [४] एकमेव अद्वितीय परमतत्त्व अनेकतासहिष्णु हो सकता है या नहीं? [५] ब्रह्माद्वैतवाद पारमार्थिक-अनेकदेववादसहिष्णु हो सकता है या नहीं? [६] परमात्माके प्रति भक्तिभाव होनेपर मुक्ति या मुक्तात्मा संसारसहिष्णु हो सकते हैं या नहीं? [७] अवाच्य अज्ञेय होनेके कारण सर्ववादानवसर ब्रह्म नानावादानुरोधि हो सकता है या नहीं? (द्र.निबन्धके अन्तमें संकलित मूलवचन) इत्यादि, ऐसे इन विवादास्पद मुद्दोंके बारेमें दो विरोधाभासी तथ्योंमें एक ब्राह्मिक निखिलरूपताके अंगीकारद्वारा सहिष्णुताका तात्त्विक आधार ब्रह्मवाद प्रस्तुत करना चाहता है.

वैसे ब्रह्मवादकी ही तरह शून्यवाद और उसका एकदेशी अजातिवाद तथा स्याद्वाद के पक्षधर चिन्तकोंने भी इस दिशामें पर्याप्त वैचारिक पुरुषार्थ प्रकट किया है.

हम देख सकते हैं कि ताओवादकी तरह शून्यवाद भी, अपनी द्विविध विभाषाके अन्तर्गत मूलतः, [क]वादशून्य होनेकी सिद्धावस्थाकी चेतनामें तो सहिष्णुता दरसा सकता है. साधकावस्थामें, किन्तु, प्रत्येक वादका परिहार ही उसके द्वारा अभिप्रेत होनेसे असहिष्णुता भी प्रकट करता ही है. [ख]परमार्थ सत्को सदसदुभयानुभयकोटियोंसे विलक्षणतया मान्य रखनेकी द्वितीय रीतिके अन्तर्गत या तो शून्यवादीको वैतण्डिक मुद्रा धारण कर घोर असहिष्णुता प्रकट करनी पड़ती है या फिर चतुष्कोटिविनिर्मुक्त परमार्थके दरज्जेसे निचले संवृतिसत्यके प्रतिपादक होनेके दरज्जेपर अन्यमतोंकी पदावनति करके अपनी यत्-किञ्चित् सहिष्णुता दरसानी पड़ती है. यह निचला दरज्जा परन्तु शून्यवादिओंकी तरह उसे न माननेवाले मतोंको मान्य होना कठिन ही लगता है. श्रीगौड़पादका अजातिवाद तो कुछ शून्यवादका ही सगोत्री एकदेशिमत है.

जहां-तक स्याद्वादका प्रश्न है तो उसकी भी दो विभाषायें दिखलायी देती हैं : १.अनेकान्तवाद और २.सप्तभंगिवाद.

सप्तभंगीके अन्तर्गत मौलिक रूपमें तीन कोटियां मान्य रखी गयी हैं "**[१]सत् ही है, [२]सत् है, [३]सत् भी हो सकता है, यों तीन तरहसे अर्थका भान होता है. प्रथम प्रकारको [१]दुर्नीति जानना चाहिये, दूसरे प्रकारको [२]नय तथा तीसरे प्रकारको [३]प्रमाण**"[२२] इस वचनके आधारपर ऐसा प्रतीत होता है कि अन्यवादियोंके मतोंके प्रति सहिष्णुताके बारेमें भी जैन चिन्तकोंको स्याद्वादी या अनेकान्तवादी

मुद्रा ही अभिप्रेत है. वही मत, क्योंकि, सावधारण कहा जाता हो दुर्नीति बन जाता है और वही पुनः अनिश्चयद्योतक अवधारणरहित स्वीकारे जानेपर नय और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के अंगतया स्वीकारे जानेपर प्रमाणतया भी मान्य हो पाता है. अतः देख सकते हैं कि ऐसा अभिप्राय स्वीकार करनेपर या तो जैनमतप्रवेश अनिवार्य हो जाता है अन्यथा जैनचिन्तन सहिष्णुता प्रकट नहीं कर पाता. वैसे यह सहज संभव है कि अपने प्रारम्भिक चिन्तनके कालमें आर्हतोंका मत सप्तभंगिवादी न हो कर केवल अनेकान्तवादका ही उपोद्बलक रहा होगा. वह तो निश्चय ही सहिष्णुताका उचित रूपमें समादर होगा, परमार्थ सत्यको आग्रहिलतया अनेकान्त ही माननेपर भार न दिया जाये तो.

इनकी तुलनामें एकत्व और अनेकत्व के बारेमें सप्तविध भंगिमाओंके अन्तर्गत तृतीय अर्थात् उभयकोटि तथा ऐसे एकत्व-अनेकत्वविशिष्ट नाम-रूप-कर्मोंके बारेमें सप्तविध भंगिमाओंमें से किसी भी एक भंगिमामें अन्तर्भूत न होनेवाले तादात्म्यको स्वीकारनेवाले श्रौत चिन्तनके ये उद्गार मननीय लगते हैं—

क.''उसे 'इन्द्र' 'मित्र' 'वरुण' 'अग्नि' कहते हैं, इसी तरह सुन्दर पंखोवाला 'गरुड़' भी. एक ही सत्का विप्र बहुधा प्रतिपादन करते हैं, 'अग्नि' 'यम' और 'मातरिश्वा' कह कर''.

ख.''एक ही अग्नि बहुत प्रकारोंसे प्रज्वलित होता है, एक ही सूर्य विश्वमें अनुप्रविष्ट हो कर सब कुछ बन जाता है, एक ही उषा यहां सभीको विविधतया भासित करती है, एक ही यह सब कुछ बन गया है''.

ग.''जहां अनेक लोकोंको और अनेक कोशोंको जलोंको लोग ब्रह्म जानते हैं असत् हो या सत् हो सभी कुछ उसके अन्दर है... जिसके भीतर भूमि अन्तरिक्ष द्युलोक अध्याहित रहते हैं, जहां अग्नि चन्द्रमा सूर्य वायु अर्पित रहते हैं... जहां अमृत और मृत्यु भी उस एक ही पुरुषमें अधिसमाहित रहते हैं... जहां बारह आदित्य ग्यारह रुद्र और आठ वसुगण समाहित रहते हैं. जहां भूत जहां भावी और सभी लोक प्रतिष्ठित रहते हैं... तैंतीस देवता जिसके अंगमें गात्रोंके रूपमें विभक्त रहते होनेपर भी ब्रह्मविद् उन तैतींस देवताओंके एक ही होनेकी अनुभूति जहां कर पाते हैं''.

घ.''जो एक अव्यक्त और अनन्तरूप है. वही सबसे अधिक पुराणतम है... वही अग्नि वही वायु वही सूर्य वही चन्द्रमा वही अमृत शुक्र और वही जल तथा प्रजापति भी है''.[२३]

यह व्यक्तिविशेषकी अभिमति या मान्यता के सब्जेक्टिव् प्रामाण्य या अप्रामाण्य से निरपेक्ष स्वयं ओब्जेक्टिवली प्रमेयके एक और अनेक, इसी तरह वास्तविक और भावानुरूप, होनेके अंगीकारमें उभरती सहिष्णुता एक विलक्षण सहिष्णुता है. इस श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मवादको सहृदयताके साथ विचारनेकी आवश्यकता पहेले भी थी आज भी है और सर्वदा रहेगी ही.

(मूलभूत श्रौतप्रश्न)

''वह कौन सा वन था वह कौन सा वृक्ष था जिससे ये द्युलोक और भूलोक तराशे गये हैं? मनीषिओं कभी अपना मन

लगा कर किसीसे पूछ कर तो देखो कि इन भुवनोंको धारण करनेवाला कहां अधिष्ठित है?''

(उसका श्रौतसमाधान)

''वह वन ब्रह्म था वह वृक्ष भी ब्रह्म था जिसने इन द्युलोक और भूलोक को तराशा है! मनीषिओं मनयोगके साथ यह मैं कह रहा हुं कि भुवनोंको धारण करनेवाला ब्रह्ममें अधिष्ठित है!'' [२४].

उद्धृत वचनावलीमूल

[१] ''कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म... नतु 'वस्तु एवं नैवम् अस्ति नास्ति' इति वा विकल्प्यते. विकल्पनास्तु पुरुषबुद्धचपेक्षाः. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्धचपेक्षं, किन्तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव तत्... एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।२).

[२] क.''यो वै सप्तदश प्रजापतिं यज्ञम् अन्वायत्तं वेद'' (तैत्ति.संहि.६।११।१).

ख.''यज्ञो भूत्वा यज्ञम् आसीद् स्वां योनिम्'',''विष्णुः यज्ञो देवताः च'' (तैत्ति.ब्राह्म.२।५।८,गोप.ब्राह्म.२।१।१२).

ग.''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्...'' (बृह.उप.१।६।१-३).

[३] ''भावप्रधानम् आख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि... 'अदः' इति सत्त्वानाम् उपदेशो 'गौः'-'अश्वः'-'पुरुषो'-'हस्ती' इति, 'भवति' इति भावस्य 'आस्ते'-'शेते'-'व्रजति'-'तिष्ठति' इति... षड् भावविकाराः भवन्ति इति वार्ष्यायणिः : 'जायते' 'अस्ति' 'विपरिणमते' 'वर्धते' 'अपक्षीयते' 'विनश्यति'... अतो अन्ये भावविकाराः एतेषामेव विकाराः भवन्ति इति ह स्म आह'' (निरु.निघ.१।१।१-३).

[४] ''ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना'' (भग.गीता.४।२४).

[५] ''अहस्तानि सहस्तानाम्, अपदानि चतुष्पदां, फल्गूनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य जीवनं, तदिदं भगवान्... एकः आत्मा आत्मनां स्वदृक्, अन्तरो अनन्तरो भाति पश्य तं मायया उरुधा'',''अनुसर्गं यथा शक्त्या ससर्ज भगवान् परः... अन्तःसमुद्राद् उन्मग्नां ददृशुः गां द्रुमैः वृतां, द्रुमेभ्यः क्रुध्यमानाः ते... वायुम् अग्निञ्च ससृजुः तद्दिधक्षया... ताभ्यां निर्दह्यमानान् तान् उपलभ्य... मन्युं प्रशमयन्निव 'मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुम् अर्हथ, विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः. अहो प्रजापतिपतिः भगवान् हरिः अव्ययः वनस्पतीन् ओषधीः च ससर्ज ऊर्जमिषं विभुः, अन्नं, चराणाम् अचराः हि, अपदः पादचारिणाम्, अहस्ता हस्तयुक्तानां, द्विपदां च चतुष्पदः. यूयञ्च पित्रा अन्वादिष्टाः देवदेवेन च अनघाः प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान् निर्दग्धुम् अर्हथ? आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम्''. (भाग.पुरा.१।१३।४६-४७, ६।४।४-११).

[६] ''अहम् अन्नम्... अहम् अन्नादो... अहम् अन्नम् अदन्तं माम् अद्मि. अहं विश्वं भुवनम् अभ्यभवाम. सुवर्नज्योतिः, यः एवं वेद'' (तैत्ति.उप.३।४-६).

[७] ''यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः'' (ईशा.उप.७).

[८] ''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यम्. उत अमृतत्वस्य ईशानः यद् अन्नेन अतिरोहति'' (ऋक्संहि.१०।९०।२).

[९] ''एतावान् अस्य महिमा, अतो ज्यायान् च पुरूषः. पादो अस्य इह भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि'' (ऋक्संहि.१०।९०।३).

[१०] ''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'',''द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः'' (तैत्ति.उप.२।१, भाग.पुरा.२।५।१४).

[११] ''किं कारणं ब्रह्म ? कुतः स्म जाता जीवामः ? केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ? अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ?'' (श्वेता.उप.१।१).

[१२] ''कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्याः, संयोगः एषां नतु आत्मभावाद् आत्मापि अनीशः सुखदुःखहेतोः. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः'' (श्वेता.उप.१।२-३).

[१३] ''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते'' (तैत्ति.आर.३।१२।७).

[१४] ''एतावान् अस्य महिमा'' (ऋक्संहि.१०।९०।३).

[१५] क.''ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति तस्मात् सर्वम् अभवद्. तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति स इदं सर्वं भवति'' (बृह.उप.१।४।१०).

ख.''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्. तत् सत्यम्. स आत्मा तत् त्वम् असि'' (छान्दो.उप.६।८।७).

ग.''सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्तः उपासीत'' (छान्दो.उप.३।१४।१).

[१६] ''अन्धंतमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्यायां रताः. विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते'' (ईशा.उप.९).

[१७] ''अन्ध'इति अन्ननाम... तमोऽपि 'अन्ध' इति उच्यते न अस्मिन् ध्यानं न दर्शनम्'' (निघ.निरु.५।१।१-२).

[१८] ''मृत्युर्वा असत् — सद् अमृतम्'', ''मृत्युर्वै तमो — ज्योतिः अमृतम्'', ''क्षरं प्रधानम् — अमृतम् अक्षरम्'' (बृह.उप.१।३।२८, श्वेता.उप.१।१०).

[१९] ''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मर्त्यं च अमृतं च, सत् च त्यत् च'', ''अमृतं चैव मृत्युः च सद् असत् च अहम्'',''मृत्युः सर्वहरः च अहम् उद्भवः च भविष्यताम्'' (बृह.उप.२।३।१, भग.गीता.९।१९,१०।३४).

[२०]''असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति वेद चेत्'' (तैत्ति.उप.२।६).

[२१]''सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत... सत् च असत् च... विज्ञानं च अविज्ञानं च सत्यं च अनृतं च'' (तैत्ति.उप.२।६).

[२२]''[१]सदेव [२]सत् [३]स्यात् सद् इति त्रिधा अर्थो मीयेत[१]दुर्नीति-[२]नय [३]प्रमाणैः'' (अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका २८).

[२३]क.''इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्. एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः'' (ऋक्संहि.१।१६४।४६).

ख.''एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः, एकैव उषा सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'' (ऋक्संहि.६।४।२८).

ग.''यत्र लोकान् च कोशान् च आपो ब्रह्म जना विदुः असच्च यत्र सच्च अन्तः... यस्मिन् भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः यस्मिन् अध्याहिता, यत्र अग्निः चन्द्रमा सूर्यो वातः तिष्ठन्ति अर्पिताः... यत्र अमृतं मृत्युः च पुरुषे अधि समाहिते... यत्र आदित्याः च रुद्राः च वसवः च समाहिताः भूतं यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः... यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अंगे गात्राः विभेजिरे तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः'' (अथ.संहि.१०।२१-२३).

घ.''यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं... तदेव अग्निः तद् वायुः तत् सूर्यः तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रम् अमृतं तद् आपः स प्रजापतिः'' (महाना.उप.१।५).

[२४]''किंस्विद् वनं क उ स वृक्षः आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ? मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ? (ऋक्संहि..१०।८१।४).

''ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्षः आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः !

मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्!'' (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।७).

(विवादास्पद सात मुद्दोंके श्रुति आदि शास्त्रोंकें द्रष्टव्य वचन)

१.(क)''विद्यां च अविद्यां यः तद् वेद उभयं सह'' (ईशा.उप.११), (ख)''यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तयः आनुपूर्व्यात्, तद् ब्रह्म विश्वभवम् एकम् अनन्तम् आद्यम् आनन्दमात्रम् अविकारम्...'' (भाग.पुरा.४।९।१६).

२.(क)''अजायमानो बहुधा विजायते'' (तैत्ति.आर.३।१३।३) (ख)''आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः, त्रायते त्राति विश्वात्मा, ह्रियते हरति ईश्वरः. तस्माद् नहि आत्मनो अन्यस्माद् अन्यो भावो निरूपितः'' (भाग.पुरा.११।२८।६-७).

३.''मृत्युः सर्वहरः च अहम् उद्भवः च भविष्यताम'' (भग.गीता.१०।३४).

४.''द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया. एको नानात्वम् अन्विच्छन्... देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा'' (भाग.पुरा.२।१०।१२-१३).

५.(क)''एको देवः बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते तमेतम् 'अग्निम्' इति आध्वर्यवः उपासते, 'यजुः' इति एषः हि इदं सर्वं युनक्ति, 'साम' इति छन्दोगाः एतस्मिन् हि इदं सर्वं प्रतिष्ठितम्, 'विषम्' इति सर्पाः, 'सर्पः' इति सर्पविदः, 'ऊर्ग्' इति देवाः, 'रयिः' इति मनुष्याः, 'माया' इति असुराः,'स्वधा' इति पितरः, 'देवजनः' इति देवजनविदः, 'रूपम्' इति गन्धर्वाः, 'गन्धर्वः' इति अप्सरसः. तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति''(मुद्ग.उप.३) (ख)''यो-यो यां-यां तनुं भक्तः श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति तस्य-तस्य अचलां श्रद्धां तामेव विदधामि अहम्. स तया श्रद्धया युक्तः तस्य आराधनम् इष्यते लभते च ततः

कामान् मयैव विहितान् हि तान्'' (भग.गीता.७।२१).

६.(क)''आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन इति. एतं ह वाव न तपति किम् अहं साधु न अकरवं किम् अहं पापम् अकरवम् इति'' (तैत्ति.उप.२।९), (ख)''गृहेषु आविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणां मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहाः मताः'' (भाग.पुरा.४।३०।-१९).

७.(क)'' 'भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः दृश्यैः बुद्ध्यादिभिः द्रष्टा लक्षणैः अनुमापकैः' : प्रतिपुरुषं प्रतिविषयं शास्त्राणि प्रसृतानि. तानि न सर्वथा बाधितविषयाणि, परस्परोपयोगात्. भगवान् तैः सर्वैरेव सर्वभूतेषु लक्षितः लक्षणया ज्ञापितः. नैयायिकैः कर्तृत्वेन, मीमांसकैः क्रियात्वेन, वेदान्तैः आत्मत्वेन, सांख्यादिभिः करणत्वेन, अन्यैः च तद्भेदैः ज्ञानत्वेन, ज्ञानत्वेन च अन्यैः, ज्ञानाधिष्ठातृत्वेन च. सर्वैरेव भगवान् एकदेशे लक्षितो अन्धहस्तिवत्. अनुभवेन युक्त्या च...'' (भाग.सुबो.२।२।३५),

(ख)''श्रुत्यादिभेदेषु नानाप्रकारेण प्रतिपादितत्वाद् अन्योन्यविरोधाद् न किञ्चित् प्रमाणं ब्रह्मणि भविष्यति इति आशंक्य आह 'सर्ववादानवसरम्' इति. वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्यता निरूपिता सर्वभवनसामर्थ्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वात्... एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकैकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानिव अनुसरति'' (त.दी.नि.१।७०).

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीशंकरात्प्राग् अद्वैतवादी चिन्तन *

(मंगलाचरण)

वेदश्रुत्यम्बिकादत्तो नृवाच्यद्वैतप्रत्ययः ॥
व्याख्यातो नैकधाप्यत्र मद्व्याचिख्यासितः पुनः ॥१॥
देश-काल-स्वरूपेणानवच्छिन्नैकता तु या ॥
प्रत्यक्षागोचरा तस्मात् श्रुत्येकाधिगता मता ॥२॥

(उपक्रम)

मानवीय मस्तिष्ककी विलक्षणताको अष्टाध्यायीकार पाणिनिने कैसी अद्भुतरीतिसे सूत्रनिबद्ध किया, उसका उदाहरणरूप सूत्र मुझे "**'द्व्येकयोर्द्विचनैकवचने', द्वित्वविवक्षायां द्विवचनं बहुत्वविवक्षायां बहुवचनस्य विधायकं सूत्रम् इदम्**" (सि.कौ.त.बो.टिप्प.१।४।२२) लगता है. अर्थात् वस्तुका एकत्व द्वित्व या बहुत्व वस्तुतन्त्र न हो कर वक्तृविवक्षाधीन होता है. अतएव उपनिषदोंमें अनेकत्र "**त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तद् एतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्**","**सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद्धैके आहुः असदेव इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तस्माद् असतः सद् अजायत. कुतस्तु, सौम्य!, एवं स्यात् कथम् असतः सद् जायेत? इति सत्त्वेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति**" (बृह.उप.१।६।१-३, छान्दो.उप.६।२।१-३) इन वचनोंमें ब्रह्मका एकमेव अद्वितीय होना सावधारणतया निरूपित होनेपर भी, वह एकता या अद्वितीयता भी ब्रह्मकी बहुभवनकामनावश

* ई.स.२०१९, वर्षमें सागर विश्वविद्यालयमें आयोजित विचारगोष्ठिमें प्रस्तुत.

अथवा **''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति''**(ऋक्संहि.१।१६४।४६) श्रुत्युक्त विप्रोंकी बहुधा विवक्षावश भी कभी सद्वितीयत्वेन या बहुत्वेन तो कभी एकत्वेन भी अनाग्रहिलतया निरूपित हुयी है. ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषदोंका इस बारेमें कोई दुराग्रह प्रकट नहीं होता है.

(विषय=द्वैत और/अथवा अद्वैत)

अतएव ऋग्वेदके नासदीय सूक्तके **''आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं तस्माद् ह अन्यं न परः किञ्चन आस... तुच्छ्येन आभु अपिहितं यद् आसीत् तमसः तद् महिना अजायत एकम्''** (ऋक्संहि.१०।१२९।२-३, शतप.ब्रा१०।५।३।९) इस निरूपणमें अन्य किसी भी पदार्थकी अविद्यमानता और एकमात्र अप्रकट-अज्ञात आभुके प्रकट-ज्ञात विश्वात्मना बन जानेकी कथा जो सुनायी गयी है, वह आभुके द्वितीयरहित अनन्यताकी कथा न हो कर आभु और उसमेंसे प्रकट विश्व की इतरेतरात्मकता या तादात्म्य की ही कथा स्फुट होती है. अतः 'अद्वैत'पद जो नञ्समाससे गढ़ा गया है उसमें 'नञ्'का केवल अभाव ही अर्थ नहीं होता अपितु विरोध और अन्य भी अर्थ होता है. अतः 'अद्वैत'पदका अर्थ सर्वत्र द्वैताभाव करनेका कोई भी औचित्य नहीं, क्योंकि द्वैतसे अन्य या द्वैतविरोधी धर्मका भी 'अद्वैत'पदसे वाच्य बन पाना सम्भव है ही. उदाहरणतया 'अमित्र' या 'असुर' पद केवल मित्र या सुर के अभाववाचक न हो कर मित्रसे भिन्न अर्थात् न शत्रु और न मित्र के अर्थमें प्रयुक्त होता है. इसी तरह 'असुर' पद भी सुरोंके विरोधी होनेके अर्थमें प्रयुक्त होता सुरोंके अभावके अर्थमें नहीं. अतः 'अद्वैत'पद भी केवल द्वैत न होनेके अर्थमें ही स्वीकारना अनावश्यक है. न द्वैत और न द्वैताभाव ऐसे परस्पर तादात्म्यके वाचक होनेके अर्थमें भी शक्य है ही.

अतएव मनुस्मृतिमें भी इस आभु और उसके आवरक तमस् की व्याख्या **''आसीद् इदं तमोभूतम् अप्रज्ञातम् अलक्षणम् अप्रतर्क्यम् अविज्ञेयम् प्रसुप्तमिव सर्वतः. ततः स्वयम्भुः भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन् इदं महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुर् आसीत् तमोनुदः, यो असौ अतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मो अव्यक्तः सनातनः सर्वभूतमयो अचिन्त्यः सएव स्वयम् उद्बभौ''** (मनुस्मृ.१।५-७) इस श्रुतिव्याख्यानमें उस एकमेव अद्वितीय तत्त्वको अतीन्द्रिय अप्रज्ञातादि रूपोंमें स्वीकार कर स्वगत अप्रज्ञातादिरूप तमस्का अपनोदनकर्ता तथा इन्द्रियग्राह्य जगत्के रूपमें स्वयं स्वात्मना प्राकट्यकर्ता दरसाया गया हैं.

भगवद्गीता और भागवतपुराण में भी शब्दान्तरसे यही बात इस तरह कही गयी है :

१.''ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यद् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तद् न असद् उच्यते''.

२.''अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैः विनिश्चितं यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम्. आसीद् ज्ञानम् अथो हि अर्थः एकमेव अविकल्पितं... तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहद्. तयोः एकतरो हि अर्थः प्रकृतिः सा उभयात्मिका ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते''.

३.''न यत्र वाचो न मनो सत्त्वं तमो रजो वा महदादयो अमी, न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा... न स्वप्नजाग्रन्नच तत् सुषुप्तं न खं जलं भूः अनिलो अग्निः अर्कः संषुप्तवत् शून्यवद् अप्रतर्क्यं तन् मूलभूतं पदम् आमनन्ति.''

(१=भग.गीता.१३।१३, २=भाग.पुरा.११।२४।१४,
३=भाग.पुरा.१२।४।२०-२१).

इस तरह वेद उपनिषद् गीता भागवत में जो सदसद्विलक्षण स्वप्रकाश ज्ञानसे अनतिरिक्त ज्ञानप्रकाश्य विषयरूप बाह्य जगत्की स्वोत्पत्तिसे पूर्व ज्ञानसे अपृथक्ताकी अवधारणा थी उसे परवर्ति कालमें बौद्ध दर्शनके योगाचार एवं माध्यमिक सम्प्रदायोंमें सृष्टिस्थितिकालमें भी स्वीकृति प्रदान की गयी. अतएव कहा गया है **''विज्ञप्तिमात्रमेव एतद् असदर्थावभासनाद् यथा तैमिरिकस्य असत् केशचन्द्रादिदर्शनम्''**, **''अपर-प्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैः अप्रपञ्चितं निर्विकल्पम् अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणं''** (विज्ञ.मा.सि.प्र.१, माध्य.कारि.१८।९) ये बौद्ध सिद्धान्तके वचन इसकी गवाही देते हैं.

दीघनिकायके ब्रह्मजालसुत्तके अन्तर्गत मिच्छादिट्ठिानानिमें भगवान् बुद्धने इसी देशकालस्वरूपतः अपरिच्छिन्न एकताकी उद्घोषक ब्रह्मदृष्टिवाली विचारधाराका उल्लेख 'शाश्वतवादी'नाम्ना किया है : **''सन्ति, भिक्खवे, एके समणब्राह्मणा सस्सतवादा सस्सतं अत्तानं च लोकं पञ्ञपेन्ति... सो एवमाह 'सस्सतो अत्ता च लोको च वञ्झो कुट्ठो एसिकट्ठायिट्ठितो ते च सत्ता सन्धावन्ति संसरन्ति चवन्ति उपज्जन्ति''** (दीघनि.१।१।३।२९). इसके बाद यहीं भगवान् बुद्धने एकच्चसस्सतवाद, अन्तानन्तवाद, अमराविक्खेपवाद तथा अधिच्चसमुप्पन्नवाद की भी साधिका चार-चार युक्तिओंका उल्लेख कर मिच्छादिट्ठिाओंकी परिगणना की है. ये समुचा प्रतिपादन छान्दोग्योपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् से प्रायः संवादित होता ही है. यहां यद्यपि इनका उल्लेख मिथ्यादृष्टिके रूपमें भगवान् बुद्धने किया है परन्तु इसी सृष्टिप्रक्रियाका स्वाभिमत सिद्धान्ततया भी निरूपण इसी दीघनिकायके पाथिकसुत्तके अन्तर्गत 'इस्सरकुत्तं ब्रह्मकुत्तं'में उपलब्ध होता है :

''अगञ्ञञ्चाहं भग्गव प्रजानामि... ततो च उत्तरितरं पजानामि... सन्ति, भग्गव!, एके समणबाह्मणा इस्सरकुत्तं

ब्रह्मकुत्तं आचरियकं अग्गञ्ञं पञ्ञपेन्ति... ते मया पुट्ठा न सम्पायन्ति. असम्पायन्ता ममञ्ञेव पटिपुच्छन्ति. तेसाहं पुट्ठो व्याकरोमि : होति खो सो, आवुसो!, समयो यं कदाचि करहचि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन अयं लोको संवट्टति. संवट्टमाने लोके ये भुय्येन सत्ता आभस्सरसंवत्तनिका होन्ति... होति खो सो, आवुसो!, समयो यं कदाचि करहचि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन अयं लोको विवट्टति. विवट्टमाने लोके सुञ्ञं ब्रह्मविमानं पातुभवति... तत्र, आवुसो!, यो सो सत्तो पठमं उपन्नो तस्स एवं होति, 'अहमस्मि ब्रह्मा महाब्रह्मा अभिभू अनभिभूतो अञ्ञदत्थुदसो वसवत्ती इस्सरो कत्ता निम्माता सेट्ठो सज्जिता वसी पिता भूतभव्यानां मया इमे सत्ता निम्मिता तं किस्स हेतु? ममं हि पुब्बे एतद् अहोसि, अहो बत अञ्ञेपि सत्ता इत्थत्तं आगच्छेयुं' इति मम च मनोपणिधि इमे च सत्ता इत्थनं आगता ति''.

(दीघनि.३।१।८।३६-३९).

यह समूचा प्रतिपादन औपनिषदिक प्रतिपादनका ही ईश्वरकर्तृतानिरसनके हेतुवश स्वाभिप्रायार्थ अतीव रोचक उन्नयन है. यहीं इसके सिवा भी खिड्डापदोसिका देवा, मनोपदोसिका देवा और अधिच्चसमुपन्नं के अन्तर्गत असञ्ञसत्ता नाम देवा का भी निरूपण भगवान्ने किया है. इस बारेमें अधिक विवेचना या विस्तार में फंसे बिना कुछ समानान्तर श्रुतिवचनोंको उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा.

तथाहि :

[१]''सर्वाणि भूतानि पृथिवी अप्सु प्रलीयते...अक्षरं तमसि

विलीयते...तमः परे देवे एकीभवति. परस्ताद् न सद् न असद् न सदसद्'', [२]''को अद्धा क इह प्रवोचत् कुतः आजाता कुतः इयं विसृष्टिः यो अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद'', [३]''सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम् अकल्पयद् दिवं च पृथिवीं चैव अन्तरिक्षम् अथो सुवः'', [४]''अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'', [५]''न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यद् आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं तस्माद् अन्यद् न परः किञ्चन अग्रे आसीत्'', [६]''नैवेह किञ्चन अग्रे आसीद् मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीद् अशनाया हि मुत्युः तद् मनो अकुरुत 'आत्मन्वी स्याम्' इति'', [७]''स वै नैव रेमे... स द्वितीयम् ऐच्छत् सह एतावान् आस'', [८]''तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः... पृथिव्याम् ओषधयः ओषधिभ्यो अन्नम् अन्नात् पुरुषः...'', [९]''आपो वा इदम् आसन् सलिलमेव. स प्रजापतिः एकः पुष्करपर्णे समभवत्. तस्य अन्तर्मनसि कामः समवर्तत 'इदं सृजेयम्' इति... स तपो अतप्यत... अन्तरतः कूर्मं भूतं सर्पन्तं तम् अब्रवीद् मम वै त्वङ्मांसा समभूत. 'न'इति अब्रवीत् 'पूर्वमेव अहम् इह आसम्' इति. तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्. स सहस्रशीर्षा पुरुषः''.

([१]सुबा.उप.२ [२].ऋक्संहि.३।३।२४, [३]ऋक्संहि. १०।१९०।१, [४]छान्दो.उप.६।३।२, [५]ऋक्संहि.१०।१२९।१, [६]बृह.उप.१।२।१, [७]बृह.उप.१।४।३ [८]तैत्ति.उप.२।१, [९]तैत्ति.ब्राह्म.१।२३।१-३).

अन्ततः नासदीय सूक्त आदि श्रुतिवचनोंकी तर्ज़पर बौद्ध

मतमें विज्ञानवाद और शून्यवाद विकसित हुवे, जिसमें आदिम निर्विकल्पकज्ञानरूपताको चरम तथ्यतया बिरदाया गया. स्वप्रकाश ज्ञानमें से ज्ञेयाविर्भावके तथ्यको ही ज्ञानातिरिक्त ज्ञेयाभावतया स्वीकार लिया गया. सृष्टिके प्रादुर्भावसे पूर्व शून्योपम अवाच्य अलक्ष्य एकमेवाद्वितीय आकाश-व्योम सदृश ब्रह्म तत्त्वके लिये 'सुञ्ञ ब्रह्मविमान' रूपी पदान्तर प्रयोग किया गया. प्रजापति ब्रह्मा या विराट् नामक जगत्सृष्टाका भी जगत्की ही तरह ब्रह्ममेंसे क्रीड़या प्रादुर्भाव भी बौद्ध चिन्तनसे पूर्व प्रतिपादित है. जो शाश्वतवाद अस्वीकार्य माना गया है वह भी सृष्ट पदार्थका ही नकि सुञ्च ब्रह्मविमानका भी. बुद्धवचनमें 'संवट्टति-संवट्टमाने' तथा 'विवट्टति-विवट्टमाने' पदोंका परस्पर विपरीतार्थकतया प्रयोग इस तथ्यकी भी गवाही देता है कि 'विवर्त'पदको तब 'विकार'वाचकतया, ऐसे ही 'आरम्भण' पदको भी वाच्यसे पृथग् अर्थके अभिधायक होनेकी रूढ़ि प्रचलित नहीं हुयी होगी. जैसा कि परवर्ती कालमें **''वस्तुनः समसत्ताको अन्यथाभावः परिणामः तदसमसत्ताको अन्यथाभावो विवर्तः''** (सि.ले.संग्र.-१।१६) पारिभाषिक बना दिया गया. इस तरह देखा जा सकता है भगवान् बुद्धने श्रौत दर्शनको ही श्रुतिप्रामाण्य स्वीकारे बिना पुनरुज्जीवित किया था.

यों विधानात्मक और निषेधात्मक उभयविध भाषाओंमें 'अद्वैत'पदका प्रयोग उभयथा शक्य है : विकारार्थक कार्यरूप द्वैतको कारणरूप अद्वैतकी स्वतादात्म्यरूपा परिणति शब्दोंकी अभिधानशक्तिद्वारा प्रसिद्ध होती है. कार्यात्यन्ताभावसाधिका द्वैतभ्रान्ति कार्यरूप विवर्त अधिष्ठानरूप अद्वैतपर अन्यार्थापोहनद्वारा शक्य बन जाती है. जैसाकि भामतीकार वाचस्पति मिश्रने **''न खलु अनन्यत्वम् इति अभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधामः''** (ब्र.सू.शां.भा.भाम.२।१।१४) स्पष्टीकरण दिया है. अर्थात् इतरेतरतादात्म्यरूप अद्वैत अथवा इतरेतरात्यन्ताभावोपलक्षित

अनन्यता=मिथ्येतरका निषेधरूप अद्वैत यों द्विविध अद्वैतकी अवधारणा प्रस्फुटित होती है.

पाणिनिकी अष्टाध्यायीपर वैय्याकरण वार्तिककार कात्यायन तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा किये गये प्रतिपादनमें भी यह प्रभेद दृष्टिगत होता है.

यथाहि सनन्तधातुप्रयोगमें ''**तुल्यं हि कारणं चेतनावति देवदत्ते कूले च अचेतने**'' विवादके समाधानतया पाणिनीसूत्र (३।१।७)के १६ वें वार्तिकमें कात्यायन कहते हैं ''**सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्**''. यहां भाष्यमें पतञ्जलि कहते हैं ''**अथवा सर्वं चेतनावत्**''. इस भाष्यांशकी व्याख्या करते हुए प्रदीपकार कहते हैं ''**सर्वस्य वेति आत्माद्वैतदर्शनेन इति भावः. ऋषिरिति वेदः सर्वभावानां चैतन्यं प्रतिपादयति**''. सुस्पष्टतया यहां चेतनाकी स्वविषयात्यन्ताभावोपलक्षित अनन्यता विवक्षित न हो कर स्वप्रकाश चेतना और परप्रकाश्य अचेतन जड़ पदार्थके बीच तादात्म्यरूप श्रुतितात्पर्यतया अद्वैतका अंगीकार झलक रहा है.

यह वाणीको अपार्थक अथवा अपोहनार्थक होनेसे बचानेकी ही मनोवृत्ति परवर्ती कालमें व्याकरणचिन्तनमें शब्दब्रह्मके विवर्ततया शब्दार्थकी अंगीकृतिमें पर्यवसित हुयी. उल्लेखनीय हो जाता है कि बौद्धागमोंकी तरह 'विवर्त'पद भी अभी तक समसत्ताक विकारार्थकताको छोड़ कर विषमसत्ताक मिथ्यारोपमें परिभाषित नहीं हो पाया था.

इस सन्दर्भमें व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलिकी विचारधारामें कैसा अद्वैतवाद तरंगायित हो रहा था इस तथ्यके निदर्शनार्थ अधोलिखित उद्धरणको हम पर्याप्त समझते हैं -

''तथा सुवर्णं कयाचिद् आकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिम् उपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिम् उपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते. पुनः आवृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनः अपरया आकृत्या युक्तः खदिरांगारसवर्णे कुण्डले भवतः. आकृतिः अन्या च अन्या च भवति, द्रव्यं पुनः तदेव. आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेव अवशिष्यते... अथवा न इदमेव नित्यलक्षणं - 'ध्रुवं कूटस्थम् अविचाल्यनपायोपजन-विकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्ययोगि यत् तद् नित्यम्' इति. तदपि नित्यं यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते. किं पुनः तत्त्वम्? तद्भावः तत्त्वम्. आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते''

पातं.महाभा.१।१।१

इस प्रतिपादनमें हम देख सकते हैं कि कितने सुस्पष्ट शब्दोंमें महाभाष्यकार अविकृतपरिणामवादका निरूपण करते हैं. केवलाद्वैतवादको अभिमत ध्रुव कूटस्थ अविचालि अनपायि आदि होना ही केवल नित्य होनेका लक्षण नहीं है. अविकृत-परिणामवादमूलक विधानात्मक अद्वैतवाद कहो या तादात्म्यवाद कहो, उसका समर्थन इससे अधिक स्पष्ट शब्दोंमें सोच पाना मुश्किल है. यद्यपि यह बात ब्रह्म और जगत् के संबन्धकी विवेचनामें नहीं कही गयी है, फिर भी उल्लिखित चैतन्याद्वैतकी आर्ष या वैदिक स्वीकृतिके साथ इसे समन्वित करनेपर बात सर्वथा बुद्धिग्राह्य बन जाती है.

निष्कर्षरूपेण वार्तिककार तथा महाभाष्यकार को अभिप्रेत अद्वैतवाद विधानात्मक अद्वैत है, निषेधात्मक अद्वैत नहीं.

इसीके आसपास कालके महाकवि कालीदासके काव्योंमें भी,

उदाहरणतया, रघुवंशके दसवें सर्गमें रामावतारग्रहणके हेतु देवगणोंद्वारा की गई श्रीहरिकी स्तुतिकी शब्दावलीका सावधानीसे विमर्श करनेपर यह स्पष्टतया झलक जाता है कि महाकविकी दार्शनिक धारणायें निषेधात्मक अद्वैतवादी अवधारणाओंसे प्रभावित नहीं थी. कुछ श्लोक हम उदाहरणतया संकलित करते हैं :

"नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने॥
रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोश्नुते।
देशे देशे गुणेष्वेमेवावस्थासु त्वमविक्रियः॥
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम्।
सर्वज्ञस्त्वम् अविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः॥
सर्वप्रभुरनीशस्त्वम् एकस्त्वं सर्वरूपभाक्।
अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्॥
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये।
अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः॥
स्वपतो जागरुकस्य यथार्थ्यं वेद कस्तवः ?।
शब्दादीन् विषयान् भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः॥
पर्याप्तोसि प्रजाः पातुम् औदासीन्येन वर्तितुम्।
बहुधाप्यागमैर्भिन्ना पन्थानः सिद्धिहेतवः॥
त्वय्यैव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे।
त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम्॥
गतिस्त्वं वीतरागाणाम् आत्मभूः संनिवृत्तये।
प्रत्यक्षोप्यपरिच्छेद्यो महत्यादिर्महिमा तव॥
अनवाप्तम् अवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते।
लोकानुग्रहएवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥
महिमानं यद् उत्कीर्त्य तव संहृतये वचः।

श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया॥''

(रघुवं.१०।१६-३२)

जगत्कारण तो विवर्ताधिष्ठानको भी माना जा सकता है परन्तु उत्पत्तिस्थितिलयात्मक तो जगत्कारणीभूत परमात्माको जगदुपादानकारण माननेपर ही सम्भव है. यही सोलहवें श्लोकमें वर्णित हुआ है. सत्रहवेंमें यद्यपि भेदको गुणकृततया औपाधिक माना गया है फिर भी बीसवेंमें जो 'सर्वरूपभाक्' कहा है वहां स्वविभाजनहेतुभूत गुणत्रयोपाधिकृत रूपोंका भी धारणकर्ता तो एकमेव परमात्मा ही विवक्षित है. अतः निषेधात्मक अद्वैतवाद तो यहां दूरापास्त है. तेईसवें श्लोकमें हृदयस्थितिद्वारा जो अन्तर्यामिता वर्णित हुई है वह भी इसी बातकी गवाही देती है. निरीह-हतद्विष, अज-जन्मग्राही, सुषुप्त-जागरुक, विषयभोक्ता-तपस्वी, उदासीन-प्रजापालक आदि रूपोंमें विरुद्धधर्माश्रयता जो प्रतिपादित हुयी है वह निषेधात्मक अद्वैतवाद स्वीकारनेपर तो आविद्यक ही सिद्ध होगी, ब्राह्मिक नहीं. पृथिवी आदि प्रत्यक्षग्राह्य भौतिक पदार्थोंको अप्रत्यक्ष ब्रह्मके माहात्म्यतया स्वीकारना भी मायावादकी स्पष्ट निराकृतिपूर्वक तादात्म्यवादकी डिण्डिमघोषणा है. इसी तरह केवल ज्ञानमार्गैकगम्य न मान कर, छब्बीसवें श्लोकमें, जो सर्वमार्गगम्यता वर्णित हो रही है वह भी निषेधात्मक अद्वैतवादमें संगत हो नहीं सकती. भगवदवतारको मायिक न मान कर लोकानुग्रहार्थमात्र स्वीकारना भी मायावादके सर्वथा प्रतिकूल तथा लीलावादके सर्वथा अनुकूल विधान है जो कालिदास इकत्तीसवें श्लोकमें कर गये हैं. इसी तरह बत्तीसवें श्लोकमें शांकर वेदान्तके विपरीत परमात्माको सर्वथा अवाच्य माने बिना, इयत्तया अवाच्य मानना भी कालीदासकी ब्रह्मविषयक विचारदृष्टिको अन्यथा ही सिद्ध करता है.

इसी तरह कुमारसम्भवके भी द्वितीयसर्गमें जो देवताओंद्वारा कृत ब्रह्मस्तुति महाकविने लिखी है, उसकी शब्दावली भी ब्रह्मको निर्गुण निराकार निर्विशेष माननेके बजाय सगुण साकार सविशेष माननेकी गवाही देती है. यथा :

''नमः त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदम् उपेयुषे॥
तिसृभिस्त्वम् अवस्थाभिः महिमानम् उदीरयन्।
प्रलयस्थितिसर्गाणाम् एकः कारणतां गतः॥
स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिंदिवस्य ते।
यौतु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ॥
जगद्योनिः अयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः॥
आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे॥
द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु''॥
(कुमा.सम्भ.२।४-११)

सृष्टिसे पूर्व ब्रह्मकैवल्य अर्थात् अनादि-सान्त मायासे उपहित न होना. राजस सात्त्विक तामस ब्रह्मा-विष्णु-शिवरूप मूर्तिओंके प्रभेद गुणत्रयभेदमूलक न हो कर ब्रह्माविष्णुशिव ऐसे विभिन्न रूपोंको धारण करनेके कारण गुणत्रयोंका विभाजन प्रकट होता है. इन तीनों स्वरूपोंमें अवस्था-भेदका कारण तत्त्वतः एक अभिन्न होना. वह भी स्वयमेव स्वयंका सृजन भी करता है और स्वयंको स्वयंमें लीन भी करता है. वह द्रव-संघातकठिन, स्थूल-सूक्ष्म, लघु-गुरु, व्यक्त-अव्यक्त आदि अनेक विरुद्ध रूपोंको धारण करता

है. ऐसा यदि निर्गुण निराकार निर्धर्मक निर्विशेष शुद्ध चैतन्य हो तो वह मायिकद्वैतका अधिष्ठान कैसे हो सकता है?

इसी तरह नाटकोंमें भी श्रीशिवके बारेमें **''अष्टाभिः यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिः बिभ्रतो''** (मालविकाग्निमित्र-मंगलाचरण) तथा **''या सृष्टिः स्रष्टुः आद्या वहति... या स्थिता व्याप्य विश्वं याम् आहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति... प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नः तनुभिः अवतु वः ताभिः अष्टाभिः ईशः''** (अभिज्ञान-शाकुन्तल-मंगलाचरण) इन सब वर्णनोंद्वारा दृश्यमान जगत्को सद्ब्रह्मोपादानक तथा ब्रह्मात्मक ही स्वीकार कर महाकवि कालिदासने स्वयंके समयकी अद्वैतवादी विचारधारा कैसी थी उसे सुस्पष्ट कर दिया है.

इससे सिद्ध हुआ कि ऐसी इस अद्वैतवादकी प्रक्रियामें जगत्को सत् मानना, ब्रह्मसे अभिन्न मानना, ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानना यों तीनों ही शर्तोंपर महाकवि कालिदास भेदमिथ्यावादको पुरस्कृत करनेवाली अद्वैतवादी विचारधाराके पक्षपाती नहीं थे.

बादमें, परन्तु, माण्डूक्योपनिषत्कारिकाकार श्रीगौड़पादाचार्य और वाक्यपदीयकार श्रीभर्तृहरिके पदार्पणके बाद अद्वैतके निषेधात्मक होनेका पक्ष प्रबल होता चला गया. श्रीगौड़पादाचार्य भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके गुरु श्रीगोविन्दपादके गुरु होनेके कारण परमगुरु माने गये हैं. माण्डूक्योपनिषद्के मन्त्रभागकी व्याख्यारूप कारिकाओंवाले प्रथम प्रकरणके अलावा वैतथ्यप्रकरण अद्वैतप्रकरण तथा अलातशान्तिप्रकरण उन्मन्त्र व्याख्यानरूप और योजित किये वे प्रस्तुत सन्दर्भमें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं. वैसे अग्रिम इन तीन प्रकरणोंकी उत्थानिकारूप कुछ महत्त्वपूर्ण कारिकायें प्रथम प्रकरणके उपान्त्य मध्यभागमें योजित की गयी हैं.

तथाहि :

१.''[१]विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः [२]स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिः अन्यैः विकल्पिताः, [३]इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः इति सृष्टौ विनिश्चिताः, [४]कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः [५]भोगार्थं सृष्टिः इति अन्ये [६]क्रीडार्थम् इति च अपरे [७]देवस्य एष स्वभावो अयम् आत्मकामस्य का स्पृहा!... कार्यकारणबद्धौ द्वौ तौ इष्येते विश्वतैजसौ प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्धचतः न आत्मानं न परान् चैव न सत्यं नापि चानृतं प्राज्ञ; किञ्चन संवेत्ति तुर्यन्तु सर्वदृक् सदा. द्वैतस्य अग्रहणं तुल्यम् उभयोः प्राज्ञतुर्ययोः बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा त तुर्ये न विद्यते... प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः मायामात्रम् इदं द्वैतम् अद्वैतं परमार्थतः.''

२.''वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुः मनीषिणः अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना... अदावन्ते च यद् नास्ति वर्तमानेपि तत् तथा वितथैष सद्वशाः सन्तो अवितथाइव लक्षिताः... जाग्रद्वृत्तावपि तु अन्तश्चेतसा कल्पितन्तु असद् बहिश्चेतो गृहीतं सद् युक्तं वैतथ्यम् एतयोः.''

३.''अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते तेषाम् उभयथा द्वैतं तेन अयं न विरुद्धचते... अजातस्यैव भावस्य जातिम् इच्छन्ति वादिनः अजातो हि अमृतो भावो मर्त्यतां कथम् एष्यति. न भवति अमृतं मर्त्यं न मर्त्यम् अमृतं तथा प्रकृतेः अन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति... 'नेह नाना' इति च आम्नायाद् 'इन्द्रो मायाभिः' इत्यपि 'अजायमानो बहुधा' मायया जायते तु सः... सतो हि मायया जन्म युज्यते नतु तत्त्वतः तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि

जायते...''

४.''भूतं न जायते किञ्चिद् अभूतं नैव जायते विवदन्तो द्वया ह्येवम् अजातिं ख्यापयन्ति हि... स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते सद् असद् सदसद् वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते... तस्माद् न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते तस्य पश्यन्ति ये जातिं के वै पश्यन्ति ते पदम्... सर्वे धर्माः मृषा स्वप्ने कायस्य अन्तर्निदर्शनात् संवृते अस्मिन् प्रदेशे ते भूतानां दर्शनं कुतः?... अस्ति नास्ति अस्ति-नास्ति इति नास्ति-नास्ति इति वा पुनः... कोट्यः चतस्रएतास्तु ग्रहैः यासां सदा आवृतः भगवान् आभिः अस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्... क्रमते नहि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः सर्वे धर्माः तथा ज्ञानं न एतद् बुद्धेन भाषितं—ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वम् अद्वयम् एतद् न बुद्धेन भाषितं, यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना च अद्वयवस्तुसामीप्यम् उक्तम्. इदन्तु परमार्थतत्त्वम् अद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयम्''.

(माण्डू.कारि.शांक.भा.प्रक. १,२,३,४).

इन कारिकाओंमें देखा जा सकता है कि सृष्टिहेतुतया स्वभावपक्षके स्वीकारार्थ यद्यपि प्रथम प्रकरणमें ''स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिः अन्यैः विकल्पिताः'' विधान किये जानेके बावजूद द्वितीय प्रकरणमें ''वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुः मनीषिणः अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना... अदावन्ते च यद् नास्ति वर्तमानेपि तत् तथा वितथैष सद्वशाः सन्तो अवितथाइव लक्षिताः... जाग्रद्वृत्तावपि तु अन्तश्चेतसा कल्पितन्तु असद् बहिश्चेतो गृहीतं सद् युक्तं वैतथ्यम् एतयोः.'' विधानद्वारा बाह्यार्थका सदसद्विलक्षण स्वप्नोपम मिथ्यात्व या वैतथ्य स्वीकारा गया है ठीक उसी तरह जैसे बौद्ध विज्ञानवादी स्वीकारते

हैं "ये धर्माः भ्रान्तिलक्षणाः विपक्षस्वभावाः ते सदसन्तो मायोपमाः च. किं कारणम्? सन्तः तथाभावाद् अभूतपरिकल्पत्वेन — असन्तः तथाऽभावाद् ग्राह्यग्राहकत्वेन. तयोः च भावाभावयोः अविशिष्टत्वात् सन्तोऽपि असन्तोऽपि मायापि चैवंलक्षणाः मायोपमाः... औपम्यार्थे श्लोकः मायास्वप्नमरीचिबिम्बसदृशाः प्रोद्भासश्रुत्कोपमाः" (महायानसूत्रालंकार ११।२७-३०). यह कथा शांकरपरिभाषाके अनुसार व्यावहारिक-प्रातिभासिक सत्यकी हुयी तो बौद्धपरिभाषाके अनुसार संवृत्तिसत्यकी हुयी.

जहां-तक पारमार्थिक सत्यका प्रश्न है वहां भी तृतीय-चतुर्थ प्रकरणोंमें श्रीगौड़पाद कहते हैं कि "अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते... अजातस्यैव भावस्य जातिम् इच्छन्ति वादिनः... 'नेह नाना' इति च आम्नायाद् 'इन्द्रो मायाभिः' इत्यपि 'अजायमानो बहुधा' मायया जायते तु सः... सतो हि मायया जन्म युज्यते नतु तत्त्वतः तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते... भूतं न जायते किञ्चिद् अभूतं नैव जायते विवदन्तो द्वया ह्येवम् अजातिं ख्यापयन्ति हि... स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते सद् असद् सदसद् वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते... सर्वे धर्माः मृषा स्वप्ने कायस्य अन्तर्निदर्शनात् संवृते अस्मिन् प्रदेशे ते भूतानां दर्शनं कुतः?... अस्ति नास्ति अस्ति-नास्ति इति नास्ति-नास्ति इति वा पुनः... कोट्यः चतस्रएतास्तु ग्रहैः यासां सदा आवृतः भगवान् आभिः अस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्... क्रमते नहि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः सर्वे धर्माः तथा ज्ञानं न एतद् बुद्धेन भाषितम्" यही बात "न सन् नच असन् न तथा नच अन्यथा न जायते व्येति नच नावहीयते... अद्वयार्थो हि परमार्थः... न सत् परिकल्पित-परतन्त्रलक्षणाभ्यां नच असत् परिनिष्पन्नलक्षणेन... " (महायानसूत्रालंकार ६।१).

अतः जब श्रीगौड़पाद "न एतद् बुद्धेन भाषितम्" कहते

हैं वह कदाचित् सत्यकथन भी हो परन्तु तथ्य तो यही है कि "बुद्धेन भाषितं नैतत् किन्तु बौद्धैस्तु भाषितम्!"

इसी निषेधात्मक अद्वैतवादी चिन्तनको यदि वाक्यपदीयकार भर्तृहरि गौड़पादसे परवर्ती हों तो बादमें, पूर्ववर्ती हों तो पहले; और, समकालिक हों तो तभी अधिक सम्पुष्ट की.

तथाहि :

"'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं विवर्तते अर्थभावेन प्रकिया जगतो यतः' सर्वविकल्पातीततत्त्वं भेदसंसर्गसमतिक्रमेण समाविष्टं सर्वाभिः शक्तिभिः विद्याऽविद्याप्रविभागरूपम् अप्रविभागं कालभेददर्शनाभ्यासेन मूर्तिविभागभावनया व्यवहारानुपातिभिः धर्माधर्मैः सर्वावस्थासु अनाश्रितनिधनं ब्रह्म इति प्रतिज्ञायते. नहि कार्यकारणात्मकस्य विभक्ताविभक्तस्य एकस्य ब्रह्मणः सर्वप्रवादेषु अपूर्वापरे प्रवृत्तिनिवृत्तिकोटी परिसंख्यायेते... 'विवर्तते अर्थभावेन' (इति) एकस्य तत्त्वाद् अप्रच्युतस्य भेदानुकारेण असत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः, स्वप्नविषयप्रतिभासवत्. उक्तञ्च मूर्तिक्रिया-विवर्तौ अविद्या शक्तिप्रवृत्तिमात्रं तौ विद्यात्मनि तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनाख्येयौ. एतद्धि अविद्यायाः अविद्यात्वम् इति. 'प्रक्रिया जगतो यतः' ततएव हि शब्दाख्याद् उपसंहृतक्रमाद् ब्रह्मणः सर्वविकारप्रत्यस्तमये संवर्ताद् अनाकृतात् पूर्वं विकारग्रन्थिरूपत्वेन अव्यपदेश्याद् जगदाख्याः विकाराः प्रक्रियन्ते".

(वाक्यप.१।१)

यहां इस प्रतिपादनमें शांकर वेदान्तकी नींव रखी जाती स्पष्टतया निहारी जा सकती है. क्योंकि यहींसे भेदात्यन्ताभावोपलक्षित

अभेदकी प्रस्तुति और भी स्फुटतर शब्दोंमें प्रस्तुत की.

अपनेसे पूर्ववर्ती तथा समकालिक अनेक वेदान्तिओंके मतों एवं व्याख्याओं का उल्लेख भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य (आठवीं शताब्दी) यत्र-तत्र करते रहते हैं. यद्यपि वे प्रायः नामोल्लेख नहीं करते परन्तु आनन्दगिरी आदि टीकाओंकी सहायतासे कुछ-कुछ नामोंके स्पष्टीकरण प्राप्त हो जाते हैं. इनमें उपात्तसन्दर्भमें सर्वप्रथम ब्रह्मनन्दी भर्तृप्रपञ्च (सातवीं शताब्दी) तथा ब्रह्मदत्त (सातवीं शताब्दी) विशेषतः उल्लेखनीय हैं.

यथोक्त रूपमें प्रायः ये सभी वेदान्ती द्वैताद्वैती ही माने गये हैं परन्तु एक स्वाभाविक हेतु इस तरहकी मान्यताके पीछे यह भी हो सकता है कि निषेधात्मक अद्वैतको ही केवलाद्वैती विद्धान् शुद्ध अद्वैतके रूपमें मान्य करनेके वैचारिक आग्रह रखते होनेके कारण अद्वैतको तादात्म्यके रूपमें, विधानात्मक तथा द्वैताद्वैतवैलक्षण्यात्मक भी स्वीकार नहीं पाते होंगे. क्योंकि निषेधात्मक अद्वैतवाद प्रत्यक्षगृहीत द्वैतको सदसत्त्वेन अनिर्वाच्य कोटित्रयविनिर्मुक्त मिथ्या और अद्वैतको चतुष्कोटिविनिर्मुक्त परमार्थ स्वीकारता है. विधानात्मक अद्वैतवाद, जबकि, द्वैतको एकमेव अद्वितीय सत्का विविध नाम-रूप-कर्मात्मना लीलात्मिका इच्छावश प्रादुर्भाव और अद्वैतको स्वाभाविक मानता है. अर्थात् सद्वाद तथा द्वैताद्वैतवैलक्षण्यवाद को स्वीकारता है. इस परिभाषाके सन्दर्भमें ही ब्रह्मनन्दी प्रभृति विचारकोंके शुद्धाद्वैती होनेकी धारणा यहाँ हम प्रस्तावित करना चाहते हैं.

शुद्धाद्वैतवादके अंगभूत नौ उपवाद, नामतः, [१]ब्रह्मवाद [२]विरुद्धधर्माश्रयतावाद [३]अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद [४]आविर्भावतिरो-

भाववाद [५]सत्कारणवाद [६]सत्कार्यवाद [७]कार्यकारणतादात्म्यवाद [८]अंशांशि-तादात्म्यवाद [९]लीलार्थसृष्टिवाद मेंसे, जो विचारक जितने अधिक वादोंको स्वीकारता है उतना अधिक शुद्धाद्वैतवादी उसे स्वीकारना चाहिये. अतएव इन वादोंको अस्वीकार कर अद्वैतकी भाषा बोलनेपर केवलाद्वैतवाद प्रतिपादित होता है. अतः प्राचीनकालमें प्रचलित 'शुद्धाद्वैत' तथा 'द्वैताद्वैत' अभिधानोंपर अवलम्बित हुए बिना यथापरिभाषित अर्थमें हमें यह विचारना पड़ेगा कि कौन शुद्धाद्वैतवादी था या कौन द्वैताद्वैतवादी अथवा कौन केवलाद्वैतवादी. उदाहरणतया **''तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः''** (ब्र.सू.२।१।१४)के भाष्यमें सुस्पष्ट शब्दोंमें **''अतः एकत्वं नानात्वं च उभयमपि सत्यमेव... नैवं स्यात् 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्, 'वाचारम्भण' शब्देन च विकारस्य अनृतत्वाभिधानात्''** (ब्र.सू.शां.भा.२।१।-१४) कह कर भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य कार्यकारणके बीच तादात्म्यके बजाय कारणमात्रका एकत्व सिद्धान्तित करते हैं. परिणामस्वरूप नौमें से एक भी वाद उन्हे मान्य नहीं यह स्पष्ट हो जाता है. फिर भी प्राचीन शांकर विद्वान् अपने आपको शुद्धाद्वैती ही मानते चले आये हैं :

> **१.''अभेदएव स्याद् इति पाठम् अनुरुध्य शुद्धाद्वैतमेव सिद्धयेद् इति तात्पर्यं वर्णितम्''.**
>
> (कल्पतरुपरिमल २।१।१४).
>
> **२.किञ्च आपाततः शिष्यस्य शुद्धाद्वैतबोधासम्भवादपि परिणामो अभ्युपेयः''.**
>
> (संक्षेपशारीरकसुबोधिनी २।८१).

इसी तरह ''कथञ्चिद् एकत्व और कथञ्चिद् नानात्व'' तथा ''इदमित्थम् एकका नानात्व'' के बीच रहे हुए अन्तरकी

अवगणना करके, यह सहज सम्भव है कि केवलाद्वैतिओंने कुछ शुद्धाद्वैतिओंको द्वैताद्वैती घोषित कर दिया हो.

वैसे तो द्वैताद्वैतवादिओंके भी दो प्रकार सम्भव हैं : [१]सद्वाद + द्वैताद्वैतवाद [२]सदसद्वाद + द्वैताद्वैतवाद.

स्पष्ट है कि इनमें से प्रथम प्रकारके द्वैताद्वैती सद्वादकी स्वीकृतिके कारण शुद्धाद्वैतिओंके निकटतम पड़ौसी हैं. क्योंकि सद्वाद स्वीकारते ही, पूर्वनिरूपणानुसार, सत्कारणवाद सत्कार्यवाद तथा आर्विभाव-तिरोभाववाद; एवं वेदान्त होनेके कारण ब्रह्मवाद अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद और लीलावाद तो सर्वथा अपरिहार्य बन ही जाते हैं. ऐसी स्थितिमें विभाजक अन्तरका अति सूक्ष्म तथा अल्प रह जाना स्वाभाविक ही है.

जैसे शास्त्रोंमें अक्सर मायाके सदसदात्मिका होनेके उल्लेखको बहुतसे आधुनिक प्रवचनकार सदसद्विलक्षणताके अर्थमें घटा देते हैं, वैसी धांधली हमें द्वैताद्वैत और द्वैताद्वैतवैलक्षण्य के बीच नहीं करनी चाहिये. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भी यह तो स्वीकारते हैं :

> **‘‘‘इदं विश्वं भगवान्’ (इति) विश्वम् अनूद्य भगवत्त्वं विधीयते. तथा सति सर्वत्र भगवद्दृष्टिः चेत् कृतार्थो भवतीति कार्यं भगवत्त्वेन निरूपितम्. ‘सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्’ इति श्रुतिः ‘हि’ शब्देन सूचिता. उत्तममध्यमाधमाधिकारिभेदेन त्रेधा अत्र निरूपणं कर्तव्यम्. तत्र उत्तमे निरूपितम्. मध्यमेतु एवम्—इदं विश्वं भगवानिव नतु भगवान्... निकृष्टेतु—इदं विश्वं भगवान् इतरो अस्माद् अन्यः... ननु एकस्य जगतः कथं त्रिरूपत्वम्? तत्र आह... जगतः स्थिति भगवत्येवेति**

भगवानेव जगतीति स्वाधारत्वाद् भगवानेव जगत्. मध्यमेतु भगवतः सकाशाद् जगदुद्भवः, तेन कार्यकारणयोः तादात्म्यात् कार्यात्मना भेदः कारणात्मना अभेदइति 'भेदसहिष्णुः अभेदः तादात्म्यम्' इति वचनाद् जगद् भगवानिव. मूढेतु भगवतः प्रलयकर्तृत्वाद् नाशप्रतियोगि जगत्, भगवांश्च सदातनइति इतरः''.

(सुबो.१।५।२०)

इससे सिद्ध होता है कि मध्यम कल्पतया द्वैताद्वैतता (स्वरूपतः पारमार्थिक स्वाभाविक अद्वैत तथा अचिन्त्य सामर्थ्यवशात् पारमार्थिक ऐच्छिक द्वैतके स्वीकार्य होनेपर भी स्वाभाविकाद्वैत + स्वाभाविकद्वैतको स्वीकार न करनेके कारण महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं **''कार्यकारणयोः भेदाभेदमतनिराकरणाय पिण्डमणिनखनिकृन्तनग्रहणम्''** (ब्र.सू.अणुभा.१।४-।८). इस सूक्ष्म अन्तरको यदि बुद्धिगत नहीं किया जाता है तो पारमार्थिक अद्वैत + मायिक द्वैतकी स्वीकृतिके कारण केवलाद्वैतवादको भी 'द्वैताद्वैतवाद' कहा जा सकेगा. इसी तरह विशिष्ट अद्वैत + विशेषण-विशेष्यद्वैतकी स्वीकृतिके कारण विशिष्टाद्वैतवादको भी 'द्वैताद्वैतवाद' क्यों नहीं कहा जा सकता ?

द्वैताद्वैतवादकी स्वीकृतिपर जैनोंके अनेकान्तवादकी शरण लेनेका आरोप बहुधा लगाया जाता है.

उदाहरणतया

''अहो माहात्म्यं प्रज्ञायाः ! नमोऽस्तु ब्रह्मवादिभ्यः क्षपणकशिष्येभ्यः !''

(नैष्कर्म्यसिद्धि.१।७८)

''इदानीं दिगम्बरपादपातिनां सर्वत्र भिन्नाभिन्नत्वम् इच्छतां

मतं प्रत्याख्याति''.

(इष्टसिद्धिविवरण.५।५८)

''भेदाभेदोपपाद्यं सकलम् इति मते सप्तभंगी न दूष्या.''

(तत्त्वमुक्ताकलाप ३।२८)

वास्तविकता जबकि यह है कि वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंमें किन्हीं-किन्हीं विशेषणोंके साथ द्वैत तथा अद्वैत दोनों ही स्वीकारने पड़ते हैं. कुछ श्रुतिवचनोंकी सार्थकता, केवलाद्वैतिओंके मतमें भी, 'द्वैत'के साथ 'व्यावहारिक' या 'प्रातिभासिक' विशेषण जोड़ कर द्वैतको स्थान दिये बिना, सिद्ध नहीं हो पायेगी. इसी तरह केवलद्वैतवादिओंको भी कुछ श्रुतिवचनोंकी सार्थकता 'अद्वैत'के साथ 'औपचारिक' विशेषण जोड़ कर सिद्ध करनी पड़ती है. फलतः प्रश्न द्वैत या अद्वैत का नहीं रह जाता है. किन्तु द्वैत या अद्वैत के साथ जोड़े जानेवाले विशेषणोंका प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन जाता है. स्पष्ट है कि तत्तद् वेदान्तसम्प्रदाय अपने सद्वादी सदसद्वादी अथवा सदसद्वैलक्षण्यवादी पूर्वाग्रहोंके अधीन हो कर ही द्वैत या अद्वैत के साथ जोड़े जानेवाले स्वाभाविक औपाधिक पारमार्थिक मायिक ऐच्छिक या औपचारिक विशेषणोंके बारेमें विवादशील बनते हैं. अस्तु.

पूर्वकथित तथाकथित द्वैताद्वैतवादी ब्रह्मनन्दिप्रभृति वेदान्तिओंमें, केवल श्रीभास्कराचार्यके अपवादको छोड़ कर, अन्योंके मूलग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होते. जहां तक शांकर या रामानुज ग्रन्थोंमें इनके वचन या मत का उल्लेख मिलता है वह स्वमतके उपोद्बलनार्थ अथवा इनके मतमें खण्डनार्थ ही और वह तो द्वैताद्वैतवादितया ही उपलब्ध होता है. अतः यथोपलब्ध स्वरूपमें स्वीकार कर चलनेके आग्रहके कारण सहसा इन्हें शुद्धाद्वैतवादी घोषित कर

देनेके बजाय शुद्धाद्वैतके अंगभूत नौ उपवादोंमें से कौनसा वाद किस वचनमें उपलब्ध हो रहा है, यह अध्येताओंके समक्ष पहले उपस्थापित कर देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं.

प्राचीन ग्रन्थोंमें आचार्य ब्रह्मनन्दीका उल्लेख अनेक नामोंद्वारा किया हुआ माना जाता है. यथा 'टंक' 'आत्रेय' 'वृत्तिकार' 'वाक्यकार' आदि. कुछ विद्वान इन्हें ब्रह्मसूत्रगत **''स्वामिनः फलश्रुतेः इति आत्रेयः''** (ब्र.सू.३।४।४८)में निर्दिष्ट आत्रेयसे अभिन्न मान कर ब्रह्मसूत्रकारके समकालिक भी मानते हैं. आचार्य ब्रह्मनन्दीने छान्दोग्योपनिषद् पर 'वाक्य' नामिका कोई व्याख्या लिखी थी, जो आज अविकल रूपमें उपलब्ध नहीं होती. फिरभी उसमें के अनेक वचनों तथा अभिप्रायों के उल्लेख हमें श्रीशंकराचार्य, श्रीभास्कराचार्य, श्रीयामुनेयाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य प्रभृति प्राचीन ग्रन्थकारोंकी रचनाओंमें उपलब्ध होते हैं. इनकी 'वाक्य' विवृतिपर किसी द्रमिड़ाचार्य नामक वेदान्तीने भाष्य या वृत्ति भी लिखी थी जो बहुधा इनके वचनोंके साथ-साथ ही उद्धृत होती हुई देखी जाती है. कहते हैं कि इन द्रमिड़ाचार्यका एक स्वतन्त्र भाष्य ब्रह्मसूत्रोंपर भी था. छान्दोग्योपनिषद्भाष्य(३।१०।१)में और अन्यत्र भी श्रीशंकराचार्यने इनका उल्लेख किया है. ऐसा तत्तत् स्थलकी आनन्दगिरि आदि व्याख्याओंके अवलोकनसे सिद्ध होता है.

शांकरभाष्यपर व्याख्या करते हुए कल्पतरुकार, जो श्रीभास्कराचार्यके मतके खण्डनार्थ सदैव सन्नद्धसे लगते हैं, श्रीभास्कराचार्य कहते हैं **''ननु 'न जायते' 'अजो नित्यः' इति अजत्वं श्रूयते, न दोषः परतो जन्मप्रतिषेधात् चतुर्मुखादिवत्. तद् उक्तं 'न तस्य कश्चिद् जनिता न चाश्रयः' इति. तस्मात् स्वतन्त्रस्य शक्तिविशेषोपसंहारौ न**

विरुद्धौ. सूत्रकारः श्रुत्यनुकारी परिणामपक्षं सूत्रयाम्बभूवः. अयमेव छान्दोग्ये वाक्यवृत्तिकाराभ्यां सम्प्रदायमतः समाश्रितः. तथाच वाक्यं 'परिणामस्तु स्याद् दध्यादिवद्' इति विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकबौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति'' (ब्र.सू.भास्क.भा १।४।२५). और इस सन्दर्भमें कल्पतरुकार ब्रह्मनन्दीको विवर्तवादी सिद्ध करनेको कहते हैं ''भास्करस्तु इह बभ्राम 'योनिरिति परिणामादिति च सूत्रनिर्देशात्, छान्दोग्यवाक्यकारेण ब्रह्मनन्दिना परिणामस्तु स्यादिति अभिधानात् च, परिणामवादो वृद्धसम्मतः'इति... ब्रह्मनन्दिना हि 'न असतो अनिष्पाद्यत्वात् प्रवृत्त्यानर्थक्यन्तु सत्त्वाविशेषाद्' इति सदसत्पक्षप्रतिक्षेपेण पूर्वपक्षम् आदर्श्य 'न संव्यवहारमात्रत्वाद्'इति अनिर्वचनीयता सिद्धान्तिता. अतः परिणामस्तु मिथ्यापरिणामाभिप्रायम्'' (ब्र.सू.शां.भा.कल्पत.१।४।२७). इनके अनुसार श्रीभास्कराचार्यका ब्रह्मनन्दीको उद्धृत करते हुए यह मानना कि ब्रह्मनन्दी भी तत्त्वपरिणामवादी थे, श्रीभास्कराचार्यकी भ्रान्ति है. क्योंकि असत्से कभी-कुछ भी सत् नहीं बन सकता और जो स्वयमेव सत् हो उसे बनानेकी आवश्यकता ही सिद्ध नहीं होती. अतः जो कुछ पैदा होता है वह वस्तुतः तो सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या ही होता है, जिसे व्यवहारमें सत् मान कर चल सकते हैं.

यहां सर्वप्रथम 'सदसत्पक्षप्रतिक्षेप' पदके प्रयोगके सन्दर्भमें सांख्यतत्त्वकौमुदीगत सत्कार्यवादके समक्ष पूर्वपक्षतया उपस्थापित वचन तुलनार्ह है ''स्याद् एतद् आविर्भावः पटस्य कारणव्यापारात् प्राक् सन् असन् वा? असन् चेत् प्राप्तं तर्हि अनुत्पादम्. अथ सन् कृतं तर्हि कारणव्यापारेण, नहि सति कार्ये कारणव्यापारप्रयोजनं पश्यामः... तस्माद् इयं पटोत्पत्तिः स्वकारणसमवायो वा स्वसत्तासमवायो वा उभयथापि न उत्पद्यते. अथच तदर्थानि कारणानि व्यापार्यन्ते, एवं सतएव पटादेः आविर्भावाय कारणापेक्षा इति उपपन्नम्'' (सांख्यतत्त्वकौमुदी ९).

सदसत्पक्षप्रतिक्षेप सत्कार्यवादियोंके समक्ष भी प्रस्तुत किया जाता रहा है. रही बात उत्तरपक्षमें कार्यकी उत्पत्तिको 'संव्यवहार' कहनेकी तो इस सन्दर्भमें भी **''न असदुत्पादो नृशृंगवत्... न भावे भावयोगः चेद् न अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ''** (सांख्यसूत्र १।१।११४-१२०), उभयपक्षके प्रतिक्षेपद्वारा अमिथ्या परिणाम ही प्रतिपादित हुवा है. एतद्विषयक अधिक चर्चा मेरे ब्रह्मसूत्राणुभाष्यके द्वितीयाध्यायकी भूमिकामें की है सो विशेष जिज्ञासा हो तो देखी जा सकती है.

श्रीरामानुजाचार्य-विरचित वेदार्थसंग्रहके आलोचनात्मक संस्करणके सम्पादक-अनुवादक श्री जे.ए.बी.फान ब्यूटनेनने बड़े परिश्रमपूर्वक ब्रह्मनन्दीके यत्र-तत्र बिखरे हुए उद्धृत वचनोंका संकलन वेदार्थसङ्ग्रहके परिशिष्टमें दिया है. इनमें से सम्बद्ध चर्चामें उपयोगी कुछ वचनोंपर दृष्टिपात उपकारक होगा. ब्यूटनेनने उनके सम्भावित श्रौत सन्दर्भ तथा द्रमिड़भाष्य भी साथ दिये हैं, यहां उन वचनोंको हम साभार उद्धृत करना चाहेंगे.

(१)

श्रुति : ''अथ य एषोऽन्तरादित्यः हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते...'' (छान्दो.उप.१।६।६).

वाक्य : ''हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते इति प्राज्ञः सर्वान्तरः स्यात् लोककामेशोपदेशात् तथोदयात्पाप्मनाम्...स्यात् तद्रूपं कृतकम् अनुग्रहार्थं तच्चेतसाम् ऐश्वर्यात्. रूपं वा अतीन्द्रियम् अन्तकरणप्रत्यक्षनिर्देशात्''.

भाष्य : ''अञ्जसैव विश्वसृजो रूपं तत्तु न चक्षुषा ग्राह्यं, मनसा तु अकलुषेण साधनान्तरवता गृह्यते. 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा मनसा तु विशुद्धेन' इति श्रुतेः.

नहि अरूपायाः देवतायाः रूपम् उपदिश्यते. यथाभूतवादि हि शास्त्रम्. 'माहारजतं वासः', 'वेद अहम् एतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद्' इति प्रकरणान्तरनिर्देशाच्च साक्षिणः इत्यादिना. 'हिरण्मयः' इति रूपसामान्यात् चन्द्रमुखवत्. न 'मयड्' अत्र विकारम् आदाय प्रयुज्यते अनारभ्यत्वाद् आत्मनः.''

स्पष्टतया हम देख सकते हैं कि वाक्यकार ब्रह्मनन्दी और भाष्यकार द्रमिड़ाचार्य दोनों ही केवलाद्वैतवादिओंको प्राणप्रिय निर्गुणनिराकार ब्रह्मकी उपासनार्थ रूपकल्पनाके विपरीत परमात्माके अलौकिक अतीन्द्रिय रूपवान् होनेकी बात स्वीकार रहे हैं. यद्यपि पूर्वप्रतिज्ञात शुद्धाद्वैतवादांगभूत नौ वादोंमें से किसी भी वादका साक्षात् समर्थन यहां दृष्टिगत नहीं होता, तथापि क्योंकि संक्षेपशारीरककार ''अन्तर्गुणा भगवती परदेवता'' तथा तद्भाष्यकार ''प्रत्यग्गुणा' व्याख्यान के आधारपर उन्हें विवर्तवादी सिद्ध करना चाहते हैं अतः इस सन्दर्भमें श्रीशंकराचार्यके अभिप्रायसे इन वचनोंकी तुलना आवश्यक हो जाती है.

यथा :

''यद् उक्तं हिरण्मयश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे न उपपद्यते इति, अत्र ब्रूमः स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशान् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थं 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद! सर्वभूतगुणैः युक्तं मैवं मां ज्ञातुम् अर्हसि' इति स्मरणात्. अपिच यत्रतु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपम् उपदिश्यते भवति तत्र शास्त्रम् 'अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम्' इत्यादि. सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्

विशिष्टः परमेश्वरः उपास्यत्वेन निर्दिश्यते 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादिना. तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति. यदपि आधारश्रवणाद् न परमेश्वरः इत्यत्र उच्यते स्वमहिमप्रतिष्ठस्यापि आधारविशेषोपदेशः उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद् ब्रह्मणो व्योमवत् सर्वान्तरत्वोपपत्तेः''.

(ब्र.सू.शां.भा.१।१।२०)

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीशंकराचार्यके अनुसार परदेवताके साधकानुग्रहार्थ प्रकट रूप-गुण मायिक विकाररूप हैं जबकि ब्रह्मनन्दी-द्रमिड़ाचार्य उन्हें अतीन्द्रिय अविकारी स्वयंकृत दिव्य रूप-गुण मान रहे हैं. शास्त्र यथाभूतवादी है अतः रूप-गुण, नीरूप-निर्गुणके उपासनार्थ उपदेशभूमिभेदमूलक साधनार्थ कल्पित या मिथ्या है ऐसी धारणा ब्रह्मनन्दी-द्रमिड़ाचार्यके वचनोंसे व्यक्त नहीं होती. फलतः रूप-रूपवान् एवं गुण-गुणवान् का सिद्ध होता तादात्म्य, निर्गुण-निराकार ब्रह्मके, आत्यन्तिक एकत्व या अद्वैत का निराकरण कर देता है.

रही बात परमात्माके सर्वप्रत्यगात्मा होनेकी तो वह भी श्रीशंकराचार्यके **''यदपि आधारश्रवणात्...सर्वान्तरत्वोपपत्तेः''** वाक्यांशसे अन्यान्य विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद या शुद्धाद्वैतवाद के अन्तर्गत भी प्रामाणिकतया तथा सर्वथा मान्यतया दी ही जा सकती है. अतः संक्षेपशारीरककारद्वारा ''अन्तर्गुणा भगवती परदेवता'' वचनका कुशकाशाबलम्बन निष्फल ही सिद्ध होता है.

(२)

श्रुति : ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत. अथ क्रतुमयः पुरुष यथा क्रतुरस्मिंलोके पुरुषो

भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत.''
(छान्दो.उप.३।१४।१).

वाक्य : ''वेदनम् उपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणात्... सकृत् प्रत्ययं कुर्यात् शब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत्... उपासनं स्याद् ध्रुवानुस्मृतिः दर्शनाद् निर्वचनात् च. सिद्धन्तु उपासनशब्दात्... आत्मा इत्येवतु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निष्पत्तेः.''

यह वचन भी नितान्त मननीय है. यद्यपि यहां द्रमिड़ाचार्यका भाष्य कहीं उद्धृत नहीं हुआ है फिर भी तात्पर्यनिर्णय दुष्कर नहीं है. श्रुतिवचनमें इदंकारसे निर्दिष्ट निखिल दृश्यमान जगत्की ब्रह्मात्मताके प्रतिपादनपूर्वक उस ब्रह्मात्मकताकी भावनाको दृढ़ करनेके लिये जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-लयहेतुके रूपमें ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये यह समझाया गया है. इस सन्दर्भमें वाक्यकार खुलासा देते हैं कि जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुतया ब्रह्मकी उपासना करनेका मतलब है ब्रह्मको वैसे जानना. एक बार जान लेनेसे फलसिद्धि नहीं हो जाती है. फलसिद्धिके लिये निरन्तर वैसी उपासना चलती रहनी चाहिये. क्योंकि 'उपासना'का अर्थ होता है ध्रुवा स्मृति (अविचलित ध्यान). उक्त ब्रह्मका आत्मत्वेन निरन्तर ध्यान करना चाहिये. क्योंकि आत्मा आदि सभी कुछ ब्रह्मसे ही प्रकट हुए हैं.

इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मनन्दीको कार्यकारणके बीच तादात्म्य सर्वथा अभीष्ट था ही, जो न तो केवलाद्वैतमें शक्य है न विशिष्टाद्वैतमें ही. केवलाद्वैतमें जगत्की ब्रह्मात्मकता बाधार्थसामान्याधिकरणको स्वीकारे बिना शक्य नहीं. सर्वान्तर्गत जब वस्तुकी ब्रह्मात्मकता बाधार्थ-सामानाधिकरण्यन्यायेन तथा जीवात्माकी

ब्रह्मात्मकता अबाधित वस्त्वैक्येन स्वीकारनेपर तो अर्धजरतीयताका दोष स्पष्ट है.

(३)

श्रुति : ''य इह आत्मानम् अनुविद्य व्रजन्ति एतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'' (छान्दो.उप.८।१।६).

वाक्य : ''देवतासायुज्याद् अशरीरस्यापि देवतावत् सर्वसिद्धिः स्यात्''.

सायुज्य मोक्षके बाद भी देवताओंकी तरह सर्वलोकमें अशरीरी हो कर विहरणकी धारणा ब्रह्मनन्दीके केवलाद्वैती होनेकी सम्भावनाको निःशेष कर देती है.

इस तरह हमने देखा कि कैसे ब्रह्मनन्दी, जिनका प्रामाण्य केवलाद्वैती श्रीशंकराचार्य तथा विशिष्टाद्वैती श्रीरामानुजाचार्य दोनों को मान्य है, वे स्वयं न तो केवलाद्वैती थे और न विशिष्टाद्वैती ही.

आचार्य भर्तृप्रपञ्चने बृहदारण्यकोपनिषद्, कठोपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखे थे ऐसा कहा जाता है.*

इनके मतका प्रत्याख्यान श्रीशंकराचार्यने तथा उनके साक्षात् शिष्य श्रीसुरेश्वराचार्यने अपने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, उसपर के वार्तिक तथा नैष्कर्म्यसिद्धिमें भी अनेक स्थलों पर किया है.

---

*द्रष्टव्य : ''भर्तृप्रपञ्चभाष्याद् विशेषान्तरमाह'' (बृहद्.शां.भा.आ.गि.१-।१।१), ''ननु भर्तृप्रपञ्चादिभिरेव व्याख्यातत्वाद्... (कठ.शां.भा.गोपालयतीन्द्रटीका.१।१।१), ''अथ सत्सम्प्रदायप्रवर्तकं भाष्यकृतं नमति...एवकारेण भर्तृप्रपञ्च भास्करादीन् व्यवच्छिनत्ति'' (संक्षे.शारि.सुबो.१।७)

जहां तक स्वयं श्रीशंकराचार्यका प्रश्न है वे तो भर्तृप्रपञ्चके लिये **''औपनिषदम्मन्याअपि केचित् प्रक्रियां रचयन्ति... सर्वम् एतत् तार्किकैः सह सामञ्जस्यकल्पनया रमणीयं पश्यन्ति न उपनिषत्सिद्धान्तं सर्वन्यायविरोधं च पश्यन्ति.''** (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य २।३।६) प्रयुक्त शब्दावलीके प्रयोगद्वारा भर्तृप्रपञ्चके मतके बारेमें उन्होंने अपना अभिप्राय तो स्पष्ट कर दिया है. कहीं भी नामोल्लेख तो श्रीशंकराचार्य करते नहीं हैं, क्योंकि यत्र-तत्र आलोच्य मत किसका है यह निर्धारण आनन्दगिरि आदि व्याख्याओंके बलपर ही होता है और आनन्दगिरि तो यहां **''स्वपक्षम् उक्त्वा भर्तृप्रपञ्चपक्षम् उत्थापयति औपनिषदम्मन्या इति''** स्पष्टीकरण देते हैं. अतः सन्देहका अवकाश नहीं है.

स्वयं श्रीशंकराचार्य इसी भाष्यमें अपने समयके अनेकविध मतोंका उल्लेख इस तरह करते हैं :

> **१.''तत्र केचिद् आचक्षते परस्य महासमुद्रस्थानीयस्य ब्रह्मणो अक्षरस्य अप्रचलितस्वरूपस्य ईषत्प्रचलितावस्था अन्तर्यामी, अत्यन्तप्रचलितावस्था क्षेत्रज्ञो यः तं न वेद अन्तर्यामिणम्''.**
>
> **२.''तथा अन्ये पञ्चावस्था परिकल्पयन्ति''.**
>
> **३.''अष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्ति इति वदन्ति''.**
>
> **४.''अक्षरस्य एताः शक्तयः इति वदन्ति अनन्तशक्तिमद् अक्षरम् इति''.**
>
> **५.''अन्येतु अक्षरस्य विकाराः इति वदन्ति''.**
>
> (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य ३।८।१२).

इन पांच मान्यताओंमें से प्रथम और पञ्चम मान्यताओंका

थोड़ा और भी विशद् विवरण स्वयं श्रीशंकराचार्य इसी बृहदारण्यकभाष्यमें देते हैं. उन्हें भी एक बार दृष्टिगत करके फिर किसी भी विवेचनाके हेतु प्रवृत्त होना उपयुक्त रहेगा.

यथा :

''अत्र एके वर्णयन्ति पूर्णात् कारणात् पूर्णं कार्यम् उद्रिच्यते. उद्रिक्तं कार्यं वर्तमानकालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुभूतं द्वैतरूपेण, पुनः प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्णताम् आदाय आत्मनि धित्वा पूर्णमेव अवशिष्यते कारणरूपम्, एवम् उत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्यकारणयोः पूर्णतैव. साच एकैव पूर्णता कार्यकारणयोः भेदाभेदेन व्यपदिश्यते. एवञ्च द्वैताद्वैतात्मकम् एकं ब्रह्म. यथा किल समुद्रो जलतरंगफेनबुद्बुदाद्यात्मकः एकएव. यथाच जलं तदुद्भवाश्च तरंगफेनबुद्बुदादयः समुद्रभूताएव आविर्भावतिरोभावधर्मिणः परमार्थसत्याएव. सर्वम् इदं द्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरंगस्थानीयं समुद्रजलस्थानीयतु परं ब्रह्म.''

(बृह.उप.शां.भा.५।१।१).

यह प्रथम मतकी विशद् विवेचना है इसी तरह पञ्चम मतकी भी विस्तृत विवेचना श्रीशंकराचार्यने दी है.

''अत्र केचित् परिहारम् आचक्षते परमात्मा न साक्षाद् भूतेषु अनुप्रविष्टः स्वेन रूपेण किन्तर्हि विकारभावम् आपन्नो विज्ञानात्मत्वं प्रतिपेदे. सच विज्ञानात्मा परस्माद् अन्यो अनन्यः च. येन अन्यः तेन संसारित्वसम्बन्धी, येन अनन्यः तेन 'अहं ब्रह्म' इति अवधारणार्हः. एवं सर्वम् अविरुद्ध भविष्यति.''

(बृह.उप.शां.भा.२।१।१).

यद्यपि श्रीशंकराचार्यने इन चिन्तकोंका नामोल्लेख नहीं किया परन्तु भाष्यव्याख्यानकार आनन्दगिरिके अनुसार प्रथम मत भर्तृप्रपञ्चका है. लगता है कि उत्तरकालमें श्रीरामानुजाचार्यके समय श्रीयादवप्रकाश भी भर्तृप्रपञ्चकी परम्पराके समर्थक रहे होंगे. क्योंकि रामानुजमतीय ग्रन्थोंमें शब्दशः ऐसा ही मत भर्तृप्रपञ्चके बजाय यादवप्रकाशके नामसे ही वर्णित हुआ है. श्रीयादवप्रकाश श्रीरामानुजाचार्यके विद्यागुरु भी रह चुके थे. अतः उनकी मान्यताके बारेमें रामानुजीयस्रोतोंपर सन्देह अनावश्यक है.

श्रीभर्तृप्रपञ्चके मतको श्रीशंकराचार्य शब्दशः द्वैताद्वैतवादके रूपमें ही प्रस्तुत करते हैं, परन्तु हम स्पष्टीकरण दे चुके हैं कि इन शब्दोंपर न जा कर हमें शुद्धाद्वैतवादांग नौं उपवादोंकी स्वीकृति या अस्वीकृति को कसौटी मान कर चलना है. उसी गवेषणाके लिये अतः हम प्रवृत्त होते हैं.

एतदर्थ उपरिनिर्दिष्ट बृहदारण्यकभाष्यवचनोंके बीच-बीच कोष्ठकविन्यासपूर्वक किन-किन पंक्तिओंमे कौन-कौनसे वाद प्रतिपादित हुए हैं यह नामनिर्देश केवल पर्याप्त होगा.

''अत्र एके वर्णयन्ति - पूर्णात् कारणात् पूर्णं कार्यम् उद्रिच्यते (सत्कारण-सत्कार्यवादः) **उद्रिक्तं कार्यं वर्तमानकालेपि पूर्णमेव** (कार्यकारणतादात्म्यवादः) **परमार्थवस्तुभूतं द्वैतरूपेण. पुनः प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्णताम् आदाय आत्मनि धित्वा पूर्णमेव अवशिष्यते कारणरूपम्** (अविकृतस्वरूपपरिणामवादः) **एवम् उत्पत्तिस्थितिलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्यकारणयोः पूर्णता. सा च एकैव पूर्णता कार्यकारणयोः** (शुद्धाद्वैतवादः) **भेदाभेदेन व्यपदिश्यते** (कार्यकारणतादात्म्यवादः) **एवञ्च द्वैताद्वैतात्मकम् एकं ब्रह्म** (ब्रह्मवादः - विरुद्धधर्माश्रयतावादः). **यथा किल**

समुद्रो जलतरंगफेनबुद्बुदाद्यात्मकः एकएव. यथाच जल सत्यं तदुद्भवाश्च तरंगफेनबुद्बुदादयः समुद्रभूताएव (कार्यकारणतादात्म्यवादः) **आविर्भावति-रोभावधर्मिणः** (आविर्भावतिरोभाववादः) **परमार्थसत्या एकएव** (शुद्धाद्वैत-वादः) **सर्वम् इदं द्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरंगस्थानीय समुद्रजलस्थानीय परं ब्रह्म.''**

शुद्धाद्वैतवादांगभूत जिन दो वादोंका उल्लेख यहां शब्दशः उपलब्ध नहीं हो रहा है वे हैं अभिन्नमित्तोपादानकारणतावाद तथा लीलार्थसृष्टिवाद. इनकी कमी, इतना सब स्वीकार लेनेके बाद, अब कोई खटकनेवाली बात नहीं रह जाती है. क्योंकि वेदान्ती होनेके कारण भर्तृप्रपञ्चने, जो ब्रह्मसूत्रोंपर भाष्य लिखा था वह आज उपलब्ध होता तो निश्चयेन **''प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्''** (ब्र.सू.१।४।२३) **''भोक्त्रापत्तेः अविभागः चेत् स्याल्लोकवत्''** (ब्र.सू.२।१।१३) **''उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि''** (ब्र.सू.२।१।२४) तथा **''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्''** (ब्र.सू.२।१।३३) आदि सूत्रोंपर उनके भाष्यमें उक्त दोनों वाद उपलब्ध होते ही. कट्टर केवलाद्वैती होनेके बावजूद श्रीशङ्कराचार्यको भी इन सूत्रोंपर भाष्य लिखते समय अपनी भाषा बदलनी पड़ी है. यह सम्बद्ध स्थलोंके भाष्यांशोंके अवलोकनसे आश्चर्यजनकतया स्फुट है. न केवल इतना ही अपितु अपने भाषापरिवर्तनकी सफाई भी उन्हें देनी पड़ी है. इन शब्दोंमें **''सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण 'तदनन्यत्वम्...' इति आह व्यवहाराभिप्रायेण तु 'स्याल्लोकवद्' इति महासमुद्रस्थानीयत्वं ब्रह्मणो अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां च आश्रयति''** (ब्र.सू.शां.भा.२।१।१४) तथा **''यत् पुनः इदम् उक्तम् ईक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टं, न उपादानेषु इत्यादि. तत् प्रत्युच्यते न लोकवद् इह भवितव्यम्. नहि अयम् अनुमानगम्यो अर्थः शब्दगम्यत्वात्तु अस्य अर्थस्य यथाशब्दम् इह भवितव्यम्. शब्दश्च ईक्षतुः ईश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयति इति**

अवोचामः पुनश्च एतत् सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः'' (ब्र.सू.शां.भा.१।४।-२७). इसके बाद पूर्वोल्लिखित (२।१।१४) सूत्रमें श्रीशंकराचार्य यह प्रतिविधान करते हैं **''ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत् तत्र अफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद् ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते 'फलवत्संन्निधौ अफलं तदंगम्' इतिवत्''** स्पष्ट है कि शब्दैकगम्य ब्रह्मके स्वरूपके निर्धारणमें **''फलवत्संनिधौ अफलं तदंगम्''** (ब्र.सू.शा.भा.२।१।१४)की आनुमानिक प्रक्रियाका अवलम्बन कर शब्दको स्वार्थमे अप्रमाण मान लिया गया है. लिहाजा श्रीवाचस्पति मिश्र भी किंकर्तव्यविमुग्ध हो कर कह बैठे हैं **''इयञ्च उपादानपरिणामादिभाषा न विकाराभिप्रायेण अपितु यथा सर्पस्य उपादानं रज्जुः एवं ब्रह्म जगदुपादानं द्रष्टव्यम्...नहि वाक्यैकदेशस्य अर्थः अस्तीति''** (ब्र.सू.शां.भा.भा.१।४।२७)

धैर्यपूर्वक यहां विचारणीय यही है कि यदि उपादानपरिणामादि शब्द विवर्तोपादान या मिथ्यापरिणाम के वाचकतया सूत्रकार एवं श्रीशंकराचार्य को विवक्षित हों तो **''सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण 'तदनन्यत्वम्...' इति आह व्यवहाराभिप्रायेण... परिणामप्रक्रियां च आश्रयति''** प्रभेदको दिखाना सर्वथा निरर्थक सिद्ध होता है. क्योंकि तब तो 'परिणाम'शब्द ही सफल मिथ्यापरिणामवाचक है.

अतएव इसी विसंगतिको दूर करनेके लिए कल्पतरुकार श्रीवाचस्पतिकी इन पंक्तिओंका इन्हें शांकरभाष्यका व्याख्यान न मान कर ब्रह्मनन्दीद्वारा प्रयुक्त ''परिणामस्तु स्याद्'' के व्याख्यानतया अन्यथानयन करते हैं. इसकी युक्तायुक्तताका विमर्श तो हम कर ही चुके हैं.

भर्तृप्रपञ्चके मतकी विस्तृत जानकारीके हेतु श्रीसुरेश्वराचार्यकृत बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकके अधोनिर्दिष्ट स्थल उपकारक हो सकते

हैं :

यथा

१।१।१६९-१७३, १।४।६९३, १।४।११६८-११७५, १।४।१६६४-१६६९, १।४।१६९७-१७०७, १।६।४६-७७, २।१।५२४-५३९, २।३।४८-१२४, तथा २।५।६७-७३ इत्यादि स्थलोंके अवलोकनसे भर्तृप्रपञ्चकी शुद्धाद्वैतवादिता सिद्ध होती है.

शास्त्रदीपिकाकारद्वारा उल्लिखित **''केचित्तु औपनिषदाः... जीवभेदात् च बन्धमुक्तिव्यवस्थापि उपपन्ना''** (शा.दी.१।१।५) वचनमें जिस मतका प्रतिपादन उपलब्ध हो रहा है वह भी भर्तृप्रपञ्चका ही मतसंकलन लगता है. तत्त्वसंग्रह (पुरुषपरीक्षाकारि.१५३-१७०)में शान्तरक्षित तथा कमलशील भी वेदवादीके मततया जिस विचारधाराका वर्णन कर रहे हैं वह निषेधात्मक अद्वैतवादानुसारिणी न हो कर विधानात्मक अद्वैतवादानुसारिणी ही सुस्पष्ट है.

आचार्य श्रीब्रह्मदत्तके बारेमें नैष्कर्म्यसिद्धिकार श्रीसुरेश्वराचार्य, जो आद्य श्रीशंकराचार्यके साक्षात् शिष्य हैं, एक मज़ेदार बात कहते हैं कि उसे अपने सम्प्रदायके सत्सम्प्रदाय होनेकी धारणाके कारण बहुत अभिमान है **''केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भाद् आहुः यद् एतद्वेदान्तवाक्याद् 'अहं ब्रह्म' इति विज्ञानं समुत्पद्यते. तद् नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति किन्तर्हि अहनि-अहनि द्राघीसा कालेन उपासीनस्य सतो भावनोपचयाद् निःशेषम् अज्ञानम् अपगच्छति, 'देवो भूत्वा देवान् अप्येति' इति श्रुतेः.** (नैष्क.सि.१।६७).

इससे सिद्ध होता है कि श्रीशंकराचार्यके समय तक प्राचीन कालसे चले आ रहे ब्रह्मपरिणामाद्वैतवादी वेदान्ती अर्थात् ब्रह्मको एकमेवाद्वितीय माननेके साथ-साथ जगत्को ब्रह्मका स्वरूपपरिणाम

माननेवालोंका सम्प्रदाय प्रबल रहा होगा. ब्रह्मविवर्ताद्वैतवादके आद्य प्रवर्तक माण्डुक्यकारिकाकार अजातिवादी श्रीगौड़पादाचार्य हों अथवा शब्दब्रह्मविवर्तवादी श्रीभर्तृहरि हों, इतना तो निश्चित है कि श्रीशंकराचार्यद्वारा बहुप्रतिष्ठित मायावादकी नूतन धारणाको तब-तक सत्सम्प्रदायतया सम्पूर्ण मान्यता मिल नहीं पाई थी. अतएव तब सत्सम्प्रदायबलके बजाय सद्युक्तिबलकी दुहाई नैष्कर्म्यसिद्धिव्याख्याकारको देनी पड़ी है : ''**केचिद् ब्रह्मदत्तादयः सम्प्रदायबलावष्टम्भाद् नतु प्रमाणयुक्तिबलावष्टम्भात्. ननु कथं तर्हि प्रमाणाद्यभावे सम्प्रदायबलम्? न अयं दोषो यतः 'सम्प्रदायबलेन' सत्सम्प्रदाय उच्यते**'' (नैष्कर्म्यसिद्धिविद्यासौरभीका व्याख्यांश जो हिरयन्नालिखित नै.सि. की भूमिका पृष्ठ २३ की पादटिप्पणीतया उद्धृत है).

इससे सिद्ध होता है कि जगत्को ब्रह्मके तात्त्विक परिणाम माननेवालोंको अपने-अपने बारेमें सत्सम्प्रदाय होनेका गर्व था. यद्यपि उल्लिखित वाक्यांशमें स्वरूपपरिणामवादसम्बन्धी स्वीकृतिका कोई संकेत नहीं है, तथापि वेदान्तदेशिकरचित तत्त्वमुक्ताकलापकी स्वोपज्ञव्याख्या 'सर्वार्थसिद्धि'के अवलोकन करनेपर ब्रह्मदत्तका स्वरूपपरिणामवादी होना निःसंदिग्धतया सिद्ध होता है. द्रष्टव्य : ''**तर्हि 'सो अकामयत तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत' इत्यादिकं स्वरूपपरिणामवादिब्रह्मदत्तभास्करादिमतभेदैः अव्यवहितमेव किं न निरूह्यते?**'' (सर्वा.सि.३।२६).

ब्रह्मदत्तकी दार्शनिक धारणाके बारेमें कुछ विचारक उन्हें केवलाद्वैती मानते हैं वह कुछ विचारणीय ही है.

यथा : १.ब्रह्मदत्ताभिमत जीवका स्वरूप विज्ञानवादिओंको अभिमत जीवके स्वरूपसदृश है. २.ब्रह्मदत्ताभिमत जीव चार्वाकाभिमत जीवकी तरह नश्वर है. ३.ब्रह्मदत्त नैयायिकोंकी तरह असत्कार्यवादी प्रतीत होते हैं. ४.ब्रह्मदत्त केवल ब्रह्मको ही नित्य मानते हैं

अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त सभी कुछ अनित्य है. मायावादी होनेके कारण ब्रह्मदत्त जड़-जीवात्मक जगत्का अन्तमें ब्रह्ममें लय स्वीकारते हैं तथा मोक्षावस्थामें जीवब्रह्मैक्य भी स्वीकारते होनेसे अद्वैतवादी हैं (द्रष्ट. : श्रीमुरलीधर पाण्डेयकृत 'श्रीशंकरात्प्रागद्वैतवाद' पृ.२९०-२९२).

ऐसी स्थितिमें तो श्रीवेदान्तदेशिकद्वारा लगाया हुआ आरोप "...**सौगतचार्वाकसंकरात् शंकरोदयः**" स्वयमेव पाण्डेयजी स्वीकारतेसे प्रतीत होते हैं. ब्रह्मदत्तको नैयायिकोंकी तरह एक ओर असत्कार्यवादी और दूसरी ओर मायावादी भी मानना तो मायावादके अन्तर्गत विवर्तवादकी तरह असत्कार्यवादकी स्वीकृतिको भी शक्य बना लेना है; अथवा 'मायावाद'का सदसद्विलक्षण-अनिर्वचनीयताके बजाय सर्वथा अनिर्वचनीय अर्थ बना देना है! "**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**"की तीनमें से एक भी शर्त तोड़नेपर कोई विचारधारा मायावाद-अद्वैतवाद (केवलाद्वैतवादके अर्थमें) रह पाती हो ऐसा हमें तो नहीं लगता. यदि ब्रह्मदत्ताभिमत जीव नश्वर है तो या तो ब्रह्मको भी नश्वर मानना पड़ेगा अथवा जीवब्रह्माद्वैतवादको अस्वीकारना पड़ेगा. ब्रह्मदत्तको जीवनाशवादी तथा जीवब्रह्माद्वैतवादी भी स्वीकार कर किस तरहका अद्वैतवादी उसे माना जा रहा है यह समझ नहीं आता. अन्तमें संक्षेपशारीरककारके "**आत्रेयवाक्यमपि संव्यवहारमात्रम्...**" (संक्षेपशारीरकम् ३।२१७) की उत्थानिका "**मायामात्रं सर्वम् इत्येतद् न साम्प्रदायिकम् इति चेद् न ब्रह्मदत्तादिभिः उक्तत्वाद् इति आह 'आत्रेयवाक्यम्'इति**" (संक्षे.शारी.सुबो. ३।२१७) वचनके आधारपर ब्रह्मदत्तको मायावादी माननेकी बात भी सुसंगत तो नहीं लगती. क्योंकि एक सम्भावना तो यही है कि यहां 'ब्रह्मनन्दी'का ही प्रामादिक पाठान्तर 'ब्रह्मदत्त' हो गया होना चाहिये. क्योंकि 'संव्यवहारमात्रत्वाद्' ब्रह्मनन्दीके द्वारा ही किया गया विधान है

यह संक्षेपशारीरकसुबोधिनीकारके अलावा सभीको मान्य है. स्वयं संक्षेपशारीरककार भी इसके बाद आती कारिकामें ''**अद्वैतमेव परिरक्षति वाक्यकारः**'' कहते हैं. वाक्यकारतया ब्रह्मनन्दी ही प्रसिद्ध हैं.

जो ब्रह्मका स्वरूपपरिणाम जगत्को स्वीकारता हो वह जड़ या जीव को नश्वर कैसे मान पायेगा, ब्रह्मके स्वरूपको अनित्य-नश्वर माने बिना? ''प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावाः'' कह कर सभी प्राकृत भावोंको प्रतिक्षण परिणामी माननेवालोंने ही, इदंप्रथमतया, सत्कारणवाद-सत्कार्यवादकी धारणा प्रस्तुत की है, ऐसी स्थितिमें जगत्को ब्रह्मस्वरूपपरिणाम माननेवालेके मतमें परिणाम नश्वर या अनित्य या असत् कैसे हो सकता है? ऐसी स्थितिमें श्रीवेदान्तदेशिकद्वारा उल्लिखित जीवकी स्वरूपतः उत्पत्ति ''**ब्रह्मदत्तादिभिः उक्तं जीवानां स्वरूपतः सृष्टिसंहृतिविषयत्वम् अनूद्य दूषयति 'एकम्...' इति. एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरद् अखिलं तत्र जन्मादिभाग् इति आम्नातं तेन जीवोऽप्यपि अचिदिव जनिमान् इति अनध्येतृचोद्यम्**'' (तत्त्वमुक्ताकलापसर्वा. २।१४) आविर्भावके अर्थमें ही लेनी चाहिये. प्रागभावनिवृत्तिके अर्थमें नहीं.

सत्कार्यवाद, सत्कारणवाद तथा कार्यकारण-अंशाशि-तादात्म्यवाद की प्राक्स्वीकृतिको देखते हुवे जिसे 'अनित्य' या 'जनन-नाशवान्' कहा जाता हो वह प्रागभाव-प्रध्वंसाभावके प्रतियोगीके रूपमें नहीं प्रत्युत आप्रलयास्थायी अस्थिर नाम-रूप-कर्मोंकी आविर्भावतिरोभावशालिताके अर्थमें है. इसी तरह परिच्छिन्नता भी अन्त्यन्ताभावप्रतियोगिता या अन्योन्याभावप्रतियोगिता के अर्थमें न हो कर एकमेवाद्वितीय व्यापक ब्रह्मचैतन्यके आमोक्ष अंशात्मना आविर्भूततया अवस्थानके अर्थमें है.

मूलतः आज 'जनन-नाश'का रूढ़ार्थ उसके यौगिक अर्थसे

बहुत दूर खींच गया है. अतएव 'उत्पत्ति-नाश' या 'जनन-नाश' पदोंके द्वारा अनित्यताका बोध होता है. अन्यथा "**जनिकर्तुः प्रकृतिः**" (पाणि.सू.१।४।३०)के महाभाष्यकी ये पंक्तियां नितान्त मननीय हैं "**कथं गोमयाद् वृश्चिको जायते गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते इति? अपक्रामन्ति ताः तेभ्यः. यदि अपक्रामन्ति न अत्यन्ताय अपक्रामन्ति सन्ततत्वात्. अथवा अन्याश्च प्रादुर्भवन्ति जनिःकर्तुः.**" इससे सिद्ध होता है कि उत्पत्ति उद्भव अपक्रान्ति समागति जनन आदि सभी प्रयोगोंमें प्राथमिक यौगिकार्थ "'**जनि प्रादुर्भावे**", "'**णश्** अदर्शने" (पाणि.धा.पा.११७४,१२१९) यौगिकार्थ कारणमें से बाहर व्युच्चरित होना ही है. पश्चाद् रूढ़ार्थवशात् प्रागभावध्वंस अथवा प्रागभावीयाप्रतियोगिता आदि अर्थ चल पड़े हैं. अस्तु.

अतः तत्त्वदृष्टया या धर्मिदृष्टया प्रमेय तो केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, जो देश-काल-स्वरूपतः परिछिन्न इसिलिये नहीं हो पाता क्योंकि देश-कालादि वस्तु स्वयं उस अपरिछिन्न ब्रह्मके तथा ब्रह्ममें स्वेच्छया प्रकट विभिन्न रूप हैं. जहां-तक जागतिक नाम-रूप-कर्मोंका प्रश्न है तो उनमें धर्मदृष्टया देश-काल-स्वरूप-कृत परिच्छेद प्रतीत होता है वह ऐच्छिक "**सत्त्वेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति**" (छान्दो.उप.६।२।२-३) परिच्छेद है जो स्वयंमें स्वयंद्वारा स्वयंकृत स्वलीलार्थ प्रकट परिच्छेद है. इस तादात्म्यवादी दृष्टिके प्रति ग्रहणशीलताके अभाववश ही यह सहज सम्भव है कि श्रीवेदान्तदेशिक प्रभृति प्राचीन विद्वान् तथा श्रीमुरलीधर पाण्डेयसदृश आधुनिक विद्वान् भी ब्रह्मदत्तको 'औपनिषदाभास' या 'चार्वाकसदृश' अथवा 'असत्कार्यवादी' कहते हैं तो आश्चर्यकी बात नहीं है.

ब्रह्मदत्तद्वारा भी जड़-जीवको अनित्य तथा ब्रह्मको नित्य

स्वीकारनेकी उपपत्ति सद्वादपर अवलम्बित हो कर दी जा सकती है. सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उल्लेख जगत्को स्वरूपपरिणामतया स्वीकारना है. इस एक कसोटीपर असत्कार्यवाद, जीवनाशवाद, मायावाद या केवलाद्वैतवाद आदि सभी वादोंसे ब्रह्मदत्त परे हो जाते हैं.

जहां-तक ईश्वरकोटीका प्रश्न है इस विषयमें भी ब्रह्मदत्तके कुछ मतकी झांकी श्रीवेदान्तदेशिकके **''इदं केचिद् ईश्वरस्वरूपेऽपि भोक्तृभोग्यन्यायेन समष्टिव्यष्टिभेदं वर्णयन्ति वदन्ति च मनोमय-प्राणमय-वाङ्मयाख्यं रूपं व्यूहत्रयम्''** (सर्वा.सि.३।७३). इस अंशपर व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धिकी आनन्ददायिनी टीकामें कहा गया है कि ब्रह्मदत्तके अनुसार सर्वशक्ति स्वयंप्रकाश सन्मात्र ब्रह्मको सर्व तत्त्वोंकी समष्टिके रूपमें देखनेपर ईश्वर जीव तथा प्रकृति रूप तीन भाग उसमें नित्य दिखलायी पड़ेंगे. इन तीनों भागोंमें अनुवृत्त जो सन्मात्र रूप है वह इन विभिन्न रूपोंसे विलक्षण दिखलायी पड़ता है. जैसे फेन तरंग और बुद्बुद्के अपेक्षया निस्तरंग शान्त समुद्र विलक्षण लगता है. इन उक्त तीनों रूपोंमें ईश्वरका स्वरूप ज्ञान आनन्द ऐश्वर्य आविर्भावहेतु ब्रह्मशक्तिसे सम्पन्न लगता है ब्रह्मांश होनेके कारण. इस ईश्वरमें पुनः मनोमय वाङ्मय तथा प्राणमय यों तीन विभाग होते हैं. वह ईश्वर इन उपभेदोंसे आदित्य, अग्नि और चन्द्र के रूपोंमें मन वाणी और प्राणों का अधिष्ठाता बनता है.

एकके अलावा अन्य कुछ गुणी-धर्मी या गुण-धर्मका **न होना** केवलाद्वैतवाद है, जबकि एकमेवाद्वितीय गुणी-धर्मीका अनेकविध अप्रकट या प्रकट **अपने गुण-धर्म-रूपोंसे भिन्न न होना** भी अर्थात् इनसे तादात्म्य होना भी अद्वैतका एक विधिरूप प्रकार है. यह अद्वैत द्वित्वात्यन्ताभाव रूप नहीं और न इस विधिरूप अद्वैतमें

अवभासित द्वित्व एकत्वात्यन्ताभावरूप तथा अद्वैतको केवल द्वैतात्यन्ताभावरूप स्वीकारनेकी मनोवृत्ति न केवल अनेक श्रुतिवचनों तथा स्मृति-पुराण-सूत्रवचनोंके साथ ही अपितु अनेक प्राचीन वेदान्तविदोंकी वचनावलीके साथ भी अन्यायका हेतु बनी है. यही ब्रह्मनन्दी भर्तृप्रपञ्च तथा ब्रह्मदत्तके उदाहरणोंमें भी घटित हुआ है.

(उपसंहार)

सर्वं दुःखं द्वैतजन्यं भीतिर्याऽद्वैतवादिनाम्॥
द्वैतं विना जगच्छुष्कं भक्तिर्या द्वैतवादिनाम्॥१॥
ब्रह्म त्वेकमनेकं वोभयथा भवितुं क्षमः॥
निर्भीकं रमणं लोके केवलब्रह्मवादिनाम्॥२॥
नो द्वैते नापिचाद्वैते भरोऽतः शब्दब्रह्मणः॥
कस्तद् मदामदं ब्रह्म वेद वेदादृते स्वतः॥३॥
ब्रह्मतादात्म्यविच्चात्र बाह्याभ्यन्तरभेदतः॥
नित्यं वै रमते तस्मिन् ब्रह्मण्येव विपश्चिति॥४॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ अद्वैतमहोत्सव * ॥

मंगलाचरणम्

यतः सर्वं जातं वियदनिलमुख्यं जगदिदम् ॥
स्थितौ निःशेषं योऽवति निजसुखांशेन मधुहा ॥
लये सर्वं स्वस्मिन् हरति कलया यस्तु सः विभुः ॥
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णाक्षिविषयः ॥२॥
विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखाम् ॥
विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिरियं याति जनता ॥
विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति सः विभुः ॥
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णाक्षिविषयः ॥६॥

(श्रीशंकराचार्यकृत श्रीकृष्णाष्टकम्)

वेदश्रुत्यम्बिकादत्तो नृवाच्यद्वैतप्रत्ययः ॥
व्याख्यातो नैकधाप्यत्र मद्व्याचिख्यासितः पुनः ॥१॥
देश-काल-स्वरूपेणानवच्छिन्नैकता तु या ॥
प्रत्यक्षागोचरा तस्मात् श्रुत्येकाधिगता मता ॥२॥

वल्लभ-वेदान्तके ग्रन्थोंमें 'उत्सव'पदके बारेमें कहा जाता है कि "'उत्= आनन्दस्य' + 'सवः' = 'उत्सवः' "आनन्दका जहां प्रसव होता हो उसे उत्सव समझना चाहिये. जहां द्वैत पूर्वसिद्ध होता है वहां अद्वैतकी अनुभूति आनन्दका प्रसव करती है. अद्वैतानुभूतिमें एक विलक्षण आनन्दका अनुभव होता है. साथ ही साथ जहां अद्वैत पूर्वसिद्ध हो वहां द्वैतकी अनुभूति भी आनन्दका प्रसव

* ई.स.२०१९ वर्षमें सागर विश्वविद्यालयमें आयोजित विचारगोष्ठिमें प्रस्तुत.

करती है. ऐसा श्रुतिमें भी कहा गया है. अद्वैतके पूर्वसिद्ध होनेपर द्वैतानुभूति उत्सव हो जाती है. श्रुतिमें हमें इसका बहोत सुन्दर निरूपण मिलता है, **''आत्मैव इदम् अग्रे आसीत् पुरुषविधः, सो अनुवीक्ष्य, न अन्यद् आत्मनो अपश्यत्, 'सो अहम् अस्मि' इति अग्रे व्याहरत्, ततो 'अहं'नामा अभवत्, सो अबिभेत्, तस्माद् एकाकी बिभेति, सः ह अयम् ईक्षाञ्चक्रे यद् मदन्यद् न अस्ति, कस्माद् नु बिभेमि इति, ततएव अस्य भयं वीयाय, कस्माद् हि अभेष्यत्? द्वितीयाद् वै भयं भवति''** (बृह.उप.१।४।१-३).

वह अपनी एकाकिता, एकमेवाद्वितीयतामें अवस्थित था. जब एकमेवाद्वितीय होनेका आत्मानुभव किया तब सर्वप्रथम उसने व्याहरण किया. **''सो अहम् अस्मि''** इसलिये वह **'अहंनामा'** हुआ. जैसे ही **'अहंनामा'** हुआ, उसे भय लगने लगा. भय लगनेके बाद जब उसने यह विचार किया **''कस्मान् नु बिभेमि? इति, ततएव अस्य भयं वीयाय, कस्माद् हि अभेष्यत्? द्वितीयाद् वै भयं भवति''** दूसरा कोई हो तो भयकी बात होती है मेरे अलावा कुछ है ही नहीं तो भयकी बात कहां? लो, उसका भय निवृत्त हो गया! फिरभी **''सः वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते''** उसने एकाकितया रमण करना नहीं चाहा. इसलिये आज भी कोई एकाकी रमण नहीं करता है. लिहाजा **''स ह एतावान् आस''** जो कुछ यहां बना है 'वही' बना है. **''सः इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत्. ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्''**.

अद्वैतको प्रायः 'द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित' कहा जाता है. पर अद्वैतका सिर्फ यही एक अर्थ नहीं होता. क्योंकि जैसे द्वैतमें बहोत सारे द्वैत आ सकते हैं ''द्विधा इतं ज्ञातं यद्यद् इति द्वैतम्''. द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय अभाव के सात

पदार्थोंके प्रभेदके अॅन्गल्से सोचें तो भी ऐसे कई प्रकारके भेद हो जाते हैं. ऐसे इस द्वैतके निषेध किये जानेपर भी 'नञ्'के छह अर्थ होते हैं : **''तत्सादृश्यम् अभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः''** (दृष्ट.वैयाकरणभूषणसार : नञर्थ ४१) अभाव ही एक अर्थ नहीं. भिन्न होना या विरोधी होना भी 'नञ्'के अर्थोंमें परिगणित होता है, जैसे, 'असुर'का अर्थ सुरविरोधी होना या 'अमित्र'का अर्थ मित्रसे भिन्न होना माना गया है. मित्राभाव अर्थ शक्य नहीं. क्योंकि न मित्र, न शत्रु ऐसा जो हो उसे 'अमित्र' कहा जाता है. अद्वैतमें भी अनेक अर्थ हो सकते हैं. मगर किसी भी स्थितिमें जब हमको अद्वैतका अनुभव होता है तब सारे भय निवृत्त हो जाते हैं. द्वैतवश प्रकट होते भयके कारण अद्वैतीकी अनुभूतिके उत्सवकी आवश्यकता है. यदि सभय द्वैत और अरम्य अद्वैत का, अद्वैत मान लें तो द्वैतमें भी भय नहीं रहेगा जो श्रुति बता रही है. मूलरूपमें अद्वैत था, उसने सृष्टिरूप (द्वैतरूप) महोत्सव प्रकट किया. उस उत्सवको हम 'लीला' कहते हैं. **''लोकवत्तु लीला कैवल्यम्''** (ब्र.सू.२।१।३३) भगवान् बादरायण भी कहते हैं. अतः जो द्वैत और अद्वैत के बीच द्वैत प्रतीत होता है उसमें भी अद्वैत खोजना चाहिये.

एक बात सच है कि भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने विविध द्वैतोंमें किस तरहसे अद्वैत खोजा, यह भारतके इतिहासमें एक अभूतपूर्व घटना है. हम देखें तो पता चलता है कि जो शास्त्र बिखरे हुए थे, उनपर भाष्य लिखकर 'प्रस्थान' नामना अद्वैत स्थापित किया. तीर्थ नदियाँ पर्वतों के रूपमें उनकी कितनी सुन्दर मधुर स्तुतियाँ लिखी हैं. यदि एक बार इन स्तुतिओंको कोई पढ़ ले तो दूसरी स्तुति अच्छी लगनी बन्द हो जाती है. देवताओकें

इतने सारे द्वैतमें, प्राय: जो अभारतीय या अब्राह्मिक दृष्टि है वह झगड़ा खोजती है कि शिवपुराण, शिवके माहात्म्यको बढ़ाता है तो विष्णुपुराण विष्णुके माहात्म्यको बढ़ाता है, शक्तिपुराण शक्तिके माहात्म्यको बढ़ाता है. किन्तु इन सबके बीचमें ब्रह्माद्वैत है. ब्रह्माद्वैतकी यह विशेषता है, जैसाकि शास्त्रमें कहा गया है **''सर्वे वेदा: यत्रैकं भवन्ति, सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति, स: मानसीन: आत्मा जनानाम्''** (तैत्ति.आर.३।११।१) ऐसे **''सर्वे देवा: यत्रैकं भवन्ति''** सारे देव ब्रह्मात्मना एक है और देवात्मना अनेक हैं, यह द्वैत है.

भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यजीकी कितनी बड़ी सूझ-बूझ थी कि भाषा भूषा आदि अनेकधा विभक्त भारतवर्षमें चतुर्दिक् चार या पांच पीठोंकी स्थापनाके द्वारा देशको एकसूत्रित किया, उसे भारतकी चारों दिशाओंमें चार मठ स्थापित करके वहां सभी अधिष्ठाताओंको श्रीशंकराचार्य नाम दे कर भारतका संज्ञानात्मक अद्वैत स्थापित किया. देश राजनीति प्रान्त भाषा जाति में बटा हुआ था पर इन सबमें अद्वैत स्थापनाकी एक सुदूर दृष्टि उनकी थी. यह द्वैतमें अद्वैतका महोत्सव था.

एक तथ्य यह है कि श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं कि जीव और ब्रह्म का अद्वैत है. वह भी वर्ण-जाति स्त्री-पुरुष या प्राणी-मनुष्य में बटे हुवे द्वैतोंमें एक अद्वैतदृष्टि ही है, जीवमात्रका ब्रह्मके साथ अद्वैत है. इस अद्वैतभावको जब हम समझते हैं तो बहुत सारे सम्प्रदाय जो इन प्रभेदोंके आधारपर चल रहे हैं, उनमें भी अद्वैतका महोत्सव प्राप्त होता है. और उसीका इदं-प्रथमतया यहां (सागर विश्वविद्यालय)से भी सूत्रपात आज होने जा रहा है.

श्रीशंकराचार्य षण्णमतप्रतिष्ठापनाचार्य होनेके नाते जो जो एक-एक देवताके भक्तोंका सम्प्रदायमें कलह था उनमें श्रौत ब्रह्माद्वैतपर भार दिया. वैसे कलह देवताओंमें नहीं था. यद्यपि उदाहरण उचित नहीं है पर कहना चाहूंगा कि रोमियो-जूलियेट्के परिवारमें इतना कलह था कि उनके नौकर भी आपसमें तलवार ले कर लड़ते रहते थे. मगर रोमियो-जूलियेट् एक-दूसरेको प्यार करने लगे थे, ठीक उसी तरहसे शैव वैष्णव शाक्त सम्प्रदायके अनुयायी भले एक-दूसरेसे आपसमें लड़ते हों मगर देवता एक-दूसरेको प्यार करते हैं. इनमें आपसमें झगड़ा नहीं, रोमियो-जूलियेट्के जैसा प्यार है.

इसलिये कहीं कहा गया है "**रामेश्वरः प्रतिष्ठायां विग्रहार्थः विचिन्तने रामः तत्पुरुषं प्राह बहुव्रीहिं महेश्वरः**" जब रामेश्वरकी प्रतिष्ठा की गई, तब रामेश्वर-विग्रहका प्रयोजन क्या है अथवा 'रामेश्वर'पदका समासविग्रह क्या है चिन्ता हुई. और तब भगवान् रामसे पूछा गया तो उन्होंने कहा "**रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः**" जब भगवान् शंकरसे पूछा गया तो उन्होंने कहा "**रामः ईश्वरो यस्य सः रामेश्वरः**" आपसमें दोनोंमें पर्याप्त स्नेह है. सम्प्रदायोंमें झगड़ा रहता है पर उससे कुछ फरक नहीं पड़ता. इसीलिये पुराणोंमें कई जगह ऐसे भी मिलता है कि शिवका आनन्द लेनेके लिये विष्णु पार्वतीरूप हुए और विष्णुका आनन्द लेनेके लिये शिव बंसीरूप हुए. इस बातको उपनिषद्ने भी कहा है "**वंशस्तु भगवान् रुद्रः**" (कृष्णोप.८) भगवान् बंसी बजाते हैं वह रुद्रका अवतार है. रामावतारका आनन्द लेनेके लिये भगवान् शंकर हनुमान हो गये. ऐसे कृष्णलीलाका आनन्द लेनेके लिये भगवान् शंकर श्रीशुकदेवजी हुए. यह एक-दूसरेके साथ अद्वैतमें द्वैतका आनन्द लेते हैं. हम द्वैतका झगड़ा करते हैं. द्वैतमें अद्वैतका उत्सव होता है. अद्वैतमें

द्वैतका उत्सव होता है. इसीलिये "**रामः तत्पुरुषं प्राह बहुव्रीहिं महेश्वरः कर्मधारयम् इत्येके लीलार्थं द्वंद्वम् अद्वये**" ये जो "लीलार्थं द्वन्द्वम् अद्वये" है इसके तहेत एक बात खास समझनी चहिये के लीलार्थ द्वैत जो प्रकट होता है उसमें "**ततो द्वित्वविवक्षायां द्वैतं च अद्वैतं च ततो अन्यथा**" यदि आपको दो बोलना हो तो दो बोलो, एक बोलना होय तो एक बोलो. पाणिनिने यह बात कही है. "**द्व्येकयोः द्विवचनैकवचने**" (पाणि.सू.१।४।२२) "एकत्वविवक्षायाम् एकवचनं, द्वित्वविवक्षायां द्विवचनं, बहुत्वविवक्षायां बहुवचनम्" इस अर्थमें "**एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति**" (ऋक्संहि.१।१६४।४६) समझना चाहिये. "**वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः**" ( ) जिसे एक बोलना है वह एक बोले. दो बोलना हो वह दो बोले. "**यद्-यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय**" (भाग.पुरा.३।९।११) "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजामि अहं, मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः**" (भग.गीता.४।११) ये द्वैत और अद्वैत का झगड़ा बुरी चीज़ है. द्वैत-अद्वैत भी आपसमें एक-दूसरेसे स्नेहबद्ध हैं.

वैसे तत्त्वदृष्टिसे यदि देखा जाय, अपन् अद्वैतका 'A' और द्वैतका 'D' कर दें. तो AD=DA होता है कि नहीं? तत्त्वदृष्टिसे होता है. पर क्रमदृष्टिसे देखें तो AD is not equal to DA हो पायेगा. अतः अपनी विशेषविवक्षाके अनुरूप 'द्वैत' कहना हो तो 'द्वैत' कहो और तत्त्वविवक्षासे 'अद्वैत' भी कहा जा सकता है. उपनिषद्ने इस बातका सुन्दर समाधान किया है. "**ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति... सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति... सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा. आत्मा उ एकः सन् एतत्त्रयम्**" (बृह.उप.१।६।३) जैसी विवक्षा हो ऐसे बोला जा सकता है. अद्वैत अवाच्य है और द्वैत वाच्य है, ये बात

सच है. पर रामानुज सम्प्रदायके श्रीवेदान्तदेशिक एक बात कहते हैं "**अवाच्यं वाच्यम् इति वा वस्तुनि प्रतिपद्यते वाच्यमेव भवेद् वस्तु वाच्यावाच्यवचोन्वयात्**" (न्याय.सि.३।४६) हम वल्लभवेदान्ती इस बातका खुलासा करना चाहते हैं कि बात तो सच है कि "वाच्यमेव भवेद् वस्तु वाच्यावाच्यवचोन्वयात्" किन्तु सृष्टिसे पूर्व वह वाच्य नहीं था. क्योंकि वाच्य-वाचक द्वैत नहीं था. "**एकमेवाद्वितीयम्**" ब्रह्म था. और सृष्टिके बाद "**तद् ऐक्षद् बहु स्यां प्रजायेय**" (छान्दो.उप.६।२।३) इसलिये वह वाच्य-वाचकभावापन्न हुआ. जब वो वाच्य-वाचकभावापन्न हुआ है तो आपकी विवक्षाके ऊपर निर्भर है कि 'द्वैत' कहो कि 'अद्वैत'. यदि आपको अद्वैतसे अरति हो रही हो तो द्वैत मानने-बोलनेका उत्सव मनाओ. यदि द्वैतसे भीति हो रही हो तो अद्वैत मानने-बोलनेका महोत्सव मनाओ. दोनों तरह महोत्सव है. क्योंकि ब्रह्म तो "**आनन्दाद्धचेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् 'ब्रह्म'**" (तैत्ति.उप.३।६) है. ब्रह्म तो "**आनन्दमयोभ्यासात्**" (ब्र.सू.१।१।११) है. उपनिषद्की ये बातें हम सोचें तो समझमें आ सकता है कि द्वैताद्वैतमहोत्सव भी हो सकता है. अद्वैतमहोत्सव भी हो सकता है. द्वैतमहोत्सव भी हो सकता है. यथारोग चिकित्सा होनी चाहिये. इस महोत्सवको भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यजीने जैसे मनाया वैसे मनाना चाहिये.

इस उपक्रमके बाद, मूलविषयके बारेमें देखें. श्रीशंकराचार्यके पूर्व दीघनिकायके ब्रह्मजालसुत्तके अन्तर्गत एक प्रसंग आता है. वहां बुद्ध भगवान्ने कई दृष्टि बताई हैं. "**सन्ति, भिक्खवे, एके समणब्राह्मणा सस्सतवादा सस्सतं अत्तानं च लोकं पञ्ञपेन्ति... सो एवमाह 'सस्सतो अत्ता च लोको च वञ्झो कुट्ठो एसिकट्ठायिट्ठितो ते च सत्ता सन्धावन्ति संसरन्ति चवन्ति उपज्जन्ति**" (दीघनि.१।१।३।२९).

भगवान् बुद्ध कह रहे हैं कि कुछ शाश्वतवादी होते हैं. श्रमण भी होते हैं और ब्राह्मण भी होते हैं. बुद्धकालमें संन्यासीओंको 'श्रमण' कहा जाता था. लोक और आत्मा दोनोंको शाश्वत् मानते हैं. भगवान् इस शाश्वतवादको 'मिथ्यादृष्टि' कह रहे हैं. इससे हमको लगता है कि यहां शाश्वतवादके साथ उनको झगड़ा है किन्तु इसी दीघनिकायके पाथिकसुत्तके अन्तर्गत 'इस्सरकुत्तं ब्रह्मकुत्तं'में और एक बात उपलब्ध होती है :

> **''अगञ्ञञ्चाहं भग्गव प्रजानामि... ततो च उत्तरितरं पजानामि... सन्ति, भग्गव!, एके समणबाह्मणा इस्सरकुत्तं ब्रह्मकुत्तं आचरियकं अग्गञ्ञं पञ्ञपेन्ति... ते मया पुट्ठा न सम्पायन्ति. असम्पायन्ता ममञ्ञेव पटिपुच्छन्ति. तेसाहं पुट्ठो व्याकरोमि : होति खो सो, आवुसो!, समयो यं कदाचि करहचि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन अयं लोको संवट्टति. संवट्टमाने लोके ये भुय्येन सत्ता आभस्सरसंवत्तनिका होन्ति... होति खो सो, आवुसो!, समयो यं कदाचि करहचि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन अयं लोको विवट्टति. विवट्टमाने लोके सुञ्ञं ब्रह्मविमानं पातुभवति... तत्र, आवुसो!, यो सो सत्तो पठमं उपन्नो तस्स एवं होति, 'अहमस्मि ब्रह्मा महाब्रह्मा अभिभू अनभिभूतो अञ्ञदत्थुदसो वसवत्ती इस्सरो कत्ता निम्माता सेट्ठो सज्जिता वसी पिता भूतभव्यानां मया इमे सत्ता निम्मिता तं किस्स हेतु? ममं हि पुब्बे एतद् अहोसि, अहो बत अञ्ञेपि सत्ता इत्थत्तं आगच्छेयुं' इति मम च मनोपणिधि इमे च सत्ता इत्थनं आगता ति''.**
>
> (दीघनि.३।१।८।३६-३९).

इसका सार यह है कि लोग आगत क्या है या गत

क्या है, इसे भलीभांति नहीं जानते. समण भी नहीं जानते और ब्राह्मण भी नहीं जानते. भगवान् कहते हैं कि "मैं जब उनको पूछता हूं तो वे मेरेसे पूछते हैं, "आप ही बता दो न!" तब मैं उनको बताता हूं "**समयो यं कदाचि करहचि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन अयं लोको संवट्टति. संवट्टमाने लोके ये भुय्येन सत्ता आभस्सरसंवत्तनिका होन्ति... होति खो सो, आवुसो!, समयो यं कदाचि करहचि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन अयं लोको विवट्टति...**" बहोत समय बाद संसार खत्म होता है. खत्म होनेके बाद भी कुछ ऐसे होते हैं, कुछ ऐसे भी जीव होते हैं कि जगत्के संवरणमें संवृत्त नहीं होते और वे बचे रहते हैं. बादमें फिरसे जगत् प्रकट होता है. तब एक शून्य ब्रह्मविमान प्रादुर्भूत होता है. ब्रह्माको ऐसे होता है कि मैं पहेले आया और ये बादमें आये इसलिये मैं इसका कर्ता हूं, ईश्वर हूं. मगर यह बात सत्य नहीं है क्योंकि ये सब साथ ही पैदा हुए हैं. उनके यहां प्रतीत्यसमुत्पादवाद है उस न्यायसे. ये समुचा पेसेज् छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् के समानान्तर है.

इस बारेमें अधिक विवेचना या विस्तार में फंसे बिना कुछ समानान्तर श्रुतिवचनोंको उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा.

तथाहि :

[१]"**सर्वाणि भूतानि पृथिवी अप्सु प्रलीयते... अक्षरं तमसि विलीयते... तमः परे देवे एकीभवति. परस्ताद् न सद् न असद् न सदसद्**".

[२]"**को अद्धा क इह प्रवोचत् कुतः आजाता कुतः इयं विसृष्टिः यो अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद**".

[३]''सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम् अकल्पयद् दिवं च पृथिवीं चैव अन्तरिक्षम् अथो सुवः''.

[४]''अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी-''.[५]''न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यद् आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं तस्माद् अन्यद् न परः किञ्चन अग्रे आसीत्''.

[६]''नैवेह किञ्चन अग्रे आसीद् मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीद् अशनाया हि मुत्युः तद् मनो अकुरुत 'आत्मन्वी स्याम्' इति''.

[७]''स वै नैव रेमे... स द्वितीयम् ऐच्छत् सह एतावान् आस''.

[८]''तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः... पृथिव्याम् ओषधयः ओषधिभ्यो अन्नम् अन्नात् पुरुषः...''.

[९]''आपो वा इदम् आसन् सलिलमेव. स प्रजापतिः एकः पुष्करपर्णे समभवत्. तस्य अन्तर्मनसि कामः समवर्तत 'इदं सृजेयम्' इति... स तपो अतप्यत... अन्तरतः कूर्मं भूतं सर्पन्तं तम् अब्रवीद् मम वै त्वङ्मांसा समभूत. 'न'इति अब्रवीत् 'पूर्वमेव अहम् इह आसम्' इति. तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्. स सहस्रशीर्षा पुरुषः''.

([१]सुबा.उप.२, [२].ऋक्संहि.३।३।२४, [३]ऋक्संहि. १०।१९०।१, [४]छान्दो.उप.६।३।२, [५]ऋक्संहि.१०।१२९।१, [६]बृह.उप.१।२।१, [७]बृह.उप.१।४।३ [८]तैत्ति.उप.२।१, [९]तैत्ति. ब्राह्म.१।२३।१-३).

भगवान् बुद्धकी वार्तामें एक जगह पर आता है कि ब्राह्मण शास्त्रार्थ करने गया और भगवान् बुद्धसे उसने पूछा कि ''आप

क्यों ईश्वरकर्तृक जगत्को नहीं मानते हैं?'' भगवान् बुद्धने कहा कि ''चलो मैं तुमको प्रजापिता ब्रह्माजीके पास पहुंचा देता हूं.'' जब वह प्रजापिताके पास पहुंचा तब प्रजापिताने उसको पूछा कि ''क्यों आये?'' उसने कहा ''बुद्ध भगवान्ने भेजा है आपके पास तथ्य जाननेके लिये.'' तब ब्रह्माजीने कहा ''जब बुद्ध भगवान्ने भेजा है तो मैं मिथ्याभाषण नहीं कर सकता. जिस रोज़ जगत् पैदा हुआ, उसी दिन मैं भी पैदा हुआ था.'' प्राचीनकालमें जो विवाद हुआ था उसका संवाद स्थापित करनेके लिये यह बात बता रहा हूं. इस बातको राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध होते हुए भी स्वीकारते नहीं है. क्योंकि ब्रह्माजी जैसा कोई आधिदैविक पुरुष तो है ही नहीं. परन्तु अपना शास्त्र और बौद्धशास्त्र तो कह रहा है कि ब्रह्माजी तो है. भागवतमें कहा है कि भगवान्की कृपासे ब्रह्माजीको सब लोग जगद्गुरु मानते हैं. जगत्सृष्टा और जगत्सृष्टि दोनों प्रकट हुए हैं.

इसमें सृष्टा और सृष्टि का द्वैत है वहां हमको भय लगता हो तो अद्वैतदृष्टि आवश्यक है. यदि अरति होती हो तो द्वैतदृष्टि आवश्यक है. अरति हमको हो नहीं सकती क्योंकि हमको अद्वैतका अनुभव नहीं है. अद्वैत क्या तत्त्व है वो बोलनेसे भी बोला नहीं जा सकता. क्योंकि ''**नच एकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्याद् नवा केवलत्वं नच अकेवलत्वं न शून्यं नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धिं ब्रवीमि**'' (दशश्लोकी १०) ब्रह्म तो अवाच्य है. द्वैत तो वाच्य है क्योंकि उसमें उद्देश्य-विधेयभाव आता है. उद्देश्य-विधेयभावके कारण श्रीगौड़पादाचार्यने भी स्वभाववादके अन्तर्गत बताया है कि जहां बोला जा सकता है वह द्वैत है, जहां बोला नहीं जा सकता वह अद्वैत है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भी यही कहते हैं ''**ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद्,**

वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः'' (पत्राव.३) ब्रह्मवादमें उद्देश्य-विधेयभाव घटित नहीं होगा. क्योंकि ''**अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्**'' (त.दी.नि.२।१८२) ये सब कुछ कृष्णका अखण्डाद्वैत है. ''**'कृषिर्' भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः तयोः ऐक्यं परं ब्रह्म 'कृष्ण'इति अभिधीयते.**'' (गो.पू.ता.उप.१।१) वहां उद्देश्य-विधेयभाव नहीं आयेगा. जहांसे उद्देश्य-विधेयभाव आता है वहांसे वाच्य-वाचकता आती है. जहांसे वाच्य-वाचकता आती है वहांसे द्वैत आता है. अद्वैतका अनुभव हमको नहीं हो सकता है. शारीरकभाष्यकार कहते हैं कि ''तीन बार जिज्ञासुने पूछा कि भगवान्! हमको ब्रह्मका उपदेश दो. और बाष्कलि ऋषी बोले नहीं. ''**अवचनेनैव प्रोवाच**'' (द्र.स्क.पुरा.सूतसंहि.मुक्तिखं.२।६५) वचनसे बोला नहीं जा सकता है. जो नहीं बोला जा सकता है वह अद्वैत है तो उसका अनुभव कहांसे होगा? इसीलिये अद्वैतमें अरतिका प्रश्न हमारे लिये नहीं है. अद्वैतमें अरतिका प्रश्न ईश्वरके लिये है, ब्रह्माके लिये है. और हमारे लिये समस्या द्वैतके भयकी है. क्योंकि हमने कई तरहके द्वैत खड़े किये हैं. उन द्वैतकी समस्याओंसे हम भयभीत होते हैं. इसीलिये अद्वैतमहोत्सव मनानेकी आवश्यकता है. अतः श्रीविद्ववद्वर्यनरहरि यति कहते हैं ''**अद्वैतं न सदेहे अस्ति विदेहे द्वैतम् अस्ति न, जीवनमुक्तस्य न अन्यस्य द्वैताद्वैतमहोत्सवः**'' (बोधसार.मनोमहिमा.५)

श्रीहरिः

दुर्गासप्तशती और शक्तिभाष्य
का
तुलनात्मक विमर्श वाल्लभवेदान्ती दृष्टिकोणसे

एकस्यैवाद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
'सोऽकामयद्'इति श्रुत्या द्वेधात्मप्रविभक्तता ॥१॥
कामात्मातु पुमान् जातः रत्यात्मा स्त्रीरभूत्स्वयम् ॥
आत्मकामस्य काम्याऽऽत्मरतिस्तस्याभवत् पुनः ॥२॥
ब्रह्म तद्धचात्मकामो वै शक्तिमान् परमेश्वरः ॥
शक्तिस्त्वात्मरतिस्तद्दाम्पत्याद् अखिलं जगद् ॥३॥
नामरूपकर्मलीला सात्वेकस्याप्यनेकता ॥
स्वस्य द्वेधापादकं तद्ब्रह्मैक्यं धीमही परम् ॥४॥

(उपक्रम)

यद्यपि दर्शनोंकी अनेकविधताओंको लक्ष्यमें रखनेपर द्वैत या अद्वैत का विकल्प उतना प्रमुख लगता हो या न भी लगता हो. वेदान्त-दर्शनमें, परन्तु, द्वैत या अद्वैत का विकल्प अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है. क्योंकि वेदान्तदर्शनके विविध प्रस्थानोंकी पहचान ही द्वैत या अद्वैत सम्बन्धी आधारभूत अवधारणाके आधारपर भिन्न प्रस्थान होनेका अपरिहार्य निकष बन जाता है. तदनुसार शांकरवेदान्त केवलाद्वैतवाद, भास्करवेदान्त औपाधिकद्वैताद्वैतवाद, रामानुजवेदान्त विशिष्टाद्वैतवाद, माध्ववेदान्त द्वैतवाद, श्रीकरवेदान्त विशेषाद्वैतवाद, भिक्षुवेदान्त अविभागाद्वैतवाद और वाल्लभवेदान्त शुद्धाद्वैतवाद के रूपोंमें प्रसिद्ध हुवे हैं. इन वेदान्तप्रस्थानोंकी प्रसिद्धि द्वैत या अद्वैत के बारेमें उन्हें अभीष्ट विकल्पोंके आधारपर ही उपलब्ध होती है.

इन प्रसिद्ध प्रस्थानोंके अलावा एक अपेक्षाकृत अल्पप्रसिद्ध नूतन शाक्तवेदान्त भी है जो सरूपाद्वैतवादका पुरस्कर्ता है. यह चिन्तन औपाधिकद्वैताद्वैतवादके या शुद्धाद्वैतवादके प्रत्यासन्न है, यह प्रस्तुत आलेखका जिज्ञास्य विषय है.

इस सरूपाद्वैतवादके प्रतिष्ठापक थे : श्रीपञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्यजी. इन्होंने ब्रह्मसूत्रशक्तिभाष्य भगवद्गीताभाष्य दुर्गासप्तशती-भाष्य द्वैतोक्तिरत्नमाला तथा ईशावास्योपनिषद्-शक्तिभाष्य आदि अनेक ग्रन्थ प्रकट किये हैं. ये विद्वद्वरेण्य भट्टाचार्य विगत शताब्दीमें आजसे करीब अस्सी वर्षपूर्व भट्टपल्ली ग्राम २४ परगना भाटपाड़ा बंगालके निवासी थे. इनके ग्रन्थोंका प्रकाशन श्रीजीव न्यायतीर्थने किया था. और इनके पास मेरे पिता गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज प्राचीनन्यायका कोई ग्रन्थ या विषय पढ़ने गये थे. तब इन ग्रन्थोंमें से दो-तीन ग्रन्थ मेरे पिताको इन्होंने दिये थे परन्तु दुर्भाग्यवश अब मेरे पास ब्रह्मसूत्रशक्तिभाष्य केवल बच गया है. हालमें ही ईशावास्योपनिषद्शक्तिभाष्य और भगवद्गीताशक्तिभाष्य पुनः मिले पर अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो पाये. गीताभाष्य, परन्तु, प्रमुखतया साधनानिरूपणपरक है. श्रीजीव और श्रीपञ्चाननजी का आपसी नाता क्या था यह सुना तो था पर अब मुझे याद नहीं रहा.

इस भाष्यके मुखप्रबन्धमें ग्रन्थकार अपने मतका संक्षेप इन शब्दोंमें निरूपित करते हैं :

> **''शाक्तवादो हि सरूपाद्वैतवादः चिदचिदुभयस्य स्वपर्याप्तया एकया सत्तया रूपेण समानतया तदनन्यत्वात् सर्वस्य प्रपञ्चस्य. ब्रह्मसूत्रसिद्धान्तभूतस्य तत्सत्तावतः 'शक्त्या'ख्यब्रह्मणो निर्विशेषम् अपरोक्ष-**

ज्ञानं तत्कृपयैव जायते. तत्कृपा च तदुपासनाविशेषापेक्षिणी... तदेतस्य सरूपाद्वैतवादस्य बादरायणीयसप्तशतीव्याख्याता श्रुतिः मूलम् 'अव्याकृता हि परमा प्रकृतिः त्वम् आद्या'-'चितिरूपेण या कृत्स्नम् एतद्व्याप्यं स्थिता जगद्'-'एकैव अहं जगति अत्र द्वितीया का ममापरा' इत्यादिका सा सप्तशतीस्मृतिः''.

(शाक्त भाष्य मुखप्रबन्ध).

इस उद्धृत मतसंक्षेपके आधारपर इतना तो निःसन्देह स्फुट हो जाता है कि जड़-चेतन दोनों ही इस सरूपाद्वैतवादमें ब्रह्मात्मकतया मान्य हैं. एक अन्य स्थलपर भट्टाचार्यजी यह विधान भी करते हैं कि **''ननु कारणात् कार्यस्य कार्यात् च कारणस्य अभेदो हि तयोः अनन्यत्वं भवति, प्रकृतेतु कारणात् कार्यस्य अनन्यत्वं कार्यात् च कारणस्य अन्यत्वमिति भेदः प्रतिपादितपूर्वः, अन्यथा भेदाभेद-सिद्धान्त-भंगप्रसंगः''** (शाक्त भाष्य २।१।१४) एतावता सरूपाद्वैतवादमें क्या भेदाभेद अभीष्ट है अथवा शुद्धाद्वैत? इसे सुनिर्धारित करना हो तो प्रस्तुत सरूपाद्वैतवादमें भेदका क्या स्वरूप माना गया है साथ ही साथ अभेदका क्या स्वरूप माना गया है, इसकी सूक्ष्मेक्षिकया विवेचना किये बिना सम्भव नहीं. और यहां तक पहुंचनेपर शुद्धाद्वैतवादमें इन भेद और अभेद को कैसे व्याख्यायित किया जाता है उसकी भी तुलनात्मक आलोचना अवसरप्राप्त होती है.

यद्यपि द्वैत हो या अद्वैत दोनों ही प्रत्यय प्रत्यक्षानुभूतिगम्य भी होते हैं और आनुमानिक भी परन्तु अनुयोगी-प्रतियोगीके सन्दर्भके बिना न द्वैत और न अद्वैत प्रत्यय ही चरितार्थ हो पाता है. अतः **''तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि''** (बृह.उप.३।९।२६) वचनके अनुसार जिज्ञास्य ब्रह्म, जैसाकि भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य भी, **''शब्दमूलं**

च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं न इन्द्रियादिप्रमाणकं तद् यथाशब्दम् अभ्युपगन्तव्यम्... तस्मात् शब्दमूलएव अतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः'' (ब्र.सू.शां.भा. २।१।२७) स्वीकारते हैं, ब्रह्मके द्वैत या अद्वैत का विमर्श भी यथाशब्द श्रुतिवचनोंके आधारपर ही किया जाना चाहिये. अतः ब्रह्मके द्वैत और अद्वैत के प्रकारके बारेमें स्वयं उपनिषद्की धारणा क्या-कैसी है इसका आकलन करके ही आगे बढ़ना उचित होगा.

तदनुसार क्रमशः दिये जाते छान्दोग्योपनिषद् (६।२।१), बृहदारण्यकोपनिषद् (२।५।१५), श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।८) तथा छान्दोग्योपनिषद् (६।२।३) के वचन अनिवार्यतया अवलोकनीय बन जाते हैं :

१.केवलाद्वैतवाद

अद्वैतस्वरूप + द्वैतस्वरूप

(श्रुतिवचन)

एकमेवाद्वितीयम् + इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते

(व्याख्या)

सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदात्यन्ताभावोपलक्षित + मायिकद्वैत

२.औपाधिकद्वैताद्वैतवाद

अद्वैतस्वरूप + द्वैतस्वरूप

(श्रुतिवचन)

एकमेवाद्वितीयं + परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते

(व्याख्या)

कारणरूपका अद्वैत + शक्तिकार्यभूतोंका द्वैत

३.शुद्धाद्वैतवाद

अद्वैतस्वरूप + द्वैतस्वरूप

(श्रुतिवचन)

एकमेवाद्वितीयं + तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय

(व्याख्या)

ब्रह्मस्वरूपका स्वाभाविक अद्वैत + नामरूपकर्म-जीव-
नानात्वरूप ऐच्छिकद्वैत

इन श्रुतिवचनोंके लेखाजोखाके आधारपर यह स्पष्ट हो जाता है कि केवलाद्वैतवादमें द्वैत मायिक भ्रान्ति है तो औपाधिकद्वैताद्वैतवादमें वह द्वैत शक्त्युपाधिक होनेपर भी वास्तविक है. इसी तरह शुद्धाद्वैतवादमें वही द्वैत स्वाभाविक भी नहीं और औपाधिक भी नहीं केवल ब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प के वशात् प्रकट होनेवाला ऐच्छिक है. ब्रह्मकी ही तरह सृष्टिप्रलयके पारमार्थिक चक्रमें आविर्भूत-तिरोहित होनेवाला स्वीकारा गया है. केवलाद्वैतवादमें द्वैत मायिक होनेके कारण पारमार्थिक ब्रह्मसे अत्यन्त विसदृश माना गया है. जबकि औपाधिकद्वैताद्वैतवादमें शक्ति और शक्तिमान् ब्रह्म के बीच स्वाभाविक भेदाभेद स्वीकारा गया होनेके कारण ब्राह्मिक अद्वैतके सन्दर्भमें शक्तिकार्यभूत प्रापञ्चिक द्वैत भी स्वाभाविक ही मानना पड़ेगा. क्योंकि ब्रह्मकी स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रियारूपा परा शक्ति और शक्तिमान् के बीच स्वाभाविक पार्थक्य न स्वीकारनेपर शक्तिओंके अपृथक्सिद्ध होनेके कारण भी ब्राह्मिकी शक्तिओंको उपाधि मानना ही अनावश्यक सिद्ध हो जायेगा. इस विषयमें भट्टाचार्यजीकी यह कण्ठोक्त घोषणा भी अविस्मरणीय है **''यच्च द्वैतोक्तिरत्नमालाख्ये प्रकरणग्रन्थे ईशाद्युपनिषदां भावार्थो वर्णितो अस्माभिः तद् न्यायवैशेषिकनयस्य श्रुत्यविरुद्धताप्रदर्शनपरम्''** (ईश.उप.शा.भा.उप-क्रमे). एतावता न्यायवैशेषिकाभिमत भावाभावात्मिका जो पदार्थकी द्विविधता तदनुसार द्वैतको एकत्वात्यन्ताभावरूप मानना अथवा एकत्वप्रतियोगिक-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाभावानुयोगितारूप मानना ?

शुद्धाद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्तके अनुसार न तो द्वैत/भेद एकत्वका अत्यन्ताभावरूप होता है और न अद्वैत/अभेद भी द्वित्व या भेद का अत्यन्ताभावरूप होता है. महाप्रभु वल्लभाचार्यके अनुसार **''भेदसहिष्णुः अभेदः तादात्म्यम्''** (भाग.सुबो.१।५।२०) यही स्वरूप उसका स्वीकारा गया है. यहां महाप्रभु वल्लभाचार्यकी **''अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्तीति तस्य भगवच्छक्तित्वाद्... शक्तिधर्माणामपि तदा उद्गतत्वाभावेन... किञ्च पश्चाद् अहं सर्वभवनसमर्थात् स्वरूपादेव चेष्टावत् प्रादुर्भावः... जडजीवात्मकं सर्वम् अहमेव इति अर्थो अयं मुख्यो ब्रह्मवादः''** (भाग.सुबो.२।९।३२). अर्थात् भेद एकत्वात्यन्ताभावरूप न हो कर अनेकत्वविरोधसहिष्णु एकत्व है. इसे अनेक व्यक्तिओंमें एक सामान्य धर्म होनेकी अभेदसहिष्णु भिन्नता नहीं मान लेनी चाहिये प्रत्युत एकके ही अनेकभावापन्न हो पानेकी सहज सामर्थ्यरूपा यह भेदसहिष्णुता है. ब्रह्मकी [१] मूलतत्त्वात्मिका 'एकमेवाद्वितीय' होनेकी स्वाभाविकी स्वरूपावस्था, [२] मध्यमें ऐच्छिकी नामरूपकर्मात्मिका अनेकात्मिका सृष्टिरूपा कारण-कार्यभावापन्ना अवस्था और [३] अन्तमें प्रलयोत्तरकालिकी पुनः तात्त्विकी 'एकमेवाद्वितीय'ता के निरूपणार्थ छान्दोग्य(६।२।२-३) बृहदारण्यक(१।-६।३) और मुण्डक(३।७) उपनिषदोंके ये क्रमशः वचन यों देखे जा सकते हैं : [१] **''सत्त्वेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्.''** [२] **''तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्.''** [३] **''परे अव्यये सर्वम् एकीभवति.''**

अतएव वाल्लभ वेदान्तके प्रमुख व्याख्याता गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी **''यथा अमित्रो न मित्रं न मित्राभावः किन्तु मित्रविरुद्धसम्पद् एवम् अभेदोऽपि न भेदो न भेदाभावः किन्तु भेदविरुद्धसम्पद्''** (भाव.प्रका. ३।२।-२८) यों अभेदघटक षड्विध नञर्थोमें अभावार्थक न मान कर भिन्नार्थक होनेकी पृथक्ता प्रतिपादित करते हैं. इस सन्दर्भमें भास्करभाष्यगत

''**भेदाभेदयोः हि सर्वप्रमाणसिद्धत्वाद्**'' (ब्र.सू.भास्क.भा.२।१।१३) वचन अनुसन्धेय बन जाता है. अर्थात् औपाधिकद्वैताद्वैतवादमें भेद और अभेद दोनोंको न केवल पारमार्थिक अपितु स्वाभाविक भी माना गया है. इसमें, परन्तु, यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि ऐसी स्थितिमें भेदको लोकप्रत्यक्षसिद्ध ''घटो न पटः'' के जैसा भेद मानना ? या तार्किक/आनुमानिक ''**त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताक**'' अभेदात्यन्ताभावरूप भेद मानना ? कौनसे प्रकारका भेद श्रीभास्कराचार्यको अभिप्रेत है ? स्पष्ट है कि यदि एककी अनेकताके रूपमें तादात्म्यघटित भेद लेते हैं तो शुद्धाद्वैतवादमें वह आपत्तिजनक नहीं रह जाता. अन्यथा एकमें अनेकत्वका आरोपरूप भेद माननेपर, उदा. ''राहोः शिरम्'' जैसा; अथवा तो, अनेक वृक्षोंमें समुदाय-एकत्वरूप अनारोपित अभेद माननेपर; अथवा तो, असंख्य ताराओंके पुञ्जरूप कृत्तिका नक्षत्रके पुञ्जमें दूरत्वोपाधिकृत एकतारारूप भ्रमारोपित अभेद या एकत्व स्वीकारनेपर शुद्धाद्वैतवादमें वह निश्चय ही आपत्तिजनक बन जाता है.

बस इस सूक्ष्म तारतम्यको दृष्टिगत रख कर सरूपाद्वैतवादके अन्तर्गत अभ्युपगत भेदका स्वरूप मीमांस्य बन जाता है. और क्योंकि यह सरूपाद्वैत दुर्गासप्तशतीमूलक है, सो उस मौलिक सन्दर्भको भी विस्मृत किये बिना ही विचारणीय है.

वैसे तो वाल्लभ दर्शनमें अनेकानेक सिद्धान्त एवं वाद ऐसे हैं, जिन्हें 'प्राणभूत धारणायें' कहा जा सकता है. उदाहरणतया श्रीकृष्ण-परब्रह्मत्ववाद कृपामात्र-लभ्यत्ववाद जीवाणुत्ववाद इत्यादि, इन वादोंकी महत्ता जरा भी न्यून करते ही वाल्लभ दर्शन निष्प्राण हो जायेगा. फिरभी यहां हम इनकी गणना नहीं करना चाहते हैं. क्योंकि इनकी महत्ता वाल्लभ दर्शनमें है, परन्तु शुद्धाद्वैतवादमें

नहीं. वेदान्तके अनेक प्रस्थानोंमें एक वैष्णव सम्प्रदाय होनेके कारण महाप्रभुके चिन्तनमें श्रीकृष्णको परब्रह्म मानना एक प्रमुखतम सिद्धान्त है. परन्तु वेदान्तमें शैव सम्प्रदायी यदि शिवको परमतत्त्व मानते हों तो वह कोई ऐसा अपराध नहीं है कि वे शिवाद्वैती नहीं हो सकते. काश्मीर शैवदर्शन, हमारे हिसाबसे, शुद्धाद्वैतवादी था और इसी तरह कर्नाटकका शैववेदान्त भी काफी अंशोंमें. अतः समग्र वाल्लभ दर्शन एवं शुद्धाद्वैतवाद को थोड़ा पृथक्तया निहारनेपर ही हमारी बात समझमें आ पायेगी. जैसे श्रीरामानुजाचार्य वैष्णव हैं और श्रीकण्ठ शैव, परन्तु हैं दोनों विशिष्टाद्वैती ही.

यह वाल्लभ मत और शुद्धाद्वैतवाद की पृथक्ता जगत् और ब्रह्म की पृथक्ताकी तरह ऐच्छिक द्वैतरूपा है, स्वाभाविक अद्वैत होनेपर भी! अस्तु!

शुद्धाद्वैतवादके अन्तर्गत महाप्रभु, हमारी समझके अनुसार, कुल नौ वादोंकी विवक्षा रखना चाहेंगे. इन वादोंके कारण जो कुछ सिद्ध होता है वही महाप्रभुको शुद्धाद्वैतकी स्थापनाद्वारा सिद्ध करना अभीष्ट है. तथा इन नौ वादोंमें से जो भी वेदान्ती जितने अधिक वादोंको स्वीकृति प्रदान करता है, वह उतना पक्का शुद्धाद्वैती है. जो जितने कम वादोंको स्वीकृति देता हो, उतने अंशमें उस वेदान्तीके शुद्धाद्वैती दृष्टिकोणमें कुछ न्यूनता स्वीकारनी पड़ेगी. क्योंकि ये महाप्रभुका स्वतन्त्र चिन्तन नहीं है. अतः इनके श्रौतसन्दर्भ तथा महाप्रभु के निष्कर्षरूप वचनोंके भी विन्यासपूर्वक विमर्ष आवश्यक है.

(१) ब्रह्मवाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म (तैत्ति.उप.२।१)

(ख) : यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्तीति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तैत्ति.उप.३।१).

(ग) : किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः? मनीषिणो! मनसा पृच्छतेदुः तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्? (ऋक्संहि.१०।८१।४). ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु! मनीषिणो! मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन! (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।७).

(घ) : सर्व खलु इदं ब्रह्म (छान्दो.उप.३।१४।१).

वाल्लभ निष्कर्ष : आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः, त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरति ईश्वरः, आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा, इति श्रुत्यर्थम् आदाय साध्यं सर्वैः यथामतिः, अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितः (त.दी.नि.२।१८३-१८४).

(२) विरुद्धधर्माश्रयतावाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : अणोरणीयान् महतो महीयान्...आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः (कठोप.१।२।२०-२१).

(ख) : यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम् (महाना.उप.१।५).

(ग) : बृहच्च तद् दिव्यम् अचिन्त्यरूपं सूक्ष्मात् च तत् सूक्ष्मतरं विभाति, दूरात् सुदूरे तद् इह अन्तिके च पश्यत्सु इहैव निहितं गुहायाम् (मुण्ड.उप.३।१।७).

(घ) : यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवद्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं

च, सत्यं च अनृतं च, सत्यम् अभवत् (तैत्ति.उप.२।६).

(ङ) : द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यंच अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यत् च (छान्दो.उप.२।३।१).

(च) : भीषा अस्माद् वातः पवते भीषा उदेति सूर्यः भीषा अस्माद् अग्निः च इन्द्रः च मृत्युः धावति पञ्चमः इति सा एषा आनन्दस्य मीमांसा भवति (तैत्ति.उप.२।८).

(छ) : नैनेन किञ्चन अनावृतं नैनेन किञ्चन असंवृतं...रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ताहि अस्य हरयः शता दश इति, अयं वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि च अनन्तानि च (बृह.उप.२।५।१८-१९).

(ज) : पूर्णम् अदः पूर्णम् इदं पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेव अवशिष्यते (बृह.उप.१।१।१).

वाल्लभ निष्कर्ष : ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेका प्रमुख तात्पर्य यही है कि ब्रह्म क्या-कैसा है इसके बारेमें हम किसी तरहकी उत्प्रेक्षा न करें. प्रत्युत श्रुतिमें जैसा स्वरूप ब्रह्मका वर्णित हुआ है उसे स्वीकार लें. यदि श्रुतिके एक ही वाक्यमें या दो विभिन्न वाक्योंमें, हमें लौकिक बुद्धिवश, परस्पर विरोधी धर्मोंका निरूपण होता प्रतीत हो रहा हो, तो हमें स्वीकार लेना चाहिये कि श्रुतिके अनुसार ब्रह्ममें वैसे परस्पर विरोधी गुण हैं. क्योंकि ब्रह्म शास्त्रेतर किसी प्रमाणसे गम्य तो है नहीं. अतः सम्भव है कि लौकिक प्रमाणोंके वश परस्पर विरोधी लगनेवाले गुण-धर्मोंके भी ब्रह्ममें आश्रित होनेपर पारस्परिक विरोधका उपशम हो जाता होगा. जैसे एक ही बीजसे उद्भव होनेपर भी वृक्षके पत्र एवं फल

में परस्पर विरोधी कटु और मधुर स्वाद रह सकते हैं. अतः श्रुतिके किसी वाक्यके अर्थको लोकवत् उत्प्रेक्षाके वश बाधितार्थविषयक नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि ब्रह्म शब्दैकगम्य है. अतः अलौकिकत्वेन मान्य किसी भी शब्द या वाक्य का अर्थ लौकिक प्रमाण अथवा तन्मूलक तर्कद्वारा बाधित हो नहीं सकता. शब्दको बाधितार्थविषयक माने बिना गौणी या लक्षणा वृत्तिका सहारा लेनेकी आवश्यकता भी पड़ नहीं सकती. अतः परस्पर विरोधाभासी श्रुतिवचनोंकी विरुद्धार्थकता जहां-तक तात्पर्यविषयीभूत विरुद्धधर्माश्रयताकी धारणासे उपपन्न हो पाती हो, तब-तक तात्पर्यको लौकिक प्रमाणाश्रित तर्कोंका अवलम्बन कर अनुपपन्न क्यों मानना चाहिये?

अतएव महाप्रभु कहते हैं : **नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः, ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्, अणुमात्र अन्यथा कल्पनेऽपि दोषः स्याद्, नच विरुद्धवाक्यानां श्रवणात् तन्निर्धारार्थं विचारः उभयोरपि प्रामाणिकत्वेन एकतरनिर्धारस्य अशक्यत्वात्. अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावात् च (ब्र.सू.अणुभा.१।१।१).**

(३) अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्याम् ओषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम्...तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपम् अन्नं च जायते (मुण्ड.उप.१।१।७-९).

(ख) : सत्त्वेव सोम्य! इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति (छान्दो.उप.६।२।२).

(ग) : यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेद् यथा अग्नेः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः

सर्वे लोकाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (बृह.उप.२।१।२०).

(घ) : तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत (तैत्ति.उप. २।७).

वाल्लभ निष्कर्ष : नामरूपकर्मात्मक इस जगत्की उत्पत्तिमें उपादानकारण निमित्तकारण तथा कर्ता सभी कुछ केवल बह्म ही है. एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अलावा अन्य कोई न तो जगत्का उपादानकारण न निमित्तकारण और न कर्ता ही हो सकता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं : **जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकं कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेपि क्वचित् सुखम्. यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः** (त.दी.नि.१।६८-६९).

(४) सत्कारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूलाः, सोम्य!, इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः (छान्दो.उप.६।८।४).

वाल्लभ निष्कर्ष : ब्रह्म यदि एकमेव और अद्वितीय सत् है और वही इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है, तो जगत्का आर्विभाव सत्कारणक ही हठात् मानना पड़ेगा. सत्कारणसे ही कार्य उत्पन्न होता है असत्कारणसे नहीं. असद्वस्तु कारणता-धर्मका निर्वाहक नहीं बन सकती. अतएव महाप्रभु कहते हैं : **नापि असतः सत्तारूपः** (त.दी.नि.प्र.१।२३).

(५) सत्कार्यवाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : सत्त्वेव सोम्य! इदम् अग्रे आसीद् एकमेव

अद्वितीयम् कथम् असतः सद् जायेत ? (छान्दो.उप.६।२।१-२).

वाल्लभ निष्कर्ष : श्रुतिमें इदंकारसे निर्दिष्ट इस प्रत्यक्ष जगत्के स्वयंके प्रादुर्भावसे पूर्व भी केवल सत् ही होनेके वर्णनसे; तथा असत् होता तो उस असत्तासे जगत्का सदात्मना प्रादुर्भाव कैसे शक्य बनता ? इस युक्तिसे भी सत्कार्यवाद अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्यरूप नामरूपकर्मात्मक जगत्की सत्ता उपादानकारणात्मना सिद्ध हो जाती है. अतएव महाप्रभु कहते हैं : **'असद्वा इदम् अग्रे आसीद्' इति श्रुत्या प्राग् उत्पत्तेः कार्यस्य असत्त्वं बोध्यते इति चेद् न अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशः. कुतः वाक्यशेषात्. 'तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत' इति स्वस्यैव क्रियमाणत्वात्. 'इदम् आसीत्' पदप्रयोगात् च (ब्र.सू.अणुभा.२।१।१७).**

(६) आविर्भावतिरोभाववाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : तद् ह इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते असौ नामायम् इदं रूपमिति (बृह.उप.१।४।७).

वाल्लभ निष्कर्ष : अपनी अव्याकृत अर्थात् उपादानकारणावस्थामें तथा नामरूपकर्मात्मना व्याकृत कार्यावस्थामें भी जब जगत् सत् ही हो, श्रुतिके अनुसार, तब तो प्रतीयमान उत्पत्ति-विनाश और आत्यन्तिक भेद हमारी केवल कल्पनामात्र सिद्ध हो जायेंगे. देशकृत कालकृत तथा स्वरूपकृत परिच्छेदकी, अथवा नैयायिकोंकी भाषामें कहें तो चतुर्विध अभावोंकी, प्रतीतिका आधार तत्तद् देशमें कालमें तथा तत्तद्रूपेण किसी एक वस्तुका तिरोभूत होना ही है. जिस वस्तुकी जब और जहां जैसी प्रतीति या कार्यकारिता है, वहां तब उसे उस रूपमें आविर्भूत मानना पड़ेगा अन्यथा तिरोहित. यही बात महाप्रभु समझाते हैं : **आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः...**

सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवति अजः, मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतं मूलेच्छातः तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेः तथा, तिरोभावः तथैव स्याद् रूपान्तरविभेदतः (त.दी.नि.२।१४०-१४२).

(७) अविकृतस्वरूपपरिणामवाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : वाचारम्भणं 'विकारो', नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम् (छान्दो.उप.६।१।४).

वाल्लभ निष्कर्ष : कार्यको कारणका 'विकार' कहना वाचारम्भण (विवक्षाप्रयुक्त नामान्तरकी अर्थात् कहनेभरकी बात) है. क्योंकि मृत्तिकासे बने घटका यथार्थ नाम तो 'मृत्तिका' ही होता है. उपादानकारणके किसी आकारविशेषमें परिणत हो जानेपर भी, यदि मूलतत्त्वके स्वरूपमें कोई विकृति या अन्यथाभाव नहीं आता तो, ऐसा परिणाम "अविकृत(कारणका)-परिणाम(कार्यात्मना अवस्थान)" कहा जाता है. उदाहरणतया आभूषण या घड़ा बन जानेपर सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहता है और मृत्तिका तो मृत्तिका ही. इस उदाहरणमें नूतन आकृति, अक्रियाकारिता तथा कुछ गुणधर्मोंमें अन्यथाभाव तो प्रत्यक्षसिद्ध है परन्तु साथ ही साथ तत्त्व भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता, यह भी प्रत्यक्षसिद्ध ही है. अन्यथा सुवर्णका चोर कोई अन्य मानना पड़ेगा और सुवर्णनिर्मित आभूषणोंका चोर कोई अन्य! आभूषणार्थी केवल सुवर्णका ग्रहण कदाचित् न भी करें परन्तु सुवर्णार्थी सुवर्णके आभूषण और अव्यवस्थिताकारवाले सुवर्णखण्डमें कोई भेददृष्टि नहीं रखता. इसी तरह जागतिक विषयार्थी ब्रह्मकी उपेक्षा कर सकता है परन्तु ब्रह्मदर्शकि लिये जगत्के सभी विषय ब्रह्म है. क्योंकि नाम रूप एवं कर्मों में परिणत होनेपर भी ब्रह्म निजसत्तासे प्रच्युत नहीं होता है. अतएव सभी

कुछ यहां ब्रह्म है. क्योंकि सभी कुछ एक ब्रह्मके अविकृत स्वरूपका ही परिणाम है. महाप्रभुने यह बात इसी तरह समझायी है : **तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुतेति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्...तथापि ज्ञानार्थम् उपपत्तिम् आह परिणामात् परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव परिणमते सुवर्णं, सर्वाणि च तैजसानि. बुद्धेश्च अलौकिकत्वाद्, ब्रह्मकारणत्वएव घटते. पूर्वस्य अन्यथाभावस्तु कार्यश्रुत्यनुरोधाद् अंगीकर्तव्यः, वक्ष्यति च श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद् इति (ब्र.सू.अणुभा.१।४।२६).**

(८) कार्यकारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद

श्रौतसन्दर्भ :

(क) : त्रयं वा इदं नाम रूप कर्म. ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम् (बृह.उप.१।६।१).

(ख) : सय एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि (छान्दो.उप.६।९।४).

वाल्लभ निष्कर्ष : नाम-रूप-कर्मात्मक जड़वस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सदंशभूत हैं क्योकि चिदंश और आनन्दांश उनमें अप्रकट-तिरोहिततया रहते हैं. जीवात्मा ब्रह्मका चिदंश है. अनुक्तसिद्ध होनेसे इसमें सत्ता या सदंशता उल्लेखनीय नहीं है. चैतन्यकी प्रधानताके कारण भी सत्ता उल्लेखनीय नहीं है. फिरभी आनन्दांश जीवात्मामें तिरोहित रहता है. सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश, जब तत्तत् नाम-रूप-कर्मके साथ व्यक्त होते हैं, तो ब्रह्म और ब्रह्मके सदंशो के बीच, कार्य-कारणभावात्मक तादात्म्य रहता है, जैसा सुवर्ण और उससे बने आभूषणों के बीच रहता है. इसके विपरीत सच्चिदानन्द ब्रह्मकी चिदंशरूप जीवात्मायें, जब किसी भी प्रकारके

व्यक्त एवं निश्चित नाम-रूपोंके बिना ही अंशात्मना ब्रह्ममें से व्युच्चरित होती हैं. तो उन्हे कार्यतया सिद्ध कर पाये ऐसा कोई गुणधर्म उनमें प्रकट नहीं होता है. अतएव जीवात्माको शास्त्रमें 'अज-अमर' कहा गया है. अतः जीवात्मा और परमात्मा के बीच कार्य-कारणभावात्मक तादात्म्य न होनेपर भी अंशांशिभावात्मक तादात्म्य रहता है. जैसा समुद्र और उसकी लहरों के बीच पहचाना जा सकता है. अथवा जैसे पारेको उंगलीसे दबानेपर उसमें से झीने-झीने बिन्दु अनेक परिमाणवाले चारों ओर बिखर जाते हैं. ये झीने-झीने बिन्दु पारेके केवल विभाजित अंश होते हैं रूपान्तरण नामान्तरण रूपी कार्य नहीं. और मिला देनेपर दुबारा अंशीके साथ अखंडित एकीभावापन्न हो जाते हैं. वैसे तो जड़ नाम-रूपोंमें भी सदंशता तो है ही, फिर भी ''प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति'' नियमके अनुसार कार्यत्वरूप धर्म सदंशमें प्रधानतया व्यक्त होता है, नियत नाम-रूपोंकी अभिव्यक्तिके रूपमें! अतः उन्हें 'कार्य' कहा जाता है. जबकि जीवात्माको केवल 'अंश' ही. दोनों ही ब्रह्मके साथ तादात्म्य रखते हैं. क्योंकि एक उपादानोपादेयभाववश तदात्मक है और दूसरा अंशाशिभाववश तदात्मक है. अन्यत्र परब्रह्म और अक्षरब्रह्म के बीच धर्मधर्मिभावमूलक तादात्म्य भी सम्भव है. इस तरह तादात्म्य भी अनेकविध सम्बन्धोंमें सम्भव है.

महाप्रभु कहते हैं : ''**द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः. भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मणएव विस्फुलिंगन्यायेन एका, अपरा वियदादिक्रमेण, साच अनामरूपात्मनो नामरूपत्वेन अभिव्यक्तिः, सा जडस्यैव कार्यत्वात्. तस्य जीवस्यतु अंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्धः, अनित्ये (जडे) जननं, नित्ये परिच्छिन्ने (जीवात्मनि) समागमः, नित्यापरिच्छिन्नतनौ (भगवत्स्वरूपे) प्राकट्यं च इति सा त्रिधा**'' (ब्र.सू.अणुभा.२।३।१) तथा ''**यदा अखण्डाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति तदा अवान्तरविकल्प-**

विषयिणी बुद्धिः 'घटः' - 'पटः' इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति. नतु स्वरूपतोऽपि घटपटादिपदार्थोऽपि धर्मी बाध्यते इति अर्थः.'' (त.दी.नि.प्र.१।-९१).

(९) लीलार्थ सृष्टिवाद

श्रौतसन्दर्भ

(क) : स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत् स ह एतावान् आस्. यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत् ततः पतिः च पत्नी च अभवताम् (बृह.उप.१।४।३).

वाल्लभ निष्कर्ष : ब्रह्म अगणितानन्दरूप होनेसे किसी भी प्रयोजनके वश सृष्टि नहीं करता है. निष्प्रयोजन सर्वथा एक लीलाके रूपमें अपने निजानन्दकी सहज अभिव्यक्तिके रूपमें ही सृष्टि प्रकट करता है. सूत्रकार भी अतएव कहते हैं **''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्''**(ब्र.सू.२।१।३३) महाप्रभु भी, अतएव, लीलार्थ सृष्टिवादका स्वरूप इन शब्दोंमें देते हैं : **नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः.** (त.दी.नि.१।१).

शुद्धाद्वैतका जो स्वरूप वाल्लभ दर्शनमें अभिलषित है, उसे समझनेके लिये ये वाद अनिवार्य आधारभूत धारणायें हैं. इन्हे भलीभांति समझनेपर ही शुद्धाद्वैतवादका सांगोपांग बोध सम्भव है.

'शुद्ध' तथा 'अद्वैत' पदोंके समाससे निष्पन्न 'शुद्धाद्वैत' पदका स्वारस्य इन्हीं नौ वादोंमें भरा हुवा है. परन्तु समासविग्रह करनेके बाद 'शुद्ध' या 'अद्वैत' पद का पृथक्-पृथक् तात्पर्य जानना हो तो महाप्रभुके तत्त्वार्थदीपनिबन्ध(१।२३)के आधारपर यों समझा जा सकता है : ['शुद्ध'+'अद्वैत'=]**''अयं प्रपञ्चो न प्राकृतो नापि परमाणुजन्यो नापि विवर्तात्मा नापि अदृष्टादिद्वारा जातो नाप्यसतः सत्तारूपः**

(+) किन्तु परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः तादृशोऽपि भगवद्रूपः''.

(दुर्गासप्तशतीका तुलनात्मक विमर्श)

जैसा कि सूचित कर चुके हैं कि मेरे दुर्भाग्यवश भट्टाचार्यजीका दुर्गासप्तशतीभाष्य अब उपलब्ध नहीं हो पाया अतः मूल दुर्गासप्तशतीका सैद्धान्तिक विमर्श मुझे अपनी मतिके अनुसार करने विवश होना पड़ रहा है.

शुद्धाद्वैतवादके घटक नौ अंगभूत वादोंके निकषपर दुर्गासप्तशतीके जो शक्तिकी स्तुतिके रूपमें उद्‌गार प्रकट हुवे हैं उन्हें स्तुत्यर्थवाद न मान कर ब्राह्मिकी शक्तिके यथार्थ स्वरूपका अभिधान स्वीकार कर चलें तो उन तत्तत् स्तुत्यंशोंको उल्लिखित नौ वादोंमें से किस-किस वादके साथ समायोजित करना चाहिये उसका यथामति प्रतिपादन अभिलषित है. जैसेकि सर्वप्रथम -

[१] ब्रह्मवाद अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न कुछ भी हो नहीं सकता और जो कुछ है वह एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके विविध नाम रूप या कर्म हैं यह दुर्गासप्तशती, जिसे भट्टाचार्यजीने भी उद्धृत किया ही है, **''एकैव अहं जगति अत्र द्वितीया का ममापरा''** (दु.स.श.१०।१) यह सुस्पष्टतया देवीके ब्रह्म होनेका ही वर्णन है. इस सिद्धान्तोक्तिके निगमनार्थ पञ्चमाध्यायमें सर्वभूतोंमें देवीका विभिन्न रूपोंमें अवस्थान प्रतिपादित हुवा है. जिसे वस्तुमात्रके उपलक्षणतया निदर्शनार्थ अन्तःकरणवृत्तिरूपा चेतना बुद्धि निद्रा क्षुधा छाया शक्ति तृष्णा क्षान्ति जाति या ब्राह्मिकी सत्ता लज्जा शान्ति श्रद्धा कान्ति लक्ष्मी आजीविका स्मृति दया तुष्टि प्रमातृता भ्रान्ति इन्द्रियाधिष्ठातृता चिति अर्थात् निर्विषयिका आत्मचेतना यों वस्तुमात्र एक देवीके ही अनेक रूप हैं यह दरसाया गया है.

[२] विरुद्धधर्माश्रयतावाद यदि इन स्तुतिओंमें खोजना हो तो चतुर्थाध्यायके **''या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भुवनेषु (विरुद्धधर्म) अलक्ष्मी पापात्मनां, कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः (वि.ध.) श्रद्धा सतां, कुलजनप्रभवस्य लज्जा (वि.ध. उपलक्षणतया : अकुलीनजनस्य निर्लज्जता अपि)''** (दु.स.श.४।४) वचनमें मिलता ही है.

[३] अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावादका अंगीकार प्रथमाध्याय और एकादशाध्याय के श्लोकोंमें सुस्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है **''विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थितिसंहारकारिणीं''-''कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनी विश्वस्य उपरतौ''-''त्वं वैष्णवी शक्तिः अनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमा असि माया संमोहितं देवि! समस्तम् एतत्''-''हरिनेत्रकृतालयां... निद्रां भगवतीं विष्णोः''** (प्रथ.५३, एका.८,४. प्रथ.५२-५३) जगद्रूपवृक्षकी उत्पत्तिमें कर्त्रीरूपा तथा समवायिकारणभूता बीजरूपता, स्थितिमें षड्भावविकाररूपा कालादिकृत परिणामशालितया संमोहकता, अन्तमें प्रलयशेषशायी नारायणनेत्राधिष्ठिततया विश्वोपरमशेषता निरूपण उल्लेखनीय है.

[४] सत्कारणतावाद, यद्यपि, सप्तशतीमें शब्दशः साक्षाद् न भी दृष्टिगोचर होता हो परन्तु अर्थापत्तिलब्ध तो माना जा सकता है.

[५] सत्कार्यतावादकी भी लगभग वही कथा है जो सत्कारणतावादकी कही गयी. परन्तु यहां सांख्यसिद्धान्तानुगुणा जगत्की परिणामवादानुसारिणी उत्पत्ति स्वीकारनी या न्याय-वैशेषिक मतके अनुगुणा आरम्भवादानुसारिणी उत्पत्ति? यह दुर्गासप्तशतीकी स्तुतिओंमें प्रयुक्त पदावलियोंके आधारपर सुनिर्धारित कर पाना कुछ कठिन लगता है. श्रीपञ्चाननजीके भाष्यमें निश्चयेन नैयायिक-वैशेषिक मतके अनुरोधवश सत्ताके नित्य और अनित्य प्रभेद मान कर आरम्भवादीया प्रक्रियाका समाश्रयण किया गया होना अनिवार्य प्रतीत होता है. फिरभी **''नित्यैव सा जगन्मूर्तिः**

तया सर्वम् इदं ततं... देवानां कार्यसिद्धयर्थम् आविर्भवति सा यदा उत्पन्ना इति तदा लोके सा नित्यापि अभिधीयते'' (दु.स.श.१।४७-४८) वचनका विश्लेषण करनेपर जगन्मूर्ति देवीको नित्या होनेके रूपमें बिरदाना, जगद्व्यापिनी मानना, तथा नित्या ही होनेपर भी आविर्भाव और तिरोभाव के वश उत्पन्न या अनुत्पन्न लगनेकी उपपत्ति देना तो सांख्यप्रक्रियाका ही अनुसरण लगता है. जगत्में व्याप्तिके भी, वैसे तो, दोनों ही प्रकार सोचे जा सकते हैं : १.जगदात्मना परिणत होनेके कारण देवी जगन्मूर्ति है. जगत्के समवायी या उपादान कारणकी सत्ता ही कार्यसत्तात्मना पुनः अभिव्यक्त होती है इसलिये देवी जगन्मूर्ति है. २.चिकीर्षित तत्त्वोंको उत्पन्न करती है अर्थात् प्रागभाव मिटा कर उत्पन्न करती है. ऐसी वह देवी विभु होनेके कारण जगत्के समवायिकारणोत्पन्न कार्यदेश और कार्यकाल में विद्यमान भी रहती मानी जा सकती है. कार्यभूत जगत्, परन्तु , विभु न होनेके कारण, अर्थात् देवीसदृश अपरिच्छिन्नताके अभाव-वश, देवीसे व्याप्त ही रहता है. और इस तरह देवीको जगन्मूर्ति सोचना देवीमें उत्पादित मूर्त जगत्का प्रागभाव और अन्योन्याभाव दोनोंकी स्वीकृतिमें पर्यवसित हो जायेगा. पर तब देवी नित्य होनेपर भी सर्वदा जगन्मूर्ति तो मानी नहीं जा सकती.

इतनी उपपत्ति सत्कार्यवाददृष्ट्या सोची जा सकती है, कहीं भी कण्ठोक्त न होनेपर भी.

[६] आविर्भाव-तिरोभाववादका प्रश्न भी इस तरह समाहित हो पाता है, क्योंकि अमूर्त देवीका स्वयं जगन्मूर्त्यात्मना परिणत होना 'नित्या जगन्मूर्तिता' हो तो आविर्भावतिरोभाववाद अनुक्तसिद्ध हो जाता है. अन्यथा आरम्भवादी प्रक्रियाके अनुसार मूर्त जगत्को देवी अपनी अपरिच्छिन्नतामें निर्मित करती हो तो देवीको 'नित्या जगन्मूर्ति' मानना दुर्बोध्य बन जायेगा.

[७] अविकृतस्वरूपपरिणामवादका प्रतिपादन तो **''हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषैः न ज्ञायसे हरिहरादिभिर् अपि अपारा, सर्वाश्रया अखिलम् इदं जगद् अंशभूतम् अव्याकृता हि परमा प्रकृतिः त्वम् आद्या''** (दु.स.श.४।६) इस वचनमें निरपवाद सिद्ध हो ही रहा है **''तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते''** (बृह.उप.१।४।७) श्रुतिवचनके साथ संवादके आधारपर.

[८] कार्यकारणतादात्म्यवाद और अंशांशितादात्म्यवाद को भी सप्तशतीमें खोजना हो तो इन स्तुतिपदावलियोंमें खोजे जा सकते हैं **''त्वया एतद् धार्यते विश्वं त्वया एतत् सृज्यते जगत् त्वया एतत् पाल्यते, देवि!, त्वम् अत्सि अन्ते च सर्वदा. विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने तथा संहृतिरूपा अन्ते जगतो अस्य जगन्मये''**, **''सा विद्या अपरमा (''परा उत्कृष्टा मा मोक्षलक्ष्मीः ततो अन्या अपरमा'' : शान्तनवी) मुक्तेः हेतुभूता सनातनी संसारबन्धहेतुः च सैव सर्वेश्वरेश्वरी... त्वं श्रीः त्वम् ईश्वरी त्वं ह्रीः त्वं बुद्धिः बोधलक्षणा लज्जा पुष्टिः तथा तुष्टिः त्वं शान्तिः क्षान्तिर् एव च''** (दु.स.श.१।५६-५७, १।४४-६६) यहां देखा जा सकता है कि जगत्की धारिका निर्मात्री पालिका और अन्तमें भक्षिका ही नही प्रत्युत स्वयं देवी सृष्टिस्थितिसंहृतिरूपा भी मानी गयी है. अतः यह तो भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्यके बिना सम्भव नहीं हो पायेगा. चितिरूपा देवी चेतनाके बन्ध अथवा मोक्ष दोनोंमें हेतुभूत है मोहरूपा और विद्यारूपा भी, यदि यह स्तुत्यर्थ उपचार न माना जाता हो तो, कोई मुक्त होती चेतना और कोई मोहबन्धनवश मुक्तिभाजन न बन पाती चेतनासे भी देवीके तादात्म्यके अंगीकार बिना कल्पनीय ही नहीं रह पायेगा.

[९] लीलार्थसृष्टिवाद, परन्तु, इस दुर्गासप्तशतीके सावधानतया

विमर्श करनेपर यह अतिरोहित नहीं रहता कि यहां लीलाके रूपमें न तो देवीके और न सृष्टिके ही प्राकट्यकी कथा अभिप्रेत है. शुद्धाद्वैतवेदान्तमें 'लीला'की परिभाषा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य **''कौतुकाधिष्ठितेन अनायासेन क्रियमाणं कर्म लीला''/''अनायासेन हर्षात् क्रियमाणा चेष्टा लीला''** (सुबो.१।१।४-१७) इस तरह मान्य करते हैं. प्रस्तुत ग्रन्थमें देवीके प्रकट होनेकी कथा न तो कौतुकवशात् अनायासेन क्रियमाण कर्मके रूपमें वर्णित हुयी है और न अनायासेन हर्षात् क्रियमाणा चेष्टाके रूपमें. जगत्के कर्ता पालक और संहर्ता के योगमायावशात् निद्राधीन हो जानेके कारण मधुकैटभ दैत्य ब्रह्माजीका वध करने ही उद्यत हो गये थे. तब ब्रह्माजीने हरिनेत्रकृतालया देवीको जगाया कि वह विष्णुको जगा पाये और मधुकैटभसे ब्रह्माकी रक्षा कर पाये. देवीके हरिनेत्रोंको मुक्त करनेपर हरिने जाग कर दैत्योंके साथ युद्ध भी किया. दैत्य, परन्तु, समाप्त न हो पाये. सो देवीने प्रकट हो कर बड़े संग्रामके बाद उनका लीलया वध किया. इस महान् कर्मके आनुषंगिकतया अनेक स्तुतियां जो देवीकी की गयी वे यहां संकलित हैं. यद्यपि यहां 'लीला'का उल्लेख मिलता है पर यह तो दैत्यवध किसी भी आयासके बिना किये गये होनेके अभिप्रायवश है, नकि वधकर्म स्वयं एक लीला है ऐसे अभिप्रायवश.

वैसे वाल्लभ वेदान्तके दृष्टिकोणसे इस देवीके उपाख्यानको निहारनेपर ब्रह्मा विष्णु और रुद्र तीनों ही परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके रजःसत्त्वतमोगुणाभिमानी गुणावतार हैं **''यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परो रजः सृजति एषः पृथक् स्वमायया सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुः ईश्वरः शयिष्यमाणः तमः ईरयति असौ''**, **''सत्त्वं रजः तम इति प्रकृतेः गुणाः तैः युक्तः परः पुरुषः एक इह अस्य धत्ते 'हरिविरिञ्चिहर' इति संज्ञाः''**, **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति**

अभिसंविशन्ति'' (भाग.पुरा.७।१।१०, १।२।२४, तैत्ति.उप.३।१) इन भागवत और उपनिषद् वचनोंके आधारपर, परब्रह्मकी त्रिवृत् शक्तियोंके मूर्तिमान् रूप. स्वाभाविकतया तीन रूपोंमें विभक्त तीन शक्तियोंकी तुलनामें अविभक्त परब्रह्मकी एक अविभक्तशक्ति कुछ अधिक ही होगी. परन्तु दुर्गासप्तशती उस अविभक्त परब्रह्मसे भी अधिक उसकी शक्तिके माहात्म्यवर्णनार्थ है. यहां आकर शाक्त प्रस्थान और वैष्णव प्रस्थान का पार्थक्य प्रकट हो जाता है, बहुत सारे शुद्धाद्वैतवादावलम्बनके न्यूनाधिक सामान्य स्वरूपके अलावा. और अधिकाधिक इस विषयमें, शुद्धाद्वैतवादी दृष्टिकोणसे कुछ कहना हो तो, यही कहा जा सकता है ''**एको देवो बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते... तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति**'' (मुद्ग.उप.३). शाक्तमार्गमें परम आद्या शक्तिद्वारा शक्तिमान्का उद्बोधन लीलात्मक हो या न हो, वैष्णव मार्गमें भागवतमहापुराण इस उद्बोधनका वर्णन निश्चित ही लीलारूपेण करता है :

> ''**स्वसृष्टम् इदम् आपीय शयानं सह शक्तिभिः तदन्ते बोधयाञ्चक्रुः तल्लिंगैः श्रुतयः परम्. यथा शयानं सम्राजं बन्दिनः तत्पराक्रमैः प्रत्यूषे अभ्येत्य सुश्लोकैः बोधयन्ति अनुजीविनः. श्रुतयः ऊचुः : जहि जहि जहि अजाम् अजितदोषगृभीतगुणां त्वम् असि यद् आत्मना समवरुद्धसमस्त-भगः. अगजगदोकसाम् अखिलशक्त्यवबोधक ते क्वचिद् अजया आत्मना च चरतो अनुचरेद् निगमः.**''
>
> (भाग.पुरा.१०।८४/८७।१२-१४).

भागवतमहापुराणके अनुसार परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी दशविध लीलाओंमें शयन-जागरण चक्रवत् आवर्तित होते स्वीकारे गये हैं. एतदर्थ महाप्रभु वल्लभाचार्यकी व्याख्या द्रष्टव्य है : ''**तत्र**

आदौ प्रकृतिनिराकरणार्थं भगवतः स्वरूपेण स्थितिं प्रार्थयन्ते 'जय-जय' इति... अन्यदपि प्रार्थयन्ते 'जहि अजाम्' इति. निद्रां त्यज... ननु तयैव अहम् एतावत्कालं वशे नीतः कथं हन्तुं शक्या इति चेत् तत्र आहुः 'हे अजित' इति. त्वं न केनापि जितो योगनिद्रा त्वया लीलयैव गृहीता नतु जीवइव निद्रया अभिभूतः. भगवन्निद्रा माया प्रकृतिः इति स्वरूपत्रयम् एकमेव. अतएव मार्कण्डेयपुराणे ब्रह्मणा योगनिद्रा स्तुता'' (सुबो.१०।८४।१४) योगनिद्रा योगमाया अथवा अविभक्त गुणत्रयी रूपा प्रकृति को मार्कण्डेय पुराण हरिके निमिलित नेत्रोंके रूपमें प्रतिपादित करना चाहते हैं.

(ब्रह्मसूत्रपर शाक्त भाष्य और वाल्लभ भाष्य का तुलनात्मक विमर्श)

श्रीपञ्चाननजी कहते हैं ''अस्याम् उपासनायां न्यायदर्शनप्रस्थानं प्रकृष्टो मार्गभेदः. तन्मतसिद्धं शक्तितत्त्वं सप्तशतीभाष्ये विवृतम् अस्माभिः अदृष्टसमष्टिसहितः परमात्मैव तत्स्वरूपम् इति. अदृष्टसमष्टिरचितपरमात्मा च (निर्विशेष)चिदिति (सविशेष)चिदचिदुभयरूपतया शक्तिपरिचयः तत्रापि. उक्तञ्च अदृष्टस्वरूपबोधनाय श्रीमदुदयनाचार्यचरणैः 'इति एषा(अदृष्टरूपा) सहकारि-शक्तिः, असमा माया दुरुन्नीतितो, मूलत्वात् प्रकृतिः, प्रबोधभयतो अविद्या, इति यस्य उदिता' इति. तथाच प्रकृतिपुरुषरूपा शक्तिः इति फलितम्'' (ब्र.सू.श.भा.मुखप्रबन्ध १). यहां, परन्तु, यह उल्लेखनीय हो जाता है कि न्यायमतमें शक्तिको स्वतन्त्र पदार्थ तो माना ही नहीं गया है. अतएव शक्तिकी परिभाषा भी ''कारणनिष्ठः कार्योत्पादनयोग्यो धर्मविशेषः'' (तर्कसंग्रहदीपिका) ऐसी स्वीकारी गयी है. अतः शक्ति यदि धर्मरूप हो तो शक्तिमान् धर्मी तो अर्थापत्त्या सिद्ध होगा. और वह शैव वेदान्तमें शिवरूप परब्रह्म, तो वैष्णव वेदान्तमें विष्णुरूप परब्रह्म होगा. न्यायमतमें तो परमेश्वरकी अदृष्टरूपा सहकारिणी शक्ति कारणके बारेमें अन्यान्य प्रस्थानोंकी केवल एकवाक्यता दरसानेको ही श्रीउदयनाचार्यने ''इत्येषा सहकारिशक्तिः... यस्य उदिता, देवो

असौ'' (न्या.कु.स्तब.१) के रूपमें उसे प्रतिपादित किया है. ऐसा इसकी 'प्रकाश'नामिका व्याख्यामें श्रीवर्धमान कहते हैं ''**'प्रपञ्चो'= गोघटादि कार्यजातं तस्य 'रचना'=निर्माणं तत्प्रति यः 'कल्लोलः'= सांख्यादिमतप्रवादः सएव कोलाहलो... यस्मिन् 'विरतः'=शान्तो=द्वेषादिरहितः. तथाच अदृष्टसहकृतः ईश्वरएव प्रपञ्चकारणं, नतु माया प्रकृतिः अविद्या वा इति अर्थः**'' (न्या.कु.प्रका.१।२०) अर्थात् इस परमेश्वरकी असमा सहकारिशक्तिका दुरुन्नेय होना, मूलकारण होना; और, तत्त्वज्ञाननाश्य होना तो श्रीउदयनाचार्यको सिद्धान्तया अभिमत है. परन्तु इस असमा शक्तिका माया प्रकृति या अविद्या होना तो परमतकी ही कथा है. श्रीपञ्चाननजी, परन्तु, शक्तिको इसी मुखप्रबन्धमें पुरुषप्रकृतिरूपा शक्तिके रूपमें स्वीकार करके द्वैतघटित चिदचिद्रूप जगत्में अनुगत ब्राह्मिकी सत्ताका अद्वैत प्रतिपादन करना चाहते हैं. इस तरह द्वैताद्वैतसिद्धान्त न्यायवेदान्तके संवादतया पुरस्कृत करना चाहते हैं. परन्तु निर्विशेष चित्को अदृष्टशक्तियुक्त माना नहीं जा सकता. अतः सविशेष चित्के भागमें ही वह अवस्था आयेगी. शक्ति-शक्तिमान्के भेदके सिद्धान्तके अनुरोधवश भी तब सत्तासामान्यके अभेदके बावजूद प्रकृतिको तो अचित् ही मानना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें आद्या शक्तिरूपा देवी भी कहीं अचेतन तो सिद्ध नहीं हो रही! यह विचारणीय विषय लगता है. अस्तु.

जैसा कि आलेखके उपक्रमें निरूपित किया गया कि ऋग्वेदमें जो एक गंभीर प्रश्न उपस्थापित किया गया कि ''**किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्**'' (ऋक्संहि.१०।८१।४) उस प्रश्नके समाधानतया कृष्णयजुर्वेदका कथन कि ''**ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्**'' (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।७).

तदनुसार संक्षेपमें सभी कुछ ब्रह्म है ऐसी अवधारणा ब्रह्मवाद है. वह सृष्टिमें अवभासित होते परस्पर अनन्त विरुद्ध धर्मोंका एक अविरोधी आश्रय है(स्वरूपलक्षण) और वही सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण (कार्यलक्षण) भी बनता है.

यों ब्रह्मवाद, विरुद्धधर्माश्रयतावाद तथा अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद का प्रतिपादन वाल्लभ भाष्यके अनुसार त्रिसूत्रीमें किया गया है. क्योंकि **''जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्''** दो सूत्र नहीं पर दोनों मिल कर एक द्वितीय सूत्रके रूपमें वाल्लभ भाष्यमें माने गये हैं. इसकी सरूपाद्वैतानुरोधिनी नूतन व्याख्या शाक्तभाष्यकार **''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा. जन्माद्यस्य यतः. शास्त्रयोनित्वात्... तत्तु समन्वयात्''** यों चतुःसूत्रीद्वारा प्रस्तुत करते हैं.

वाल्लभ भाष्यमें जिज्ञासाधिकरणरूप प्रथम सूत्रमें विषयरूप प्रथम अधिकरणांग ब्रह्मत्वेन ब्रह्म न मान कर ब्रह्मप्रतिपादक वेदान्तार्थत्वेन माना गया है. यह 'ब्रह्म' प्रत्यय प्रात्यक्षिक आनुमानिक नहीं प्रत्युत श्रौत माना गया है :

> **''इदम् अत्र विचार्यते वेदान्तानां विचारः आरम्भणीयो न वा इति... नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारं कर्तुं शक्यो, ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्... 'नैषा तर्केण मतिः आपनेया' इति श्रुतेः च. नच विरुद्धवाक्यानां श्रवणाद् तन्निर्धारार्थं विचारः, उभयोरपि प्रामाणिकत्वेन एकतरनिर्धारस्य अशक्यत्वाद्. अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावात् च... ननु ब्रह्मणो विचारे प्रतिज्ञाते विरोधनिराकरणादीनाम् अप्रतिज्ञातत्वं, नच अवक्तव्यत्वं निर्विचिकित्सज्ञानानुदयप्रसंगाद् इति चेद्, न, 'ब्रह्मणः' इति न कर्मणि षष्ठी किन्तु**

शेषषष्ठी. तथाच ब्रह्मसम्बन्धि तज्ज्ञानोपयोगि सर्वमेव प्रतिज्ञातं वेदितव्यम्. नच गौणतापत्तिः अजिज्ञास्यत्वं वा स्याद् इति वाच्यं, ब्रह्ममात्रे सन्देहाभावात् सन्दिग्धस्यैव जिज्ञास्यता. गौणत्वन्तु शब्दतएव न अर्थतः.''

(ब्र.सू.अणुभा.१।१।१)

करीब-करीब इस प्रतिपादनरीति जैसी ही रीति शाक्त भाष्यमें भी अपनायी गयी है :

''वादिवैमत्यदुर्ग्रह-श्रुतिस्मृतितात्पर्य-व्याख्यान- फलस्व-रूपहेतुप्रतिपादन-विरुद्धवादपरिहार- विचाररूपस्य निरूपणस्य शास्त्रस्य वा न श्रुत्यादिभिः अन्यथासिद्धत्वम्... 'तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतेः उपनिषद्गम्यत्वप्रतिपाद-नात्. कीदृशार्थे उपनिषद्वाक्यानां तात्पर्यं, कीदृशश्च औपनिषदो बोधः, कया सामग्र्या स जन्यते, किञ्च तत् फलम् इति एतत्सर्वावधारणाय स्वमतस्थापकं विरुद्धमतखण्डकं च यद्वाक्यं तस्यैव अत्र निरूपणपदार्थत्वात् शास्त्रत्वाद् वा. तस्माद् निर्णयपरसूत्रम् इदम् 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति.''

(शाक्त भाष्य १।१।१)

वाल्लभ भाष्यके अनुसार द्वितीय सूत्रमें स्वसम्बन्धि प्रमाण प्रमेय साधन और फल रूपतया चतुर्धा जिज्ञास्य विषयमें अर्थतः प्रमुख ब्रह्मके लक्षण एवं प्रमाण के निर्धारणार्थ **''जन्माद्यस्य यतः(लक्षण) शास्त्रयोनित्वात्(प्रमाण)''** प्रस्तुत हुवे हैं. इस सूत्रमें प्रथम अधिकरणांग विषयवाक्यतया **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म''** वचनके बजाय **''तस्माद् एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः''** श्रुतिवचनको विषयवाक्यतया द्वितीय वर्णकमें विवक्षिततर माना गया

है. तदनुसार लक्षण-प्रमाणके आधारपर ब्रह्मकी जगत्कर्तृताका प्रतिपादन शास्त्रप्रामाण्यके बलपर निर्धारित किया गया है :

> **''तत्र किंलक्षणकं किम्प्रमाणकम् इति जिज्ञासायाम् आह सूत्रकारः 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वाद्' इति... वेदेनैव तावत् कर्तृत्वं... नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्तेः. सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोधः 'सत्यज्ञाना'दिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः नच कर्तृत्वं संसारिधर्मो देहाध्यासकृतत्वाद् इति वाच्यं, प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव, नतु अलौकिके कर्तृत्वे. अतएव 'अस्य' इति आह... पुरोवर्ती प्रपञ्चः इदमा निर्दिश्यते. अनेकभूतभौतिकदेवतिर्यङ्मनुष्यानेकलोकाद्भुत- रचनायुक्तब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसापि आकलयितुम् अशक्यरचनस्य अनायासेन उत्पत्तिस्थितिभङ्गकरणं न लौकिकम्. प्रतीतं च निषेध्यं न अप्रतीतं श्रुतिप्रतीतम्. सत्यत्वादयः च लौकिकाः ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत्... अथवा किम् अनया कुसृष्ट्या जन्म आद्यस्य आकाशस्य यतः इति 'तस्माद् एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्येव विचार्यते.''**
>
> (ब्र.सू.अणुभा.१।१।२)

यों वाल्लभ भाष्य ब्रह्मजिज्ञासाके विषयरूप ब्रह्मके लक्षणतया इस **''जन्माद्यस्य यतः''** सूत्रमें **''यतो वा इमानि भूतानि... तद् ब्रह्म''** श्रुतिवचनको प्रस्तुत अधिकरणमें विषयवाक्यतया प्रथम वर्णकमें स्वीकार करके भी द्वितीय वर्णकमें तो **''तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः''** श्रुतिवचन ही प्रस्तुत कर **''जन्म आद्यस्य आकाशस्य यतः''** व्याख्या करते हैं. वैसे ही शाक्त भाष्यमें तो वर्णकभेदके बिना दोनोंमें से किसी भी एक वचनको विषयवाक्य बनाये बिना

सीधे 'आद्यस्य' पद स्वीकारा गया है :

> **''ततश्च अस्य लक्षणसूत्रस्य अवयवभूतानि त्रीणि पदानि [१]'जन्म' [२]'आद्यस्य' [३]'यतः' इति समासरहितानि. आद्यो हि ब्रह्मा देवेषु आदौ उत्पन्नत्वात्... तस्माद् आद्यो ब्रह्मा सर्गादिजातत्वात् तस्य यतो यस्याः शक्तेः जन्म तद् ब्रह्म.''**
>
> (शाक्त भाष्य १।१।२)

एतदर्थ जो युक्ति दी है वह उल्लेखनीय है कि ब्रह्मका सृष्टिकर्तृत्व प्राणि-अप्राणि चिदचिदुभयकर्तृत्वरूप है जबकि उल्लिखित श्रुतिमें केवल **''इमानि भूतानि''** पदावलीके प्रयोगके कारण उभयकर्तृत्वरूप साधारण लक्षण प्रकट नहीं हो पाता है. और आद्यसृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा जिसमें से प्रकट हुवा ऐसा कहनेसे शक्त्याख्य ब्रह्मका सर्वापादानत्व सिद्ध हो जाता है.

शांकर मतकी तर्जपर श्रीपञ्चाननजी ब्रह्मको निर्विशेष और सविशेष उभयविध (विरुद्धधर्माश्रय) मान कर निर्विशेषको अपरिच्छिन्न और सविशेषको परिच्छिन्न मानते हैं. अन्तर इतना है कि केवलाद्वैतवादमें निर्विशेष पारमार्थिक और सविशेष अपारमार्थिक माने गये हैं. जबकि सरूपाद्वैतवादमें दोनों ही पारमार्थिक हैं **''नापि चिन्मात्रं जननापादानं निर्विकारत्वात्. नच विवर्ताधिष्ठानस्य अपादानत्वं, ''रज्जोः सर्पः उत्पद्यते'' इति हि न प्रयोगो, ''रज्जौ सर्पः'' इत्येव प्रयोगात्. श्रुतिश्च 'यतः' इत्यनेन पञ्चम्या अपादानत्वं दर्शयति''** (शाक्त भाष्य १।१।२).

इस अपादानरूपा कारणताको उपादानरूप कारणता मानना या नहीं ? क्योंकि **''ध्रुवम् अपाये अपादानम्''**-**''जनिकर्तुः प्रकृतिः''**-**''भुवः प्रभवः''** (पाणि.सू.१।४।२४,३०,३१) इन 'अपादान'संज्ञाविधायक सूत्रोंके अवलोकन करनेपर अपादानता कहीं **''परसमवेतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्व''**

(न्यायको.) रूपा जैसे "अश्वाद् भटः पतति" उदाहरणमें भेदसाधिका हो सकती है, वैसे ही "वृक्षात् पर्णं पतति" के उदाहरणमें विकृतपरिणाम्युपादानरूपा अभेदपूर्विका भेदघटिता भी हो सकती है. "सुर्वणात् कुण्डलं निर्माति"/"**यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथा अक्षराद् विविधाः, सोम्य!, भावाः प्रजायन्ते तत्रचैव अपियन्ति**" (मुण्ड.उप.२।१) के उदाहरणोंमें उपादानोपादेयतादात्म्यरूपा अभेदघटिता भी वह हो ही सकती है. इनमें से इस तारतम्यके बावजूद निर्विशेषसविशेषसाधारण (नैयायिकोंके मतकी तर्जपर) एक सामान्यसत्तास्वरूप अभेद जो स्वीकारा है, वह तो ठीक है. पर स्वयंस्वीकृतिके आधारपर निर्विशेष चिदंशको तो चिदचिदुभयात्मिका शक्तिरूप विशेषसे विशिष्ट माना नहीं जा सकेगा. अतः अगतिकतया सविशेष चिदंशको ही चिदचिदुभयात्मिका शक्तिसे विशिष्ट मानना पड़ेगा, ऐसी स्थितिमें आद्या शक्तिकी चिद्रूपता स्वाभाविक न हो कर सांसर्गिक ही होगी. और उसे ब्रह्मतया बिरदानेपर औपनिषद् ब्रह्मके बारेमें "**नित्यो नित्यानां चेतनः चेतनानाम् एकः**" (कठोप.२।२।१३) श्रुतिवचनमें निरूपित माहात्म्य देवीके साथ कैसे संगत हो पायेगा? यह विचारणीय लगता है. यों यह भेदाभेदवादकी स्वीकृतिमें पर्यवसित होती प्रक्रिया नैयायिक-वैशेषिक मताभिप्रेत अभेदसहिष्णु भेदवादकी सिद्ध होती है. जबकि वाल्लभ वेदान्तमें ऐच्छिकभेदसहिष्णु अभेदवाद स्वीकारा गया है. "**तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**", "**सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय**" (छान्दो.उप.६।२।३, तैत्ति.उप.२।६) श्रुतिवचनोमें निरूपित एकमेवाद्वितीय तत्त्वके अनेकभावापन्न होनेकी इच्छासे प्रयुक्त भेदका सहिष्णु स्वाभाविक अद्वैतका यह सिद्धान्त है. अतः वाल्लभवेदान्ताभिमत भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य न हो कर अभेदसहिष्णु भेद ही शाक्तभाष्याभिमत सिद्धान्त सुनिश्चित होता है.

इस अभेदसहिष्णु भेदके अन्तर्गत आता अभेद भ्रमारोपित

नहीं है, जैसाकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच होता है. और बाधितार्थका आहार्यबोध भी नहीं है, जैसाकि ''यः चौरः स स्थाणुः''में बाधितार्थसामानाधिकरण्यन्यायेन आरोपित अभेद होता है. न ''राहोः शिरः''न्यायेन विवक्षारोपित अभेद है. इसे तो वास्तविक माननेके कारण या तो यह 'वृक्ष-वन'/'तन्तु-पट'न्यायेन समुदाय-एकत्वकी विवक्षारूप उपाधिद्वारा अवभासित होता अनारोपित एकत्व या अभेद मानना पड़ेगा. जैसे अनित्य पटों या वृक्षों में पटत्वसामान्यरूप या वृक्षत्वसामान्यरूप नित्य एकवद्भाव होता है. क्योंकि तन्तुसमुदाय अनित्य कारणरूप होता है, पट अनित्य कार्यरूप होता है और पटत्व नित्य जातिरूप माना गया है.

वैसे ही आद्यशक्तिरूपा देवीके नित्या होनेके कारण और साथ ही साथ निर्विशेष चित् तत्त्वकी धर्मरूपा भी होनेके कारण उसे चिदात्मिका या अचिदात्मिका मानना? यह प्रश्न भी जो उभरा उसका विमर्श अगले समन्वयाधिकरणमें होगा.

क्योंकि शाक्त भाष्यमें 'शास्त्रयोनित्वात्' पृथक् अधिकरण है. अतः शास्त्रयोनिताके निरूपणमें आद्यशक्तिका ऋग्वेदादि शास्त्रोंकी रचयित्री होना प्रतिपादित हुवा है. यहां शास्त्रप्रमाणकताको अविवक्षित माना गया है ''**शास्त्रयोनित्वस्य शास्त्रप्रमाणकत्वाद् इतितु न अर्थः 'शास्त्राद्' इत्यनेनैव सिद्धो 'योनि'त्वांशप्रवेशस्य वैयर्थ्यात्**'' (शाक्त भाष्य १।१।३). फिरभी ब्रह्म और शास्त्र के बीच प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध दिखला कर ऐसे ब्रह्मको लक्षणतः स्वरूपतः प्रमाणतः और फलतः चतुर्धा अभिप्रेत मान कर द्वितीय सूत्रको ब्रह्मलक्षणनिरूपक तो मानते ही हैं (द्रष्ट.शाक्त भाष्य १।१।१). यह दोनों भाष्योंके बीच व्याख्याभेदके बावजूद रहा एक उभयसाधारण अभ्युपगम है.

वाल्लभ भाष्यके अनुसार तृतीय सूत्रमें जगत्समवायिता प्रतिपाद्य मानी गयी है :

> **''निमित्तत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वाद् मतान्तरनिराकरणत्वेन अग्रे वक्ष्यते. 'तद्'=ब्रह्मैव समवायिकारणम्. कुतः ? 'समन्वयात्'= सम्यग् अनुवृत्तत्वात्. अस्ति-भाति-प्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेण अन्वयात्. नामरूपयोः कार्यरूपत्वात्. प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वात्. अज्ञानात् परिच्छेदाप्रियत्वे, ज्ञानेन बाधदर्शनात्. नानात्वन्तु ऐच्छिकमेव, जडजीवान्तर्यामिषु एकैकांशप्राकट्-च्यात्... तस्माद् ब्रह्मणएव समवायित्वम्. एतत् सर्वं श्रुतिरेव आह 'स आत्मानं स्वयम् अकुरुत' (तैत्ति.उप.२।७) इति. निमित्तन्तु स्पष्टमेव सर्ववादिसंमतम्.''**
>
> (ब्र.सू.अणुभा.१।१।३).

यों दोनों सूत्रोंकी पारस्परिक संगतिके आधारपर ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता यहां सिद्धान्तित हुयी है. श्रुत्यर्थमीमांसार्थ समायोजित गोष्ठीमें न तो कोई अब्रह्मवादी विचारक उपस्थित हो सकता है और ब्रह्मको न निमित्तकारण और न विवर्तोपादानकारण या परिणाम्युपादानकारण दोनोंमें कुछ न माने ऐसा भी कोई वेदान्तव्याख्याता हो सकता है. अतः ब्रह्मकी निमित्तकारणता सर्ववादिसंमत है और उपादानकारणता इस अधिकरणमें प्रतिपाद्य है. यहां यह विशेषतः उल्लेखनीय है कि ''तत्तु समन्वयात्'' सूत्रमें जिज्ञास्य ब्रह्मकी जगत्कारणताके बारेमें सभी श्रुतियोंका समन्वित प्रामाण्य है ऐसा अभिप्राय मान्य नहीं है. क्योंकि वह तो सारे समन्वयाध्यायके विमर्शके बाद ही सिद्ध हो पानेवाले हेतु है. अतः शास्त्रारम्भमें तो उसे सिद्धवत् प्रस्तुत किया नहीं जा सकता. अतएव भाष्यकार कहते हैं **''वेदान्तवाक्यानाम् अस्मिन् शास्त्रे समन्वयएव प्रतिपाद्यते**

सन्देहनिराकरणद्वारा. तत् कथं सिद्धवद्धेतुत्वेन निर्देशः ? अग्रिमवैयर्थ्यं च...'' (वाल्लभ भाष्य १।१।३).

शाक्त भाष्यमें भी इसी तरह 'समन्वय'पदका अर्थ वाचनिक समन्वयके अभिप्रायवश न मान कर जिज्ञास्यभूत जगत्कारणरूप ब्रह्म सृष्टिरूप कार्यमें समन्वित रहता है ऐसे ही अभिप्रायवश स्वीकारा गया है **''तत्'=आद्यजन्मापादानत्वम्... 'समन्वयात्'=सम्यङ् नित्यो अन्वयः सम्बन्धो मेलनं चिदचितोः सम्बन्धः इति यावत्. तस्माद् नित्यसम्बन्धचिदचिदुभयात्मिका हि शक्तिः आद्यस्य(ब्रह्मणः) जनयित्री इति भावः''** (शाक्त भाष्य १।१।४). इस आद्यजन्मापादानत्वकी अवधारणाको स्पष्ट करनेको सर्वप्रथम पांच सम्भावित विकल्प पुरःस्थापित करते हैं : श्रुतिमें प्रयुक्त 'ब्रह्मयोनि' पदका अर्थ क्या [१]अचिन्मात्र लेना या [२]चिन्मात्र, या [३]निःसम्बन्ध चिदचिदुभय, या [४]अनित्यसम्बन्ध चिदचिदुभय अथवा [५]नित्यसम्बन्ध चिदचिदुभय लेना ?

तर्करत्न श्रीपञ्चानन भट्टाचार्यजी इन पांचोंमें से किसी भी कल्पको त्याज्य या अस्वीकार्य नहीं मानते हैं. अपने पाण्डित्यकौशल्यसे सभी कल्पोंको उपपन्न सिद्ध करते हैं. फिरभी उपक्रमप्रतिज्ञात नित्यसंबद्धचिदचिदुभयशक्तिके कल्पपर स्वीकृतिभार अधिक है. इसमें आधारभूत हेतु सत्तापदार्थकी उपनिषदुक्त अवधारणा एवं न्यायवैशेषिकाभिप्रेत अवधारणा के संवादार्थ प्रदर्शित प्रकिया विशेषतः अवधेय है :

> **''तस्य ज्ञानबलक्रियात्मिका या एका शक्तिः सा स्वाभाविकी ब्रह्मस्वरूपा इति एतदर्थकत्वात्. 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इत्यादिवद् वा तन्निर्देशात्. अन्यथा जननापादानत्वस्य सगुणव्याप्यतया निर्गुणश्रुतिः, संगव्याप्यतया निःसंगत्वश्रुतिः च व्याकुप्येतां, ब्रह्मणि जननापादानतायाः श्रुतिसिद्धत्वात्.**

नापि विवर्ताधिष्ठानस्य जननापादानत्वं... नच चिदचिदुभयस्य सगुणत्वव्याप्यजननापादानत्वस्य तत्रापि असम्भवः इति वाच्यं, वृक्षादौ कपिसंयोगितदभावादिवद् अवच्छेदकभेदेन सगुणत्व-निर्गुणत्वयोः तत्र सत्त्वेन जननापादानतायां सगुणत्वव्याप्यस्य अस्मन्मते बाधविरहाद् ब्रह्मणि चिदचिदुभयत्वावच्छेदेन चित्त्वावच्छेदेन वा निर्गुणत्वसत्त्वेऽपि अचित्त्वावच्छेदेन तत्र सगुणत्वस्य सत्त्वात्. एतेन संग-निःसंगत्वे च व्याख्याते.''

(शाक्त भाष्य १।१।४).

सर्वप्रथम इस शाक्तवेदान्तकी इस नूतन उद्भावनामें शक्ति और शक्तिमान् के बीच ब्रह्मत्व शक्तित्वावच्छेदेन है या शक्तिमत्त्वावच्छेदेन इस विकट समस्याका समाधान भट्टाचार्यजी ''पुरुषस्य चैतन्यं''न्यायेन विवक्षोपाधिक आरोपित द्वैतका अवलम्बन करके करते हैं. पश्चात् चिदचिदुभयात्मकताके अन्तर्गत अवच्छेदभेदवशात् चिदचित्प्रभेदको भी अनारोपित तथा अनवच्छिन्न तत्त्वैक्यका भी अवलम्बन कर, सम्भवतः ''विशिष्टः शुद्धाद् न अतिरिच्यते'' न्यायेन विभिन्न अवच्छेदकविशिष्टके अवच्छेदकावच्छिन्नोंके विभेद होनेपर भी अनवच्छिन्न तत्त्वके ऐक्यको भी परिभाषित कर रहे हैं. यहां उल्लेखनीय हो जाता है कि एतदर्थ भट्टाचार्यजीको सत्तासामान्यकी अवधारणाके अवलम्बनकी अपेक्षा यद्यपि नहीं है फिरभी अनेकानेक उपनिषदोंमें प्रतिपादित **''एकमेव अद्वितीयम्''**,**''एकमेव तद् एकं सद् न व्यभवत्''** (छान्दो.उप.६।२।१, बृह.उप.१।४।११) सदृश वचनोंमें प्रतिपादित होते एकत्वको भी अंगीकार करते हैं. केवलत्व और अद्वितीयत्व को एकार्थवाची मान कर दोनों पदोंके पृथक् अर्थकृत्य माने बिना **''स्वसत्ताव्यापकसत्तासम्बन्धेन वस्त्वभावत्वलक्षणक''** (शाक्त भाष्य १।१।४) अर्थात् ब्रह्मेतर कोई भी वस्तु ब्राह्मिकी सत्तासे व्याप्त ही होती है व्यापक नहीं, सो ऐसी ब्रह्मसत्तासे व्यापकसत्तारहित

होनेके अर्थमें ब्रह्मेतर वस्तुमात्रका अभाव होनेके कारण एक नूतन उद्भावना ब्रह्मकैवल्यकी यहां प्रस्तुत हुयी है. इस श्रुत्युक्त केवलत्वकी नित्यसम्बद्धचिदचिदुभयात्मक ब्रह्मके संगतिकी उपपत्ति भट्टाचार्यजी **''सत्ताविशेषवद्वृत्तिभेदाप्रतियोगी एकत्वम्''** (शाक्त भाष्य १।१।४) कह कर प्रदर्शित करते हैं. इस 'सत्ताविशेष'का स्पष्टीकरण देते हुवे सत्ता पदार्थ द्विविध माना गया है : १.अनित्यसत्ता २.नित्यसत्ता. घटपटादिमें पायी जाती सत्ता अनित्य तथा असंख्यात होती है सत्ताश्रयोंकी असंख्यताके कारण. नित्यसत्ताके तीन प्रभेद होते हैं : १.अपरिणामिनी २.समपरिणामिनी ३.एक कार्यके अनुकूल होनेपर भी विषमपरिणामद्वारा उपलक्षित. इनमें अपरिणामिनी सत्ता चिन्मात्रवृत्ति होती है. समपरिणामिनी सत्ता अचिन्मात्रवृत्ति होती है. तीसरी चिदचिदुभयवृत्ति होती है. विषमपरिणामविशिष्टमें पर्यवसित होनेवाली विषमपरिणामिनी सत्ता नित्य नहीं होती. क्योंकि प्रलयदशामें ऐसी सत्ताका अभाव रहता है. 'सत्ता'पदका अर्थ होता है कालके साथ सम्बन्ध. यह काल अचिद्रूपा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके रजोगुणका अंशभूत होता है. उभयात्मक ब्रह्म और पुरुष दोनोंमें कालसम्बन्धरूपा सत्ता नित्या ही होती है. केवल प्रकृतिकी सत्ता नित्य भी होती है और अनित्य भी. प्रकृति जब विषमपरिणामविशिष्ट सत्तावाले कार्य प्रकट करती है तब वह अनित्य क्योंकि ऐसे परिणाम प्रलयकालमें शेष नहीं रह जाते. अतएव उन्हें अनित्य माना जाता है. महदादि स्थूलान्त कार्योंकी सत्ता नित्य नहीं होती. क्योंकि जब ये कार्य अपने कारणोंमें पुनर्लीन हो जाते हैं तब कारणसत्ताकी दृष्टिसे ही उन्हें 'सत्' माना जाता है. भट्टाचार्यजी यह भी स्वीकारते हैं कि सम्बन्ध और सम्बन्धी भिन्नतया कहे जाते होनेपर भी सम्बन्धीसे भिन्न नहीं होते, जैसे स्वरूपसम्बन्ध या घटभेदाभाव घटत्वतुल्य नैयायिकोंके मतमें माना गया है (द्रष्ट.शाक्त भाष्य १।१।४).

अन्तमें भट्टाचार्यजीका यह भी खुलासा दिया है कि चिदचिदुभयवृत्ति नित्या सत्ता, जो सर्वविधसत्ताकी व्यापकरूपा सत्ता है, उसे चिन्मात्रवृत्ति और अचिन्मात्रवृत्ति सत्ताओंसे व्यापक माननेमें कोई आपत्ति उठ नहीं सकती. क्योंकि वैसे तो कुंभारके बनाये घड़ेका कर्तृत्व कुंभारमें रहता है फिरभी सर्वकर्ता ईश्वरमें भी घटकर्तृत्व भी स्वीकारना ही पड़ता है; अथवा, कपालोपादानक घटको मृदुपादानक भी मानना पड़ता है. ठीक इसी तरह महदादि प्राकृत पदार्थोपादानक जगत्को भी ब्रह्मोपादानक मानना आवश्यक है. इस तरह देखा जा सकता है कि प्रक्रियाभेदके समाश्रयणद्वारा भी शाक्तवेदान्त "तत्तु समन्वयात्" सूत्रमें वाल्लभवेदान्तकी ही तरह ब्राह्मिकी सत्ताको वस्तुमात्र समनुगत स्वीकारता है परिणामवादी और आरम्भवादी उभयविध कारणप्रक्रियाके समन्वयद्वारा.

अत: शाक्तवेदान्तमें भी [१]ब्रह्मवाद तो निश्चिततया अभ्युपगत है. इसी तरह [२]विरुद्धधर्माश्रयतावाद भी "**सर्वेषां धर्माणां विरुद्धानाम् अविरुद्धानां च चिदचिदात्मकब्रह्मणि उपपत्ते:**" (शाक्त भाष्य २।१।२७) कण्ठोक्तिस्वीकृत है. [३]अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद भी "**या खलु शक्ति: अस्मत्सिद्धान्ते 'ब्रह्म'इति 'परमात्मा' इति वा 'परमेश्वर' इति वा संज्ञायते सा न केवलं पुरुष: किन्तर्हि 'प्रकृतिश्च'=प्रकृतिरपि अनुपादानकत्वे सति उपादानभूतापि**", "**तस्माद् ब्रह्मणि अचिदवच्छेदेन परिणाम:, चिदवच्छेदेन अपरिणामित्वेपि चिदचिदुभयत्वसामानाधिकरण्येन परिणामित्वं कर्तृत्वं कारणान्तरत्वं च न अनुपपन्नम्**" (शाक्त भाष्य १।४।२३) कण्ठोक्त स्वीकृतिवश निर्विवाद मान्य है. इसी तरह [४]सत्कारणतावाद और [५]सत्कार्यतावाद भी शाक्तभाष्यको स्वीकार्य है यह "'**सदेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्' इत्यादि तत्र असत्पक्षनिराकरणेन सदनन्यत्वावधारणार्था... तत्र 'इदं'पदार्थस्य प्रागुत्पत्ते: 'सत्'शब्दवाच्येन कारणेन अभेदबोधकसमानविभक्तिवचननिर्देशात् कार्ये कारणाभेदसिद्धि:**"

(शाक्त भाष्य २।१।१८) इत्यादि वचनोंमें सुस्पष्टतया उपलब्ध होता है. परिणामवादकी स्वीकृति और आरम्भवादकी आत्यन्तिक अस्वीकृतिके कारण (द्रष्ट.शा.भा.२।२।१७) [६]आविर्भावतिरोभाववाद तो अगतिकतया सिद्ध ही हो जाता है. [७]अविकृतपरिणामवाद शाक्त वेदान्तमें, चिदंशको अविकारी माननेके वाल्लभ वेदान्तकी ही तरह अर्धजरतीयन्यायेन स्वीकार्य है. [८]कार्यकारण-अंशांशितादात्म्यवाद, अतएव, वाल्लभ वेदान्तकी ही तरह शाक्त वेदान्तमें भी माना गया है. वाल्लभ वेदान्तमें सच्चिदानन्दके सदंशोंमें तत्तद् नामरूपसंयोजनवशात् कार्यकारणभाव माना गया है, वही भट्टाचार्यजीका भी मत है. और चिदंशमें केवल अंशांशिभाव माना गया है. शाक्त वेदान्तमें, परन्तु, जीवात्माकी अंशरूपता स्वरूपांशरूपा न हो कर प्रतिबिम्बात्मिका मानी गयी है. भट्टाचार्यजी भी चिदंश जीवको शांकर वेदान्तकी तरह मिथ्या तो मान नहीं पायेंगे फिरभी. [९]लीलार्थ सृष्टिवाद तो **''लोकस्येव जनस्येव लीलाकैवल्यं लीलायाः कैवल्यम्. 'केवला'=प्रयोजनं विनैव प्रवृत्ता 'लीला'=क्रीडाविशेषः''** (शाक्त भाष्य २।१।३३) निजकण्ठाभ्युगत ही है.

यों शुद्धाद्वैतवादके घटक माने गये उपवादोंके निकषपर भी शाक्तवेदान्तका तुलनात्मक विमर्श करनेपर सरूपाद्वैत और शुद्धाद्वैत के बीच विलक्षण साम्य दृष्टिगोचर होता है. अन्य भी कतिपय मुद्दोंके बारेमें इसी तरह अभिमतिसाम्य है परन्तु प्रस्तुत आलेखमें अप्रसक्त होनेसे यहां उल्लेख अनावश्यक है.

(उपसंहार)

संक्षेपमें शाक्त वेदान्त वैसे तो न्यायवैशेषिक मतकी वेदान्तके साथ एकवाक्यता प्रदर्शित करनेको प्रवृत्त हुवा है, फिरभी इस नूतन अवधारणामें तादात्म्यका स्वरूप भेदसहिष्णु अभेदवादी न हो

कर अभेदसहिष्णु भेदवादी है. वैसे स्वयं भट्टाचार्यजीको वेदान्तके साथ न्यायवैशेषिक मतकी संवादिता दिखानेको न्यायवैशेषिकाभिमत अणुकारणतावाद और समवायसम्बन्धवाद की बली चढ़ानी पड़ी है. फिरभी वाल्लभवेदान्तकी ही तरह शाक्तवेदान्त तादात्म्यसे पृथक् समवायसम्बन्धको मान्यता प्रदान नहीं करता. प्रकारभेदसे भट्टाचार्यजी भी न्यायमतके तादात्म्यकी अवधारणाके निर्वाहार्थ तादात्म्यका द्वैविध्य भी दरसाते हैं :

> **'' 'शुक्लः पटः' इत्यादौ तादात्म्यसम्बन्धेन पटादौ शुक्लादेः प्रतीतिः... तथाच सर्वत्रैव अयुतसिद्धस्थले तादात्म्यमेव सम्बन्धो अस्तु किम् अतिरिक्तेन समवायेन?... भेदाभेदरूपत्वेन अभेदरूपत्वेन च तादात्म्यस्य द्वैविध्ये वृत्तिनियामकत्व-तदभावयोः उपपत्तेः यत्र भेदाभेदरूपं तादात्म्यं यथा रूपस्य घटे... भेदाभेदात्मकं तादात्म्यं तत्र वृत्तिनियामकं... स्वस्मिन् स्वस्य च कथमपि भेदाभावाद् अभेदएव तादात्म्यं यथा घटस्य घटे तत्र वृत्त्यनियाकम्''.**
>
> (शाक्त भाष्य २।२।१५)

एतावता तादात्म्यका अंगीकार और उसके निकष के पर्यालोचन करनेसे शुद्धाद्वैतवादके घटक उपवादोंके अभिप्रायवश इसे वैष्णव शुद्धाद्वैतवादका ही एक अभिनव शाक्त संस्करणके रूपमें मान्य करना उचित लगता है.

> ब्रह्मशक्त्या हि ब्रह्मात्मनामरूपविमोहितः ॥
> कृष्णनामरूपभक्तावनिरुद्धोऽप्यमूढधीः ॥१॥
> कृष्णास्यकृपयाविष्टो जिज्ञासाशेषभावतः ॥
> ब्रह्मशक्त्योर्हि मीमांसाऽऽलेखनं कृतवानहम् ॥२॥
> यश्चैको निरुपाधिको बहुविधैर्नामादिभेदैः स्वयम् ॥

चाविर्भूय प्रकाशते हि बहुधा स्वीये चिदंशे पृथक्॥३॥
पार्थक्यं नच तद् भवेदिह परं चात्यन्तिकी भिन्नता॥
नाप्यैक्यं तदनेकताविरहितं तादात्म्यमेवं विदुः॥४॥
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं प्रोक्तं यद् ब्रह्मणः श्रुतौ॥
श्रुतिगम्यं तदेकं वै सर्वदा शरणं मम॥५॥

श्रीहरिः

पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणाली

पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणालीकी भावात्मकता और मध्यकालीन रागतालाश्रित उसका कलेवर, इन दोनोंकी कुछ अपनी अनूठी विशेषता है.

आधुनिक युगमें यूरोपीय चिन्तनशैलीके पदार्पणके बाद हम भारतीयोंके भीतर किसी भी चिन्तन या कला की विधामें उसके स्वरूपघटक आत्मरूप और प्रर्वतनामें हेतुभूत प्रमाणभूमिकी जिज्ञासाके बजाय उनके इदमित्थं विकासकी विवेचनामें पूववर्ती किसी सदृश या विसदृश चिन्तन या कलाविधा के ऐतिहासिक प्रभावकी विवेचना काफी प्रबल हो गइ है. डारविन्के विकासवादी सिद्धान्त और आदर्श से अनुप्रेरित, जैसे किसी अबोध शिशुके हाथमें कोइ उपकरण आ जाये तो वह सर्वत्र उसे वापरनेको उद्यत हो जाता है. हम भी वैसै ही आरंभवादी या विकृत/अविकृत परिणामवादी कोई भी कार्य प्रकट हो ही नहीं सकता हो, ऐसी मानसिकताके आदी बन गये हैं. मैं भी यह तो नहीं मानता कि पूर्ववर्ती चिन्तनविधा या कलाविधा का उत्तरकालिक चिन्तनविधा या कलाविधा पर प्रभाव होता ही नहीं. अर्थात् विकासवादी दृष्टिकोण अप्रामाणिक ही होता है. मेरा मुद्दा उतना सा ही है कि अन्य भी दृष्टिकोण उतने ही प्रामाणिक हो सकते हैं.

पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणालीसे पूववर्ती वैदिक औपनिषदिक पौराणिक परम्पराओंका उत्स जो रहा है उसपर दृष्टिपात करनेपर इतरप्रभावग्राही विकासवादी व्याख्या पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणालीके मौलिक स्वरूपको समझनेके ही केवल एकमात्र वैचारिक उपाय नहीं है.

सुदूर पूर्वकालिक वैदिक परम्परामें **''आस्थापयन्त युवतीं युवानः शुभे निमिश्लां विधयेषु प्रजाम् अर्को यद्वो मरुतो हविष्मान् गायद् गाथं सुतसोमो दुवस्यन्''** (ऋक्संहि.१।१६७।६) ऋचाकी व्याख्यामें सायणाचार्य कहते हैं **''अर्चनसाधनमन्त्रोपेतः स्तोता वा हविष्मान् प्रदेयाज्यादिहविर्युक्तः सुतसोमो होमाय अभिषुतसोमो अयं यजमानः दुवस्यन् परिचरन गाथं गातव्यं स्तोत्रं गायत् गायति''** (ऋक्संहि.सा.भा.१।१६७।६).

एतावता सिद्ध होता याजन अर्चन कर्मके अनुष्ठानमें याज्य या अर्च्य देवके स्तोत्रोंको गानेकी परम्परा अतीव प्राचीन परिपाटी रही है. इन देवार्चना और अर्च्यदेवों की विविधता अवैदिकों चाहे जैसी क्यों न लगती हो वैदिक संहिताका अपना एक स्पष्ट दृष्टिकोण है कि **''[१]अग्निम् इळे पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजं होतारं रत्नधातमम्''** (ऋक्संहि.१।१।१) **''[२]त्वम् अग्ने... ब्रह्मा चासि... त्वं विष्णुः उरुगा यो नमस्य... त्वम् अग्ने रुद्रो... त्वं सहस्राणि शता दश प्रति''** (ऋक्संहि.२।१।१ - २) **''[३]त्वम् अग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः त्वे विश्वे सहसस्पुत्रदेवाः त्वम् इन्द्रो दाशु वे मर्त्याय''** (ऋक्संहि.३।१६।१) **''[४]भद्र कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येम अक्षिभिः यजत्रा स्थिरैः अंगैः तुष्टुवान्सः तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः''** (ऋक्संहि.१।८९।८) इत्यादि.

इन ऋचाओंमें हम देख सकते हैं कि पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीका जो असाधारण आत्मतत्त्व है, नामशः [१]एकदेवकी सर्वभावसे अर्थात् प्रमाण - प्रमेय - साधन - फलरूपेण आराधना, [२]अन्यान्य सभी अर्चनीय देवोंका उस आराध्य देवमें एकवद्भाव, [३]असंख्य देवोंका अपने आराध्य देवके नाम - रूप - कर्मतया संपरिज्ञान, [४]आराधनमें श्रवण - कीर्तन - परिचर्या विधिसे आत्मार्पण - विनियोजन. वह तो वैदिककालसे अनुवर्तमान आराधनाप्रणाली है.

यह तो वह हिमालय जैसा मूलस्रोत है जहांसे पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण वाहिनी साधनोपम अनेक नदियां बही हैं. इसी अविच्छिन्न प्रवहणशीलताके सातत्यको पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें भी निभाया गया है.

वैदिक बहुदेववाद/आधिदैविकवादकी देवरूपभेदोंकी लीलाकी पृष्ठभूमि तो **''यो देवानां नामधा एक एव''** (ऋक्संहि.१०।८२।३) अद्वैतवादके साथ-साथ प्रारंभसे ही सिद्धान्तित थी. और वही उपनिषदोंमें ब्रह्माद्वैतके रूपमें अधिक मुखरित हुई. इस ब्राह्म अद्वैतको अक्षुण्ण रखना हो तो कर्मयोगके बजाये ज्ञानयोगकी उपकारिताको दृष्टिगत रखते हुवे उपनिषदोंमें ब्रह्मतादात्म्यके दर्शनार्थ श्रवण मनन और निदिध्यासन पर भार दिया गया. ये देवयजनमें श्रवण-स्तोत्रगान और आजीवन यजनव्रत के स्थानिवद्भावापन्न थे. अर्थात् तात्पर्य यह है कि याज्यदेवताके रूपविशेष नामविशेष और कर्मविशेष को सुना-गाया जा सकता है परंतु सर्वरूपा सर्वनामा सर्वकर्मा ब्रह्मको तो सुनकर मनन-निदिध्यासन ही किया जा सकता है. एतावता देवताओंके द्वैत और ब्रह्मके अद्वैत को इतरेतरविरोधि या इतरेतरव्यावर्तक माना नहीं जा सकता. क्योंकि वेद-उपनिषदोंका भी यह सुस्पष्ट उद्घोष था :

''अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति.''

(बृह.उप.२।१।२०).

''तस्याः शिखायाः मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्.''

(महाना.उप.११।१३).

''तद् यथा रथनाभौ... चाराः सर्वे समर्पिताः एवमेव अस्मिन् आत्मनि... सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः

समर्पिताः... इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते... अयम् आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः.''

(बृह.उप.२।५।१५-१६).

''यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अंगे गात्रा विभेजिरे तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः.''

(अथ.संहि. १०।७।१६।२७).

पुराणकारने भी इसी श्रौत परम्पराका निर्वाह करते हुवे जिस देवविशेषको प्रधान बनाकर जिस पुराणका प्रणयन किया उस पुराणमें उस देवको ब्रह्मका अन्यतम रूप दरसानेको, इतर सभी देवोंको गौण बना दिया. अतः स्वरूपतः भी अवरकोटिके और कथातः भी उनको उनके माहात्म्यको घटाकर वर्णित किया. यह ठीक वैसे ही जैसे वैदिक संहिताओंने प्रजापति अग्नि वरुण रुद्र सूर्य या मरुद् देवताओंको तत्तत् सूक्तोंमें उस विशेष देवकी सर्वोपरिता और इतर देवोंकी गौणिता दरसाई थी. इन वैदिक देवताओंकी तुलनामें पौराणिक विष्णु ब्रह्मा शिव शक्ति आदि देवताओंको पुराणकारोंकी कल्पनाके रूपमें झुठलाना आधुनिक लेखकोंको अपनी विकासवादी होनेकी मानसिकताके अनुरूप एक मीठीसी संतोषकी आन्तरिक तुष्टि लगती है. वह तो सभी आस्थाशील और अनास्थाशील विचारकोंकी विश्वव्यापी मानसिकता है!

न केवल वैदिक ब्राह्मण-परम्परा प्रत्युत अवैदिक जैन बौद्ध परम्परा में भी आस्थाशील विद्वानोंको डारविन्के विकासवादमें आस्था न होनेके कारण वह वैज्ञानिक तथ्य नहीं परन्तु वैज्ञानिकोंकी कल्पना लगती है. अवकाशयानो युगके आरंभके साथ यूरोप - अमेरीकाके अनेकों अनीश्वरवादी लोग मनुष्यप्राणीको भौतिक प्राणिविकासकी शृंखलाके रूपमें मान्य करनेके बजाय किसी अन्यग्रहके प्राणिओंद्वारा

पृथ्वी पर विकसनार्थ छोड़े गये प्राणी मानने लगे हैं. उनके अनुसार विविध जातियोंके प्राकृतिक पर्यावरणमें स्वाभाविक विकासके हेतु एक जातिविशेषके मानवप्राणीको पृथ्वीकी प्राकृतिक लेबोरेटरीमें परीक्षणार्थ छोड़ा गया मानते हैं.

वैदिक संहिताओंमें और उपनिषदोंमें भी पुराणका या पौराणिक कथाओंका या पौराणिक देवताओंका उल्लेख न मिलता हो ऐसा तो नहीं हैं. द्रष्टव्य : **''यद् ऋचो अध्यगीषत ताः पयआहुतयो देवानाम् अभवन्... यद् ब्राह्मणानि इतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी''** (तैत्ति.आर.२।१०।१). फिर भी पाश्चात्य मानसिकताके शिकार हो कर हम पुराणोंको वेदोंके अंगभूत साहित्यसे काट कर मूल वैदिक धर्मके स्वरूपकी मनमौजी कल्पनाओंमें रमे रहना चाहते हैं.

अतएव पुराणोंमे आस्थाशील शैव वैष्णव या शाक्त परम्पराने पहले कभी अपने इष्टदेवसे भिन्न देवकी प्रधानताको पुरस्कृत करनेवाले पुराणोंको अपने देवको नीचे दिखानेके अपराधवश कल्पित नहीं माना. यह शैव-वैष्णव-शाक्त पुराणोंके आधारपर अपने-अपने इष्टदेवकी महिमाका गान करते हुए, शैव-वैष्णव आदि ग्रंथोंमें मिलती चर्चाके आधारपर भी स्पष्ट देखा जा सकता है.

इनमें वैष्णव पुराणोंमें अग्रगण्य भागवतपुराणको वेदान्ततात्पर्यके निर्धारणमें सर्वसन्देहवारक माननेवाले वाल्लभ सम्प्रदायमें श्रीकृष्णकी साधनायें भगवद्गीताके आद्य भाष्यके रूपमें निहारा है. अतः भगवद्गीताके —

''अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुम् आश्रितम्. परं

भावं अजानन्तो मम भूतमहेश्वरं मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः राक्षसीम् आसुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः. महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः. भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्. सततं कीर्तयन्तो... मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते.''

(भग.गीता. ९।११ -१४).

इसी सन्दर्भको थोड़े और विस्तारके साथ भागवतपुराणमें श्रीकृष्ण और उद्धवके संवादके रूपमें देखा जा सकता है :

''भक्तिस्त्वयि उपयुज्येत किदृशी?... त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ?''

प्रश्नके समाधानतया

''ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशो भजन्ति अनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः. मल्लिंगमद्भक्तजनदर्शन-स्पर्शनार्चनं परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनं... मज्जन्मक-र्मकथनं मम पर्वानुमोदनम्. गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिः मद्गृहोत्सवः.''

(भाग.पुरा.११।११।२६-३६)

भगवानने खुलासा देते हुवे भक्तिमार्गके वाल्लभ सम्प्रदायमें अपनाये जानेवाले स्वरूपकी नींवकी तरह स्थापित किया था.

इस तरह निःसन्देह देखा जा सकता है कि पुष्टिमार्गीय सेवाकीर्तनप्रणाली वैदिककालसे सतत प्रवर्तमान होती हुई पौराणिककालमें अंकुरित पल्लवित पुष्पित हुई एक साधनाप्रणाली है, इसे ही

महाप्रभु वल्लभाचार्यने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीकी फलितावस्थाके रूपमें प्रस्तुत किया है.

यह कथा केवल साधनाप्रणालीकी ही नहीं प्रत्युत इसमें आवश्यक अंगतया निर्धारित की गयी अन्य भी आवश्यकता, यथा, निजगृहमें निजी आराध्य भगवन्मूर्तिकी भक्तिसाधनामें निजदेह-गेह-परिवारजन-धनके विनियोगके बाद ही उनका भगवत्प्रसादतया भावपूर्ण उपभोग करना आदि शामिल हैं. ये ऐसे अंग हैं जिनका स्रोत श्रुतिरूप हिमालयसे बहती पौराणिक साधनाप्रणालीके तटपर ही विकसित हुआ है.

स्वाभाविक है कि जिस देशकालमें जो भी अनुष्ठानौपयिक सामग्री उपभोगार्थ उपलब्ध हो पाती हो उसका ही तो विनियोग शक्य होगा. क्योंकि महाप्रभु वल्लभाचार्य भी अपनी चिरंतन पुष्टिभक्तिप्रणालीको किसी देश-कालकी मर्यादामें अव्यवहार्य नहीं बनाना चाहते. अतः भक्त देश-कालकी जिन मर्यादाओंमें घिरा हुआ होता है उसका ही तो वह निज उपभोगार्थ ग्रहण करेगा. सो अपने उपभोगसे पूर्व उन उपभोगार्थ सामग्रिओंको भगवत्सेवामें उपयोगमें लानेके बाद उपभोग करना भक्तिका प्रमुख अनुभाव माना गया है.

प्रस्तुत लेखकके गुरु तथा पिता गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज ईरानी सूफी कव्वालियोंके निरतिशय शौकीन थे. सो परंपरामें प्रचलित कीर्तनोंको गानेके बाद एकाद सूफी कव्वालि अपने आराध्य देवको अतिशय भावविभोर होकर सुनाते थे! हमारे पड़ोसमें रहनेवाले श्रीशान्तिकुमार नरोत्तम मुरारजी सींदियास्टीम नेविगेशनके मालिकके घरमें महात्मा गांधी अक्सर मुंबईमें निवासार्थ आनेपर मुकाम करते

थे. गांधीजीके साथ अपनी ऐसी घनिष्ठताके कारण शांतिकुमारभाई खुदके ठाकुरजीके श्रीहस्तमें वेणुवेत्रकी तरह कोंग्रेसी झंडा भी स्वातन्त्र्यदिनपर धराते थे!

बहुधा लोगोंको भ्रान्ति सताती है कि पुष्टिमार्गीय पदकीर्तन केवल व्रजभाषामें ही गाये जाते हैं या गाये जाने चाहियें. जबकि वास्तविकता यह है कि कीर्तनपदकार गुजरात सौराष्ट्र राजस्थान उत्तरप्रदेश पंजाब आदि अनेक प्रान्तोंसे स्वयं महाप्रभुके कालसे अद्यावधि होते रहे होनेके कारण कई सारी भाषाओंमें उपलब्ध होते हैं.

उसी तरह पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणाली भी श्रीकृष्णलीलाकी रसात्मिका साधना होनेके कारण आराध्य भगवद्विग्रहको भक्तिरसके आलंबनविभावके रूपमें निहारती है. शृंगार पिछवाई सजावट आदिको उद्दीपनविभावके रूपमें. सेवाकर्ताके लिये स्वयंको, अपने भक्तपरिजनोंके साथ, उस कृष्णलीलाके रसिक साक्षिके रूपमें निहारकर उस कृष्णलीलाकी स्क्रिप्ट और डायलोग के रूपमें लीलापदोंके कीर्तन गाये जाते हैं. एतदर्थ यदि विसम्प्रदायी जयदेव, सूरदासमदनमोहन, हितहरिवंशजी आदि के पद रसानुभूतिको बढ़ाते हों तो गानेकी छूट, स्वयं महाप्रभुने प्रदान की है. अन्यथा स्वयं महाप्रभु विरचित पद भी सम्प्रदायमें इन पांचसो वर्षोंमें न तो सेवामें प्रयुक्त हुवे और न प्रकाशित ही, तेलगुभाषासे संपर्क टूट जानेके कारण!

यही कथा राग-तालशैलीके बारेमें भी खरी उतरती है. बहुतसारे लेखक पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणालीको ध्रुपदशैलीके दायरेमें बांधना चाहते हैं. वह तो एक सरसरी निगाहसे भी देखने पर पुष्टिमार्गीय सभी कीर्तन ध्रुपद अंगमें गेय पद सिद्ध नहीं होते.

स्वयं ध्रुपदशैली भी प्राचीन भरतनाट्य शास्त्र आदिमें वर्णित ध्रुवागीतिके मौलिक स्वरूपसे एक लम्बी यात्राके बाद उत्तरभारतके चतुर्विध ध्रुपदबानी : डागुर नोहर गोवरहारी खंडार शैलीमें विकसित हुइ है. पुष्टिमार्गीय गेयपद इन शैलीयोंमें गाये नहीं जाते हैं. इन्हें पांचवी शैली मान लेने पर भी प्रबंधगानके रूपमें पुष्टिमार्गीय पद शैलीमें गाये जन्माष्टमी अन्नकूट होली के पदोंमें अस्थायी अन्तरा आभोगी और संचारी के चार अंग उपलब्ध नहीं होते. राजभोग और शयन के पद अवश्य उन चार अंगोंमें मूलत: गाये जाते होंगे. उत्तरकालिक गानशैलीके विकास या ह्रास के वश परन्तु अब तो दो ही अंगोंमें गाये जाते सुनाई देते हैं. अवशिष्ट मंगला-पलना-पोढ़ाने और माहात्म्य-दीनता-आश्रय के पद जो आलापशैलीमें गाये जाते हैं किन्तु ध्रुपदके आलापसे तो यहां भिन्न ही विधा गुनगुनानेसे थोड़ी अधिक स्वीकारी गयी है. फागुनके रसिया और पंजाबी शैलीकी 'वाहजी वाह वा' जैसी बधाई या चोखराका भी ध्रुपदशैली सर्वथा भिन्न ही होना सन्देहातीत है.

इसी तरह स्वयं कीर्तनके पदोंमें उल्लिखित सरगमकी तान अतीत/अनागत सम या औघड़ विकट तान आदि भी वर्तमान गायनमें लुप्त हो गयी है. ये पूर्वमें कभी गायी जाती होंगी. हो सकता है कि ये सब कुछ सरलीकरणके चक्करमें प्रकट हो गया हो. किसी भी सूरतमें समग्र पदसाहित्यको ध्रुपद-अंगके दायरेमें सीमित मानना संगत नहीं लगता.

इसी तरह रागोंके रूपोंमें भी जो पृथक्ता मिलती है वह भी मूलस्वरूप क्या-कैसा था उसके विवादग्रस्त होनेसे निर्धारणार्ह नहीं है. मूलमें रचनाकार भक्तकविओंने जिन रागोंमें गानेके निर्देश

दिये हैं, संग्रहकारोंने तत्तद् घरोंमें गायी जानेको अभीष्ट रागरागिनिओंमें परिवर्तित कर दिया है. वर्तमानमें सुनी-मानी जाती प्रमुख शैलीओंके भेद यथा गोकुल-कामवनशैली, कांकरोली-नाथद्वाराशैली तथा गुजरात-सौराष्ट्रशैली, इसी तरह नि:शेष होने जा रही किशनगढ़शैली और बनारसशैली भी थी. इसी तरह लुप्तप्राय: मथुराकी ठुमरी अंगवाली शैलीकी कथा है. इनके आन्तरिक प्रभेद भी इस तथ्यकी गवाही देते हैं कि मूलमें कभी इन शैलीभेदोंको बढ़ावा देनेवाले कुछ न कुछ तत्त्व तो विद्यमान रहे ही होंगे.

यद्यपि भगवत्सेवामें नहीं गाये जाते परन्तु गुजराती धौलपदकी गायनशैलीको भी पुष्टिमार्गीयशैलीमें नहीं गिनना मुझे एक संकीर्णता भरी मनोवृत्ति प्रतीत होती है.

वर्तमानमें संगीतमार्तण्ड पण्डित जसराजद्वारा थोड़े-बहुत खयाल अंगसे गाये जाते पदोंके बारेमें भी कई आलोचकोंके हृदयमें बड़ी ऊहापोह मची हुयी है. परन्तु कृष्णदासजीकी वार्तामें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि आगराकी नर्तकी बालिकाके कंठसे **''मो मन गिरधर छबि पे अटक्यो''** पद खयालशैलीमें ही तब भी गवाया गया था!

इन सब मुद्दोंको छेड़नेका प्रयोजन एकमात्र यही है कि पुष्टिमार्गीय कीर्तनशैली न तो निबद्ध (फिक्स्ड्) नोटेशनवाली जीवितशैली है; और, न मृतसंगीतशैली ही है.

आपसी चर्चामें एकबार नि.ली.प्रथमेश गो.श्रीरणछोड़ाचार्यने मुझे गाके सुनाया था कि जैसे वैदिक सूक्तोंको क्रम-जटा पाठोंमें गाया जाता है वैसे ही एक सीमितमात्रामें उनका प्रयोग हमारे यहांकी कीर्तनशैलीमें हो सकता है - वाक्यरचनामें कोई विसंगत अर्थध्वनि

जुड़ न जाती हो तो!

अतः निष्कर्षतया यही कहना चाहूंगा कि पुष्टिमार्गीय कीर्तनप्रणालीको मुंबई आकाशवाणी केन्द्रद्वारा लगाये मिथ्या लेबल 'हवेलीसंगीत'की तरह न तो इन्हें तथाकथित हवेलिओंमें बांधना उचित है और न ध्रुपदशैलीके सीमित दायरेमें ही. यह तो बहु-आयामी एक अनूठी शैली है. जिसमें शास्त्रीय उपशास्त्रीय लोकगीत आदि सभी शैलियोंका एक सागर लहरा रहा है.

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीकृष्णभक्तिकी उफनती दिव्य सरिता मीराँ

वाल्लभ तत्त्वदर्शन-धर्मसाधना और सांप्रदायिक इतिवृत्त का सन्दर्भ

१.''सब कुछ भगवान्‌से प्रकट हुवा है और सब कुछ भगवद्रूप है'' भगवान्‌के ऐसे माहात्म्यज्ञानके साथ जो भगवान्‌की श्रवण आदि नवधा साधनाभक्ति और फलरूपा प्रेमात्मिका भक्ति कर पाता हो उसे उत्तमाधिकारी जानना चाहिये. हृदयमें भगवत्प्रेम प्रकट न हो पाता हो फिरभी श्रवणादि नवधा साधनाभक्ति करनेवाला मध्यम कोटीका अधिकारी होता है. माहात्म्यज्ञानके बिना सप्रेम नवविध साधनरूपा भक्ति करनेवालेको भी मध्यम कोटीका ही अधिकारी जानना चाहिये. न माहात्म्यज्ञान और न भगवत्प्रेम फिरभी नवधा भक्तिकी क्रियामात्र निभानेवालेको आदिम कक्षाका अधिकारी मानना चाहिये. क्योंकि नवधा भक्तिरूप सत्कर्मके वश उसका केवल पापनाश हो पाता है और कुछ भावविकास हो नहीं पाता.

२.जीवात्माओंके विभिन्न स्वरूप अंग और क्रियाकलापों-वाली सृष्टिके प्रभेद यों जानने : भगवान्‌की इच्छा मात्रद्वारा अर्थात् मनके अनुरूप जीवात्माओंके भीतर संसारमें रचीपची रहनेवाली प्रवाही सृष्टि प्रकट होती है. श्रीहरिके वाणीरूप वेदोंके अनुसार वैदिक मर्यादाओंका अनुसरण करनेवाली मर्यादासृष्टि प्रकट होती है. भगवान्‌के भक्तानुग्रहार्थ प्रकट स्वरूपके अनुसार भगवद्‌भक्ति करनेवाली सृष्टि पुष्टिसृष्टि होती है. इन त्रिविध सृष्टिओंमें प्रकट होनेवाली जीवात्माओंको फलदान भी स्वयं भगवान्‌की इच्छाके अनुरूप होता है.

यथा प्रवाही सृष्टिके जीवोंको भगवान् मनचाहा फल प्रदान करते हैं. वेदोंमें जिन कर्मोंके जैसे फल प्रतिपादित हुवे हैं, वैसे फल मर्यादाजीवोंको मिलते हैं. भगवान् स्वयंके साक्षात् स्वरूपद्वारा जैसा फल प्रदान करना चाहते हों वैसा फल पुष्टिजीवोंको भी प्रदान करते हैं. एकमात्र अद्वितीय भगवान्की ही, अनेक रूप धारण करनेकी, इच्छासे ऐसी तीन तरहकी सृष्टि और तीन तरहके फल मिलते हैं. अर्थात् स्वरूपगत एकताके बावजूद स्वयं भगवान्की त्रिविध इच्छाओंके कारण जीवसृष्टि त्रिविध बन जाती है... इस तरह सर्गभेदके बाद अब फलभेद भी जान लेना चाहिये : इस सृष्टिमें भगवान् अनेकविध गुण और स्वरूप के प्रभेदवश स्वयं भगवान् अनेकधा प्रकट होते हैं. हरेक रूपमें सृष्टिके उपादान कर्ता होनेकी तरह अनेकविध फलोंके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही भूतलपर प्रकट होते हैं. अतः जो रूप भगवान्ने धारण किया हो अपने उस रूपके लिये वैसे फलरूप भी भगवान् ही बनते हैं.

(१.त.दी.नि.१।१०१-१०२, २.पु.प्र.म.८-१७)

(१.वाल्लभ तत्त्वदर्शन-धर्मसाधनाका सन्दर्भ)

यह वाल्लभ तत्त्वदर्शन महाप्रभु वल्लभाचार्यका मौलिक चिन्तन है, ऐसा न तो स्वयं महाप्रभुका दावा है और न भारतीय वेदान्तचिन्तनके इतिहासका भलीभांति विमर्श करनेपर ऐसी धारणा प्रामाणिक मानी जा सकती है. स्वयं महाप्रभु अपने आद्यग्रन्थ तत्त्वार्थदीपनिबन्धके उपसंहारमें श्रीमध्वाचार्यका एक वचन घोषित करते हैं "**अर्थो अयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव**"[१].

अर्थात् वेद रामायण महाभारत पंचरात्र ब्रह्मसूत्र में जो कुछ कहा गया है वही महाप्रभुने भी स्फुट करना चाहा है. यह बात आर्ष शास्त्रों तक ही सीमित हो ऐसा नहीं है प्रत्युत इन शास्त्रोंकी व्याख्याओंके उत्तरकालीन इतिहासमें भी अनेकानेक चिन्तकोंने इस अवधारणाको प्रतिपादित किया था. मनुस्मृतिव्याख्या, पतञ्जलिके पाणिनिसूत्रोंपर महाभाष्य, भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके उपनिषद्भाष्य, काश्मीरके श्रीअभिनव गुप्त आदिके प्रत्यभिज्ञा दर्शन आदि अनेकानेक ग्रन्थोंके अन्त:साक्ष्यके आधारपर यह प्रमाणित होता है.

यद्यपि प्रस्तुत आलेखका विषय नहीं है, फिरभी यहां यह उल्लेख कर देना इसलिये आवश्यक लगता है कि आधुनिक कालमें 'संप्रदाय' निन्दार्थक शब्द बन गया है, जबकि प्राचीन कालमें 'संप्रदाय' शब्द आदरणीय विचार या आचार की परम्पराके अर्थमें प्रयुक्त होता था. अतएव श्रीशंकराचार्य १.बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य और २.भगवद्गीतोपनिषद्भाष्य में **"ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्य:"**, **"तेतु कुतर्कदूषिता-न्त:करणा:... अनुकम्पनीया: आगमार्थविच्छिन्न-सम्प्रदायबुद्धय:"**, **"तस्माद् असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेव उपेक्षणीय:"**[२]. संप्रति ऐसी धारणा सर्वमान्य हो पाती हो या न हो पाती हो परन्तु इतना तो निश्चयेन कह सकते हैं कि 'संप्रदाय' शब्दका निन्दाके अर्थमें प्रयोग पहले नहीं होता था. वर्तमान कालमें असंप्रदायवादी संप्रदाय(!)ने अवश्य ही इसे निन्दार्थक बना दिया! वह कथा दूसरी है.

अत: प्राचीन मान्यता ऐसी थी कि पारंपरिक तथ्य या धारणा के बारेमें असांप्रदायिक होना, व्यक्तिकी अविश्वसनीयताका हेतु माना जाता था. अतएव भक्तशिरोमणि मीराँका किसी भी भक्तिसंप्रदायसे जुड़ा नहीं होना, तत्तद् भक्तिसंप्रदायोंकी दार्शनिक

विचारधारा या भक्तिसाधनाके प्रणाली के विशेष सन्दर्भमें अनुमोदनीय न भी माना गया हो तो कोई विस्मयजनक बात नहीं. अर्थात् तत्तत् संप्रदायोंने उतने आदरभावसे मीराँको न भी निहारा हो, एतावता मीराँबाईकी परमकाष्ठापन्न श्रीकृष्णभक्तिकी दिव्यताके बारेमें भागवतसंप्रदायके अनुगामीका आपत्ति जताना तो कथमपि युक्त हो ही नहीं सकता.

साथ ही साथ ऐसे मतभेदोंको सांप्रदायिक मनोमालिन्य मानना भी एक दूसरा अतिरेक है. यह तो असंप्रदायवादिओंके नूतन संप्रदायकी सांप्रदायिकताके प्रति मनोमालिन्यमूलक एक नूतन सांप्रदायिक(!) अवधारणा है. अन्यथा कितने सारे तत्तद् विशेष संप्रदायके अनुगामी भक्तोंने ही, जो अपने संप्रदायके अनुगामी नहीं थे, ऐसे भक्तोंके भी जो इतिवृत्त संकलित किये थे उसका निहितार्थ हम समझ नहीं पायेंगे! ये इतिवृत्त विसंप्रदायी जनोंको अभक्त मान कर नहीं प्रत्युत भक्त मान कर ही लिखे गये. इस विषयमें अलग-अलग संप्रदायोंके, नामशः, नाभादासजी प्रियदासजी राघवदासजी ब्रह्मदासजी नागरीदासजी दयारामभाई भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदिके ग्रन्थ ही सर्वसन्देहवारक मुखरित प्रमाण हैं. क्योंकि "**भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक, इनके पदवन्दन करे नाशे विघ्न अनेक**"[३] मनोभाव इन सभी इतिवृत्तकरोंका था. अन्यथा श्रीसावंतसिंह नागरीदास भी तो वल्लभ-संप्रदायके भगवत्सेवाकीर्तनपरायण अनन्य भक्त होनेके बावजूद जो "**मेरे येई वेदव्यास श्रीहरिवंशऽरु व्यास गदाधर परमानन्द नन्ददास... तुलसीदास मीरां माधव उभै नागरीदास... श्रुति पुरान मेरे इनके पद हों श्रोता ये वक्ता...**"[४] स्वीकार कर रहे हैं ऐसा कर नहीं पाते. मीराँके साथ वल्लभ-संप्रदायको कोई असूया या स्पर्धा होती तो मीराँबाईको ऐसे कैसे बिरदा सकते थे? भक्तकवि दयारामभाईने भी पुष्टिमार्गके अनन्यभावसे अनुगामी

होनेपर भी मीराँबाईका भावपूर्ण चरित्र लिखा. और उसके उपसंहारमें **''चरित्र ए जे मीराँबाईनुं रे जे कोई शीखे सांभळे ने गाय प्रेमे भक्ति तेहने मळे रे त्रुठे दयानो प्रीतम व्रजराय''**[५] अर्थात् मीराँबाईके चरित्रको जो सीखेगा सुनेगा या गायेगा उसे भक्ति मिलेगी और दयारामका प्रियतम व्रजराय उसपर प्रसन्न होगा. यदि वल्लभ-संप्रदायको मीराँबाईके साथ रागद्वेष होता तो दयारामभाई संप्रदायसे विरुद्ध जा कर ऐसा कहनेका साहस कभी कर ही नहीं सकते थे. इसी तरह ८४ वै.वा.से ले कर उत्तरार्धभक्तमालकार भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रके कालतक रामदासजी और मीराँबाई कलहकी वार्ता वल्लभसंप्रदायमें विस्मृत तो नहीं हुयी थी. **''मीराँबाईकी प्रोहिती रामदासजू तजि दई, हरिगुरु परम अभेदभाव हियेजु रहत सदाई. याहीतें गुरु-कीरति इन हरिसन्मुख गाई, मीराँ भाख्यो हरिचरित्र गावो द्विजराई. सुनि अति कोपे इन जाने नहि वल्लभराई...''**[६] ऐसा भारतेन्दुका कथन ही प्रमाण है.

यह तो कुछ भी नहीं चैतन्यचरितामृतकार कृष्णदास कविराज तो इससे कहीं अधिक अतिमर्याद हो कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके बारेमें यद्वा-तद्वा 'कौएके जैसे काले' आदि क्या-क्या अपशब्द नहीं वापरते! फिरभी उस संप्रदायके भक्तोंके चरित्र भी अति-आदरभावसे भारतेन्दुबाबुने गुंफित किये हैं. साथ ही साथ बेझिझक खुदके उत्तरार्ध भक्तमालके बारेमें यह भी कहते हैं **''नाभाजी महाराजने भक्तमाल रसजाल... ता पाछें अब लों भये जे हरिपदरत संत, तिनके जस सोइ हरि कहं अति कंत... जय वल्लभ-विट्ठल जयति जैजै पिय नंदलाल जिन बिरचि प्रेमगुन गुथी भक्तिकी माल...''**[७] निष्कर्षरूपेण यह कहना चाहूंगा कि एक ही संप्रदाय या दो भिन्न-भिन्न संप्रदायके भक्तोंकी आपसी बोलाचालीमें कभी परस्पर कोई कटुवचनके प्रयोग हो भी गये हों, एतावता वहां सांप्रदायिक असहिष्णुताके

ओछे खयाल बांधने नहीं चाहिये. अस्तु.

श्रीमद्भागवत पुराणके सातवें स्कन्धमें युधिष्ठिर-नारद संवादमें यह निसंदिग्धरूपेण स्पष्ट किया गया है कि परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके लिये न कोई अपना और न कोई पराया है, न कोई द्वेष्य और न कोई प्रिय ही होता है. फिरभी जो-जो जैसे भावोंसे उन्हें अनन्य ऐकान्तिक भावसे भजता है, उसके लिये भगवान्का स्वरूप वैसा ही प्रकट हो जाता है. भगवान्के इस ऐसे स्वरूपके विवरणमें निष्कर्षतया **''कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्या ईश्वरे मनः आवेश्य तदघं हित्वा बहवः तद्गतिं गताः... तस्मात् केनापि उपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्''**[८]. अर्थात् भागवतके भगवान् श्रीकृष्ण यदि किसी एक भक्तिसंप्रदायमें कैद होते तो, काम द्वेष भय स्नेह आदि किसी भी तरह उनके साथ मन लग जानेपर, जीवके उद्धारार्थ सक्षम माने नहीं जा सकते. अतएव किसी भी संप्रदायने कमसे कम द्वेषवाले मनोभावको भगवत्प्रापिका साधनाके रूपमें मान्य नहीं किया गया. फिरभी द्वेषभावद्वारा भगवान् प्राप्त नहीं होते ऐसा कहनेका साहस भी किसी संप्रदायने प्रकट नहीं किया है. केवल श्रीकृष्णके साथ ही कितने सारे भक्तिसंप्रदाय जुड़े हुवे हैं, उनमें परस्पर असहिष्णु मतभेद या वैरभाव भी हो सकते हैं, भीष्म-कर्ण और उन दोनोंको मारना चाहते अर्जुनकी तरह. अर्जुनको परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका ब्रह्मज्ञानियोंके जैसा केवल साक्षात्कार ही नहीं अपितु सख्यभाव भी सिद्ध था फिरभी आपसी रागद्वेषसे तो मुक्त नहीं थे. श्रीकृष्ण, किन्तु, दोनों ही विरोधी दलोंके प्रेमास्पद होनेकी दिव्य मोहकता निभाये रखते हैं.

ऐसी स्थितिमें श्रीराम या श्रीशंकर देवी या गणपति आदि

के विभिन्न भक्तिसंप्रदायोंको भी जोड़ कर चलें तो उनके पारस्परिक मतभेदोंमें दूसरा कोई मानदण्ड कैसे अपनाया जा सकता है? स्वयं भगवद्गीताके उपदेष्टा जब **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्''**[९] ऐसा विधान करते हों तो कौन श्रीकृष्णभक्त उसे सिद्धान्ततः अस्वीकार कर सकता है. यह ज्ञातव्य तथ्य है कि वल्लभ-संप्रदायमें कृष्णसेवाका ही विधान है फिरभी श्रीरामनवमीके उत्सवमें श्रीतुलसीदासजी श्रीहितहरिवंशजी सूरदास मदनमोहन आदिके भी पद गाये जाते हैं. सांप्रदायिकताकी ऐसी अपनी अनन्यनिष्ठाके साथ दूसरेकी भी खुदके संप्रदायके प्रति अनन्यनिष्ठाके प्रति आदरभाव निभानेकी इस विशेषताको ध्यानमें रखे बिना मीराँ और विभिन्न भक्तिसंप्रदायों के संबन्धोंका आकलन करनेपर दोनोंके साथ अन्याय हो जाता है, जो कदाचित् दोनोंको ही अनभिप्रेत था. भगवद्गीताद्वारा प्रशंसित स्वधर्मनिष्ठाका सिद्धान्त किसी एक धर्मके सन्दर्भमें न हो कर सभीके लिये अपने-अपने धर्मके सन्दर्भमें ही विभिन्न संप्रदायोंको लेना चाहिये **''स्वे-स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः''**[१०] न्यायके अनुसार.

अतः वल्लभसंप्रदायके दार्शनिक चिन्तन और धार्मिक साधना की सांप्रदायिक दृष्टिसे भक्तशिरोमणि मीराँका चरित्र या भक्तिभाव अस्वीकार्य या आलोच्य हो, तो भी, भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य मोहक सर्वभावानुसारिताके सन्दर्भमें श्रीकृष्णभक्तिकी उत्कृष्टतम मूर्तिमती अभिव्यक्ति मीराँबाई थी, इसे कोई भी इन्कार नहीं सकता.

वैदिक कर्मकाण्डमें स्वयंके अभीष्ट देवता अग्नि आदित्य सोम प्रजापति इन्द्र वायु अश्विनी आदि अनेकानेक देवताओंकी आराधना प्रायः प्रत्यक्ष अग्निदेवको माध्यम बना कर अनुष्ठित होती थी. वहां भी कहा गया है कि **''यस्य वा अयथादेवतम्**

अग्निः आधीयते, आ देवताभ्यो वृश्च्यते पापीयान् भवति. यस्य यथादेवतं, न देवताभ्यः आ वृश्च्यते''[११]. यहां कर्मकाण्डीय सन्दर्भमें अन्यदेवोंका आराधन पापकारी माना गया है. इसे, परन्तु, प्राचीन कालमें सांप्रदायिकताके रूपमें कभी निन्दनीय नहीं माना गया.

औपनिषद ब्रह्मको भी, इसी तरह, सभी देवताओंके मूलरूपतया मान्य रख कर, या तो साक्षात् ब्रह्मका श्रवण मनन निदिध्यासन और अन्तमें साक्षात्कार; अथवा तदर्थ अनेकानेक निजात्मा प्राण आकाश सूर्य आदि आलंबनोंकी ब्रह्मतया उपासनाकी प्रणाली थी. ज्ञानकाण्डमें भी कहा गया है कि **''यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म... अतो अन्यद् आर्तम्''**.[१२] अर्थात् सर्वान्तरात्मा रूपी ब्रह्मके अलावा सभी कुछ आर्त है. इसे भी ब्रह्मविषयक सांप्रदायिक विधान नहीं माना गया.

स्वयं कृष्णयजुर्वेदके तैत्तिरीयारण्यक(२।९।१) और छान्दोग्योपनिषद्(७।१।२) में ऐसे वचन मिलते हैं कि ऋक् यजुः साम अथर्व इतिहास पुराण एकायनविद्या देवविद्या ब्रह्मविद्या आदि शास्त्र वेदके स्वाध्यायके अन्तर्गत पठनीय हैं. अतः पौराणिक और तान्त्रिक शास्त्रोंमें किसी एक इष्टदेवकी सर्वोत्कृष्टताकी भावनाके साथ अनन्यभावरूपा पूजा आराधना या भक्ति के हेतु प्रोत्साहनार्थ अन्यदेवोंके चरित्र या सामर्थ्य की अनदेखी कर अपने अभीष्टदेवके आधीनतया उनका निरूपण भी सांप्रदायिक विद्वेषके रूपमें देखनेके बजाय साधनाके आनुषंगिक ही मानना चाहिये. इनमें सांप्रदायिक विद्वेष खोजना असंप्रदायवादके ध्वजवाहकोंकी एक नूतन सांप्रदायिकता(!) लगती है.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी दार्शनिक विचारधारा वेदोपनिषद्के

आधारपर शुद्धाद्वैतवादके रूपमें प्रकट हुयी है तो आराधनाप्रणाली भगवद्गीता-भागवतपुराण और एकायन पांचरात्र तंत्रका आधार ले कर प्रवृत्त हुयी है.

महाप्रभुका इस विषयमें यह अभिप्राय है कि किसी भी देवता या उससे जुड़ी आराधनाप्रणालीके सन्दर्भमें प्रतिपादनीय किसी विशेष देवताकी सर्वोत्कृष्टता या इतरकी कुछ अपकृष्टता आराधनार्थ अनिवार्य द्वैतबुद्धिके सन्दर्भमें ही होती है. यह द्वैतबुद्धि पुनः एकमेव अद्वितीय ब्रह्मकी ही अनेकभावापन्न होनेकी लीला है, भक्तिभावकी उद्बोधिका. फलतः भक्तिसंप्रदायोंके प्रभेद या परस्पर विरोधाभास को भी भगवान्की अनेकविध लीलाओंके प्रभेदके रूपमें ही ग्रहण करना चाहिये अन्यथा नहीं. अतएव महाप्रभु वल्लभाचार्यका कहना है :

> **''जैसे नेत्र किसी पदार्थके रूपका ही ग्रहण करते हैं, रसना स्वाद ही, नासिका गन्ध ही इसी तरह अनेकविध शास्त्र एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके तत्तद् गुणधर्मोंको प्रमुख बना कर अपने-अपने प्रतिपाद्य गुणधर्मोंवाले ब्रह्मके अनेकविध प्रभेदोंका निरूपण करते हैं. अतः ब्रह्ममें द्वैतका भान होता है. यह भेद या द्वैत पारमार्थिक लीलारूप होनेपर भी ब्रह्मके स्वरूपकी दृष्टिसे स्वाभाविक या मौलिक नहीं. अतः ऐसे भेदको पारमार्थिक मान्य रखनेवाले शास्त्रोंके आधारपर संप्रति विष्णुस्वामी रामानुज और मध्वाचार्य के अनुगामी भिन्न-भिन्न हैं. मेरा मत, जबकि, अभेदप्रतिपादक शास्त्रोंका प्रमुखतया अवलंबन करके चलता है. वैसे तो स्वयं भगवान्ने ही चारों प्रकारके भक्तिमार्गोंका प्रतिपादन किया है''**[१३].

अर्थात् भक्तिके इन विभिन्न संप्रदायोंमें विरोधाभासी भेद तो हो सकते हैं परन्तु भगवत्प्रतिपादित होनेके कारण कोई भी संप्रदाय अप्रामाणिक तो नहीं माना जा सकता. एतावता प्रामाणिक होनेके कारण एक संप्रदाय दूसरे संप्रदायवालेके लिये अनुसरणीय भी नियमेन माना नहीं जा सकता. अन्यदेवोंके आश्रय लिये बिना केवल श्रीकृष्णकी ही अनन्यप्रपत्ति और अनन्यासक्ति के बारेमें महाप्रभु कहते हैं **''शास्त्रोंके विधानके अनुसार अनिर्वाय न होनेपर भी स्वत: अन्य किसी देवका भजन या दर्शनार्थ उस देवमन्दिरमें गमन अथवा लौकिक या अलौकिक किसी भी प्रकारकी इच्छापूर्तिके हेतु प्रार्थना रूपी अन्याश्रय नहीं करना चाहिये''**.[१४] ऐसा अनन्यभाव, जो मीराँमें भी हम पाते हैं, उसपर महाप्रभु अतिशय भार देनेके बावजूद अपने प्राथमिक 'बालबोध'नामक ग्रन्थमें जो विधान करते हैं उसपर भी ध्यान देना चाहिये **''अत: शिव भी और विष्णु भी जगत्के हितकारक देवरूप हैं. क्योंकि ब्रह्म ही सर्वात्मक होनेके कारण शैव शास्त्रोंमें शिव और वैष्णव शास्त्रोंमें विष्णु के रूपोंमें बिरदाये गये हैं, किसी भी तरहके दोषसे रहित और दिव्य गुणोंसे भरपूर''**[१५]. अतएव वाल्लभ संप्रदायमें शास्त्रीय वैवाहिक विधि-विधानके अनुसरणार्थ गणेशपूजन देवीपूजन आदि किया ही जाता है पर अन्यथा गणेश देवी आदि देवीदेवताओंका पूजन आदि अन्याश्रय माना गया है. इसी तरह तीर्थयात्राके दरम्यान जिस तीर्थका जो अधिष्ठाता देवता हो उसका दर्शन अर्चन अन्याश्रय नहीं होता. अन्यथा अन्याश्रय माना जाता है.[१६]

यह व्यवस्था केवल वाल्लभ संप्रदायकी ही है ऐसा नहीं थोड़े-बहुत हेरफेरके साथ प्राय: अन्य भी संप्रदायोंके बीच सामान्य रही. यदि कोई असंप्रदायवादी इससे सहमत न हो पाता हो तो, वैसी असहमति प्रकट करनेवालेका, हम एक आधुनिक संप्रदाय

मान सकते हैं.

(२.सांप्रदायिक इतिवृत्तका सन्दर्भ)

ऐसी स्थितिमें मीराँकी श्रीकृष्णभक्तिकी रीति भी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको अभिप्रेत भक्तिकी रीतिसे भिन्न या विरोधाभासी हो तो भी किसी तरहके सैद्धान्तिक द्वेष या मात्सर्य का शिकार हो नहीं सकती है, जहां-तक सिद्धान्तका प्रश्न है. हां, परन्तु, किसी सिद्धान्तानुगामीका कुछ सांप्रदायिक अनन्यभावके वश मीराँके साथ कुछ विवाद या मतभेद हो जानेकी घटनाको वैयक्तिक माननी चाहिये, सांप्रदायिक नहीं. परमभक्त भीष्म पितामहको श्रीकृष्णके साथ स्पर्धाका मनोभाव कहां नहीं था? वल्लभसंप्रदायके अनन्यभक्त कृष्णदासजीका भी वल्लभाचार्यके ही आत्मज गोस्वामी विट्ठलनाथजीके साथ भी विवाद हो गया था! तो मीराँके साथ भी गोविन्द दूबे रामदासजी या कृष्णदास के जो प्रसंग वार्तासाहित्यमें उपलब्ध होते हैं, उनमें जो वैमनस्यता या कुछ कटु बोलाचाली हो गयी, उसे अकारण सांप्रदायिक विद्वेषके रूपमें नहीं देखना चाहिये.[१७]

अतएव संमाननीय श्रीब्रजेन्द्रकुमार सिंहलकी हालमें प्रकाशित 'मेरे तो गिरधरगोपाल' नामक मूलपदावलीके संकलनमें निष्कर्षरूपा टिप्पणिओंसे भी मैं सहमत नहीं हो पाता हूं.

सिंहलजीने १.गोविन्द दूबेवाली वार्ताका प्रसंग २.रामदास पुरोहितकी वार्ताका प्रसंग तथा ३.कृष्णदास शूद्र(!)की वार्ताका प्रसंग यों तीन प्रसंगोपर अपनी कुछ टिप्पणियां दी हैं. स्वयं उनके शब्दोंमें :

१.''मीराँबाई संतोंका ही आदरसत्कार नहीं करती थी,

भगवद्भक्त मात्रका भी करती थी... किन्तु वैष्णव धर्मानुयायी (वल्लभीय वैष्णव) नहीं थी जिससे आचार्यजीने गोविन्द दूबेको अपने-पास बुला लिया कि कहीं वह मीराँबाईके रंगमें रंग कर वल्लभधर्मसे विमुख न हो जाये. एक ओर भगवद्भक्तोंका हृदयसे सत्कार होता है तो दूसरी ओर अमर्षमय भावनाका प्राबल्य है.

२.रामदासप्रसंग : सो रामदासजी श्रीआचार्यजी महाप्रभू-नके पद गावत हुते तब मीराँबाई बोली जो दूसरो पद श्रीठाकुरजीको गावो. तब रामदासजीने कह्यो मीराँबाईसों जो अरे दारी रांड यह कौनको पद है? यह कहा तेरे खसमको मूंड है... (इसपर सिंहलजीकी टिप्पणी : मीराँबाईने कोई अन्य पद गानेके लिये कहा जिसे रामदासजीने अपने गुरुकी हेठी समझी और मीराँको 'दारी रांड' - व्रजभाषामें 'दारी रांड'का तात्पर्य व्यभिचारिणी स्त्री होता है) अपशब्द कहते हुवे वल्लभाचार्यकी शरणमें चले गए. मीराँने इन्हें रोकने व समझाने का पूरा प्रयत्न किया किन्तु ये सम्प्रदायवादके मोहमें इतने आबद्ध थे कि इन्होंने मीराँकी वास्तविक भावनाको न समझा... मीराँबाई न कभी वल्लभाचार्य या उनके पुत्रादि से मिली और न उनके प्रति उसके हृदयमें कोई गुरुभाव ही था... एक महत्त्वपूर्ण बात और जो ब्राह्मण किसीकी दी हुई जागीर भोगते थे वे प्राय: मिष्टभाषी हुआ करते थे. उनमें रामदासजी जैसी उद्धत भावना और भाषा का प्रभाव नहीं देखा जाता था. इससे भी यही सिद्ध होता है कि मीराँबाईके रामदास नामक पुरोहित ही नहीं थे.

३.आपसी रागद्वेषकी यह पराकाष्ठा थी तत्कालीन भक्तोंमें

जो यह दम भरते थे कि हमें कृष्णकन्हैयाके अनवरत प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं. विचारणीय बात है, परमात्मप्राप्ति हो जानेपर राग-द्वेष-अमर्षादि दुर्गुण हृदयसे निकल भागते हैं क्योंकि हृदय परमात्माका निवास हो जाता है... कृष्णदासजी कहते हैं, मैंने भेंट इसलिए स्वीकार नहीं की है क्योंकि तुम श्रीवल्लभ-संप्रदायमें दीक्षित नहीं हो...''[१८].

वैसे प्रस्तुत आलेखका प्रतिपाद्य वल्लभसंप्रदायपर विभिन्न दृष्टिकोणवश किये गये आक्षेपोंका समाधान या प्रत्यालोचन नहीं है, फिरभी इन्हें प्राचीन संप्रदायोंकी आस्था और आधुनिक असंप्रदायवादिओंकी आस्थाके तुलनात्मक विमर्शद्वारा मीराँबाई और वाल्लभ संप्रदाय के पारस्परिक तारतम्यका स्पष्टीकरण मात्र देना हमारा प्रयोजन है. अस्तु.

१.मीराँबाई और गोविन्ददूबे के प्रसंगमें यह स्पष्टीकरण देना चाहूंगा कि मीराँबाईकी भावना संतोंका ही नहीं प्रत्युत सांप्रदायिक भेदभावके बिना सभी भक्तोंके आदरसन्मान करनेकी जो रीति थी वह उनकी आस्था निश्चय ही प्रशंसनीय है. फिर भी सिंहलजीद्वारा उद्धृत प्रसंग यह तुलनीय बन जाता है **''पहले भोजराजसे कुलदेवीकी पूजा कराई तत्पश्चात् मीराँबाईसे पूजन करनेको कहा. मीराँने पूजन करनेसे निषेध कर दिया. उसका सीधा उत्तर था 'हाथीपर चढ़ कर अब गधेपर नहीं चढूंगी'**[१९]. सिसोदियाओंकी कुलपरंपराके विपरीत कितना अमर्ष! इसके विपरीत हमारे वल्लभसंप्रदायमें शास्त्रीय विधि-विधानोंको हमारे भजनीय भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञारूप माननेका सिद्धान्त होनेके कारण उनके प्रति हमारी अनन्यासक्तिके वश ही शास्त्रविहित कर्मोंके अन्तर्गत अन्यदेवार्चनको अन्याश्रय नहीं मानते. यह प्राचीन वैदिक परंपरासे प्राप्त आदर्श था **''महाभाग्याद् देवतायाः एकएव**

आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्य आत्मनो अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति, अपिच सत्त्वानां प्रकृतिभूमिभिः ऋषयः स्तुवन्ति, प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च.''[२०] अर्थात् एक किसी परमात्माकी ही किसी महाभाग्यवाले देवताके रूपमें स्तुति की जाती है, सो अन्य सारे देवता उस परम आत्माके अंग-प्रत्यंगरूप माने जाते हैं. वैसे ऋषिगण यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठानमें किसी देवताकी स्तुति जब करते हैं तो उस देवका रूप धारण करनेवाले परमात्माकी ही स्तुति करना चाहते हैं. क्योंकि वह परमात्मा जो सभी देवताओंकी प्रकृति=मूलतत्त्व है सो सारे देवनाम भी उसीके ही हैं. अतः ऐसी आर्षभावनाका समादर करते हुवे वाल्लभ संप्रदायमें अन्यान्य देवी-देवताओंके बारेमें मीराँबाईद्वारा प्रयुक्त 'गधा' जैसे अपशब्दका प्रयोग अपने इष्टदेवके अनादरके समान माना जाता है. यदि परमात्माके हृदयमें निवास करनेके कारण जब संतों-भक्तोंका संमान भेदभावके बिना कर्तव्य लगता हो तो अलौकिक देवताओंके प्रति ऐसे अमर्षका औचित्य क्या हो सकता है?

यहां यह और उल्लेखनीय है कि ठीक ऐसे ही आशयका श्लोक गोस्वामी विट्ठलनाथजीने भी गोविन्ददूबेको लिख भेजा था **''भगवत्पदपद्मपरागजुषां नहि युक्ततरं मरणेऽपि तराम् इतराश्रयणं गजराजगतो नहि रासभमपि उररीकुरुते''**[२१]. अब मीराँबाईके लिये यह कृष्णभक्तिकी अनन्यताके भावावेशवश निकला उद्गार हो और सांप्रदायिक मनोमालिन्य न माना जाता हो तो, वही बात वल्लभसंप्रदायके विट्ठलनाथजीके वचनमें सांप्रदायिक अमर्ष कैसे बन सकती है?

२.दूसरे प्रसंगके बारेमें यह बात उल्लेखनीय है कि मीराँबाईके हृदयमें भी तो अपने किसी बाह्य गुरु अथवा भावात्मक गुरु के बारेमें अनन्यभाव सुदृढ़ था ही. स्वयं उनके शब्दोंमें **''म्हारा**

सतगुरु संग सुख पाती... सतगुरु मिल्या सौंज सब पाई जैसा है ब्रह्मवासी सुगरा सूरा इंम्रत पीवे नुगरा नरकाँ जासी. धन सतगुरु मेरा सिरपर राजे... नातर भौ में जाती''[२२] तो यह तो औपनिषदिक परंपरा हमारी रही है कि **''यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ''**[२३]. अतः रामदासजीका भी अपने गुरुके बारेमें भक्तशिरोमणि मीराँ जैसा कि हाथीपर सवारी करके गधेपर सवारी नहीं करनेका जो अनन्यभाव था जिसके कारण उन्हें गुरुका पद श्रीकृष्णका ही पद लग रहा है. इसमें सांप्रदायिक अमर्ष खोजनेके बजाय उभयत्र अनन्य श्रद्धाभाव क्यों नहीं खोजना चाहिये?

जहांतक गालीगलौचका मुद्दा है तो व्रजप्रदेशके या बनारस आदिके लोगोंमें राजस्थान जैसी विनम्र भाषाका बोलनेका रिवाज ही नहीं. वहां तो बात-बातमें किसी भी दुराशयके बिना गाली मूंहसे निकलती ही रहती है आदतन. हमारे यहां घरेलु नौकरीमें प्रायः व्रजवासी ही रखे जाते हैं और मैंने अपने कानोंसे उन सगी माताओंको अपने बेटेको 'दारीके' (दारीकी औलाद) गाली देते बहुधा सुना है. वैसे ज्ञानमंडल वाराणसीके 'ज्ञानशब्दकोश'में 'दारी' शब्दका, स्वामी हरिदासजीके व्रजभाषाके पदके आधारपर आनुमानिक ही, अर्थ कुलटा नारी अवश्य लिया है. व्रजभाषाके, परन्तु, डॉ.प्रेमनारायण शुक्ल तथा चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद-डॉ.विद्यानिवासजीद्वारा संकलित कोशमें 'दारी'का अर्थ (दारिका) युद्धमें जीत कर लाई गयी दासी, उदा.''नागरिया केवल भक्तन इह दारी दूर निकारी''[२४] देते हैं. इसी तरह 'रांड' शब्दका अर्थ भी इन दोनोंके अनुसार (सं.रंडा) विधवा ही माना गया है. पता नहीं किस आधारपर सिंहलजीने व्रजभाषामें 'दारीरांड' शब्दका सुनिश्चितार्थ व्यभिचारिणी स्त्री ही होता है ऐसा खोज निकाला. इस पूरे प्रसंगको, केवल इसी अनिर्धारित आधारपर, कल्पित भी

सिद्ध करनेकी युक्ति दी है. परन्तु मीराँबाईपर सर्वांगीण और ठोस गवेषणा करनेवाले डॉ.प्रभातने इन रामदासजीके परिवारवालोंका आंबेरके जगत् शिरोमणिजीके मंदिरके देवाजीके वंशज पूजारीजीके साक्ष्यपर ऐतिहासिकताके प्रमाण प्रस्तुत किये ही हैं[२५]. अकारण इन्हें झुठलानेका कोई सबल प्रमाण सिंहलजी दे नहीं पाये.

३.कृष्णदासजीकी वार्ताके अन्तर्गत मीराँबाईकी भेंट न स्वीकारनेके प्रसंगमें यह स्पष्टीकरण आवश्यक लगता है कि यह नियम महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य स्वयं निभाते थे, सहज संभव है उस नियमके अनुवर्तनमें कृष्णदासजीके मुखसे यह बात अनुचित सन्दर्भमें निकल गयी होगी. वह तो वार्ताकार भी उनके ऐसे स्वभावका लागलपेट बिना उल्लेख कर देते हैं. अत: दूसरे संप्रदायोंको अपनी हेठी लगती हो यह सहज संभव है. मूलमें, परन्तु , महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका इस नियमके पालनमें आग्रहिल होना औपनिषदिक आदर्श ही था, दूसरे किसीको नीचे दिखानेका नहीं. जैसा कि ''**हस्त्यृषभं सहस्रं ददामि इति ह उवाच जनको वैदह:. स ह उवाच याज्ञवल्क्य: पिता मे अमन्यत न अननुशिष्य (वित्तं) हरेत इति**''[२६] इस वचनमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि शिष्यके अलावा, उपदेशवृत्तिसे जीनेवालेको, दूसरेका वित्तका हरण नहीं करना चाहिये. यह ऐसा महाप्रभुका धर्म्य आग्रह ८४ वै.वा.में अनेक बार दोहराया गया है.

वल्लभसंप्रदायके दुर्भाग्यवश आधुनिक हम महाप्रभुके वंशज इस नियमको तोड़नेमें अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे हैं, वह कथा दूसरी है. ठीक है कोई अपने हृदयग्राही आदर्श नियमोंको पालना न चाहे तो न पाले. कथमपि महाप्रभुका आशय खुदको अति विरक्त दिखाना नहीं था, केवल महर्षि याज्ञवल्क्यके आदर्शका

अनुकरण था. एतदर्थ हमारे संप्रदायमें एक स्वतंत्र ग्रन्थ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने लिखा है. परद्रव्यके प्रतिग्रहमें संयम बरतनेकी यह भागवतविहित आदर्श रीति थी.

महाप्रभु श्रीकृष्णभक्तिकी जो सर्वोत्कृष्टता तथा सर्वोद्धारकता मान्य करते हैं, उसकी प्राथमिक आवश्यकताके निरूपणमें भी यह कहना भूले नहीं हैं कि -

> **''अद्‌भुतकर्मा श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव सुसाधन नि:साधन या दुष्टसाधन सभी तरहके जीवोंके उद्धारार्थ है. अत: जो उद्धारार्थ शास्त्रविहित साधन न हों ऐसी बातोंको भी भगवान् किसी जीवके उद्‌धारका साधन बना सकते हैं. कलियुगमें भागवतपुराण भी, अतएव, द्वापरयुगमें प्रकटे श्रीकृष्णका नामात्मक प्रादुर्भाव ही है. अत: सर्वप्रथम ऐसा गुरु खोजना चाहिये जो श्रीमद्‌भागवतका तत्त्वज्ञ हो, दूसरे श्रीकृष्णसेवामें स्वयं परायण हो; और, तीसरे यह जो वह स्वयंके लाभपूजा बढ़ानेको दंभलोभ आदि दुर्गुणोंके कारण केवल दिखावाके लिये भगवत्सेवा न करता हो. ऐसे उस गुरुके उपदेशका अनुसरण कर कृष्णसेवामें तत्पर हो जाना चाहिये. ऐसा गुरु न मिलता हो तो भी स्वयं ही श्रीकृष्णकी जो मूर्ति प्रिय लगती हो उसकी सेवा-आराधनामें अनन्यभावसे प्रवृत्त हो ही जाना चाहिये''.**[२७]

ऐसी स्थितिमें मीराँबाई, यदि किसी सांप्रदायिक गुरुको अपना गुरु माने बिना भी स्वत: श्रीकृष्णकी गिरिधरगोपालकी मूर्तिकी सेवामें जो बाल्यकालसे ही प्रवृत्त थी और बादमें बाह्यतया न भी रह पायी. सदैव, परन्तु, श्रीकृष्णकी मानसमूर्तिके बारेमें विरहभावमें

संतप्त रही थी. इसे ध्यानमें रखनेपर वाल्लभ सिद्धान्तके दृष्टिकोणसे कुछ भी आपत्तिजनक तो माना नहीं जा सकता. प्रत्युत स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्यके शब्दोंमें **''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता''**[२८] वचनके अनुसार मीराँबाई तो आजीवन परा भक्तिमें मग्न बन गयी थी. वल्लभसंप्रदायकी दीक्षाके मंत्रमें भी श्रीकृष्णके विरहभावनाका ही संदेश-उपदेश विवक्षित रहता है. सो तो मीराँबाईमें मूर्तिमान अभिलक्षित होता है.

यहां यह खुलासा कर देना उचित होगा कि मीराँबाईको तत्कालीन पुष्टिमार्गके अनुगामिओंने ही जब पुष्टिमार्गीय नहीं माना तो आधुनिक किसी लेखककी वैसी धारणा, वाल्लभ संप्रदायका मत कैसे माना जा सकता है? भक्तमालकार राघवदासजी भी अतएव वाल्लभ संप्रदायकी नहीं किन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य और मीराँबाई दोनोंको श्रीविष्णुस्वामीके संप्रदायमें अन्तर्गत मान्य करते हैं[२९]. सिंहलजीद्वारा संकलित पदोंमें ऐसे आशयका पद भी मीराँबाईका मिलता है परन्तु प्रामाणिकता सन्दिग्ध होनेसे मौन ही अवलंबनीय लगता है. दोनोंकी कृष्णभक्तिकी आराधनाप्रणालीके सादृश्यके कारण या अन्य किसी ऐतिहासिक या जनश्रुति के हेतुवश इस विषयमें वाल्लभ संप्रदायके अनुगामी होनेके कारण भी मौनसेवन ही उचित मानता हुं.

वैसे कई चैतन्यमतानुगामिओंकी धारणाके अनुसार श्रीविष्णुस्वामी शुद्धाद्वैतवादी थे. तीर्थपुरोहितोंके पास प्राप्त होते महाप्रभुके हस्ताक्षरके अकाट्य प्रमाणके आधारपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कुलपरंपरासे श्रीविष्णुस्वामिसंप्रदायके अनुगामी थे. न केवल इतना अपितु तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी इतिश्री **''इति श्रीकृष्णव्यासविष्णुस्वामिमतवर्तिश्रीव-**

ल्लभदीक्षितविरचिते शास्त्रार्थकथनं प्रथमं प्रकरणम्''[३०] के अन्त:साक्ष्यके आधारपर भी यह तो सिद्ध होता ही है. इससे यह भ्रान्ति पनप सकती है कि जब सर्वप्रथम ग्रन्थमें प्रतिपादित शुद्धाद्वैतवाद महाप्रभुको विष्णुस्वामिमत कुलपरंपराद्वारा मान्य होनेसे श्रीविष्णुस्वामी भी शुद्धाद्वैतवादी होंगे. परन्तु उपर्युद्धृत श्रीमद्भागवतकी तृतीयस्कन्धकी सुबोधिनीके वचनके विचार करनेपर यह बारीकी खुल कर सामने आती है कि स्वयं महाप्रभुके अनुसार भी महाप्रभु जिस 'निर्गुणा पुष्टिभक्ति'नामक मार्गका प्रवर्तन करना चाहते हैं, वह श्रीविष्णुस्वामीके संप्रदायद्वारा प्राप्त नहीं थी. महाप्रभुके अधिदेववाद(थियोलोजी)में शरणागति-समर्पण और भक्ति तीनोंमें अभेदवादपर भार होनेके कारण ही इन साधनाओंको 'पुष्टिप्रपत्ति'-'पुष्टिभक्ति' कहते हैं. अर्थात् भगवान् स्वयं अपने जिस चिदंश रूपी जीवात्माको निजस्वरूपसे आकृष्ट कर अपनी शरणमें ले कर उसे स्वयंके प्रति सर्वात्मना समर्पित बना कर निरुपाधिक भक्तिभावसे भर देते हों वह पुष्टिमार्गीय हो पाता है. ऐसा भक्त भगवान्के साथ परलोकमें सालोक्य सारूप्य सार्ष्टि या सायुज्य रूपी मोक्षोंकी चाहनासे भी मुक्त हो कर भूतलपर भगवत्सेवा-कथामें तल्लीन हो पाता है. ऐसोंको शुद्ध पुष्टिभक्त माना जाता है. परन्तु जिनमें ऐसा भाव शास्त्रोंके श्रवण, गुरूपदेश या सत्संग आदिके कारण पनपता हो उन्हें मर्यादामिश्र पुष्टिभक्त माना जाता है. मुक्तिकामनासे शास्त्रोक्त विधिविधानोके अनुसार भक्ति करनेवालेको मर्यादाभक्त माना जाता है. लौकिक कामनाओंकी पूर्तिके हेतु भगवद्भजन करनेवाले प्रावाहिकी भक्ति करनेवाले माने जाते हैं. और लाभपूजार्थ भक्ति करनेवालोंकी भक्ति भक्ति ही नहीं होती जैसी कि वाल्लभ संप्रदायके दुर्भाग्यवश आधुनिक वल्लभाचार्यके पुष्टिमार्गके नामसे चलते व्यावसायिक भक्तिभावके प्रदर्शनार्थ चलते भगवन्मन्दिरोंमें पायी जाती है. अस्तु

इस अद्वैतभावके धरातलपर भगवत्सेवामें तो पुनः सेव्यसेवकभावका भेद तो लीलारसात्मक आवश्यक ही माना गया है.

अतएव संमाननीय श्रीसिंहलजीके मीराँबाईके वेदान्तोंके विविध प्रकारभेदोंमें अद्वैतवेदान्ती होनेका विचार भी स्वीकार्य नहीं लगता है. सिंहलजीके स्वयंके शब्दोंमें **''जिन्होंने द्वैत शुद्धाद्वैत द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि मानें हैं जगत्को स्वप्नवत् नहीं कहा है मायाको झूठी नहीं कहा है... और यही कारण है कि जो मीराँबाईपर संतमतका प्रभाव सिद्ध करता है. निर्गुणी संतोंने इस समस्याका बड़ा ही सुन्दर समाधान निकाला है जो भास्कराचार्यके द्वैताद्वैतवादका परिष्कृत रूप है. संत वैचारिक दृष्टिसे अपने-आपको सर्वथा अद्वैत वेदान्ती मानते हैं किन्तु साधनापक्षमें द्वैतवादी''** [३१] सर्वप्रथम तो भास्कराचार्यके वेदान्तमें पारमार्थिक अद्वैत और उपासनार्थ मायिक द्वैत ऐसा द्वैताद्वैतवादी मत नहीं है. द्रष्टव्य : **''परमात्मा स्वयंको जगद्रूपेण परिणत करता है... अतः निर्मूल बौद्धोंके महायानियोंका मायावादको स्वीकारनेवाले लोकमें व्यामोह फैलाना चाहते हैं''** [३२] भास्कराचार्यका यह वचन सावधानीके साथ मननीय है.

अद्वैतवेदान्तके बारेमें भी यह नितान्त ज्ञातव्य तथ्य है कि यह मत जगत्को ही केवल मिथ्या नहीं मानता प्रत्युत अवतार तथा जगत्कर्ता ईश्वररूप को भी मिथ्या एवं मायिक मानता है. अतएव श्रीभास्कराचार्यको भी **''यदा यदा हि धर्मस्य... सम्भवामि आत्ममायया''** इस भगवद्गीताकी व्याख्यामें यह खुलासा देना पड़ा है कि **''सम्भवामि आत्ममायया, 'माया'शब्दः प्रज्ञावचनः स्वेच्छया इति अर्थः''**[३३]. अतएव जिस अवतीर्ण श्रीकृष्णके साथ मीराँबाई भक्तिभावके आवेशमें ऐक्यभावापन्न हो गयी ऐसा सिंहलजी स्वीकारते हैं, ऐसे श्रीकृष्णको मीराँबाई स्वप्नवत् मिथ्या मानती तो ऐक्यभावापन्न हो

ही नहीं पाती[३४]. अद्वैतवेदान्त केवल **''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः''** सूत्रमें पूर्णरूपेण संपिण्डित नहीं हो जाता प्रत्युत **''प्रपंचो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवद्. यद्यद् दृश्यं तत्तन्मिथ्या''** भी उसका फलितार्थ है. और हम अच्छी तरहसे जानते हैं कि पुष्टिमार्गीय सूरदासजीकी अखियां जैसे **''हरिदरसनकी प्यासी''** थी वैसे ही मीराँबाईकी भी **''अंखियां कृष्णमिलनकी प्यासी''** थी. और उस श्रीकृष्णको यदि मीराँबाई स्वप्नवत् मिथ्या मानती होती तो निश्चय ही ऐसे कृष्णके दर्शन-मिलनसे भी विरक्त हो कर ज्ञानमार्गपर अग्रसर हो जाना ही उनके लिये उचित होता.

वेदान्तके विभिन्न प्रस्थानोंका भलीभांति अध्ययन करनेवालोंसे यह तारतम्य तो छिपा हुवा नहीं होता. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने भी इस तरहकी भ्रान्तिके निवारणार्थ कहा है कि संसार और प्रपंच के प्रभेदको समझे बिना कई लोग मोहित हो जाते हैं. वस्तुतः जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्मात्मक हैं, पर अविद्याके कारण एकमेव अद्वितीय ब्रह्मरूप प्रतीत होनेके बजाय ब्रह्मसे ये दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं. इसे संसार समझना चाहिये. मुझे लगता है मीराँबाई यही बात **''दरस बिना म्हांने कछू न भावे जगमाया या सुपना री''**[३५] अतः वाल्लभ वेदान्तके अनुसार 'जगमाया'का अर्थ जगत्के बारेमें मोहममता भी हो सकता है. महाप्रभु भी तत्त्वदीपनिबन्धमें कहते हैं **''मैं इस कर्मका कर्ता हूं इससे प्रकट होनेवाला फल मेरे उपभोगार्थ है' ऐसा खुदके बारेमें सोच तथा खुदके देहद्वारा संपन्न होती क्रिया और तज्जनित फल तीनोंमें ब्रह्मलीला दिखलायी न देती हो तो, वह तो हमारी भ्रान्ति है जो ब्रह्मज्ञान सिद्ध होनेपर ही दूर हो पाती है. इसे अहन्ता-ममतारूप संसार समझना चाहिये पांचभौतिक जगत् नहीं''**[३६]. यों सिंहलजीका मीराँकी दार्शनिक धारणाके बारेमें अनुमान कुछ निर्बल लगता है.

कतिपय पद मीराँबाईके सूरदासजी और परमानन्ददासजी के पदोंकी भावानुकृति ही नहीं अपितु शब्दानुकृतिके रूपमें भी मीराँबाईके मिलते हैं यथा परमानन्ददासजीके तथा सूरदासजीके नाम्ना कुछ प्रसिद्ध पद :

> ''मैं अपनो मन हरिसों जोर्यो हरिसों जोर सबनसों तोर्यो. नाच नच्यो तब घूंघट कैसो लोकलाज डर पटक पिछोर्यो... परमानन्दप्रभु लोग हसन दे लोकवेद तिनका जो तोर्यो''.
>
> ''कब देखोगे मेरी ओर नागर नन्दकिशोर बिनती करत भयो भोर. हम चितवत तुम चितवत नाहीं मेरे करम कठोर. जनम-जनमकी दासी तिहारी तापर इतनो जोर, सूरदास प्रभु तुम्हारे रोमपर वारों कंचन खोर'' [३७]

इन पदोंके शब्द और भाव दोनोंका ही अनुकरण मीराँबाईके इन पदोंमें मिलता है :

> ''नन्दनन्दनसूं मन मान्यो मेरो कहा करेगो कोय री... पिता रिसाय माता घरि मारे हंसे बटाऊ लोगरी. अब तो जिय ऐसी बनि आई विधना रची सो होयरी. अरि जे मेरो यह लोक जात है वह परलोक जिन जायरी. पिय अपनेकूं तऊ न छाडुं मिलूं निसान बजायरी. बहुरि कहां यह तन धर पैहो बालम भये मुरारी. मीराँके प्रभु गिरिधर ऊपर सरवस डारूं वारी''
>
> ''तणक हरि चितवां म्हारी ओर. हम चितवां थे चितवों णा हरि हिवड़ो बड़ो कठोर. म्हारी आसा चितवण थारी ओर णा दूजां दोर ऊभ्यां ठाडी अरज करूं छूं

करतां करतां भोर. मीराँरै प्रभु हरि अविणासी देश्यूं प्राण अंकोर'' [३८].

ऐसे अन्य भी कुछ पद हैं, जो निश्चितरूपसे मीराँबाईके साथ किसी न किसी तरह सूरदास आदि पुष्टिमार्गीय भक्तकवियोंके प्रभावी संपर्ककी गवाही देते हैं. कुछ पदोंकी तुलना तो स्वयं सिंहलजीने भी स्वयंके लेखनमें दी ही है. इन पदोंके सारूप्यका विमर्श करनेपर भी यह निष्कर्ष तो नहीं निकाला जा सकता कि वे पुष्टिमार्गमें दीक्षित थी. स्वयं पुष्टिमार्गीय इतिवृत्तोंसे विपरीत धारणा होनेके कारण. फिरभी इनमें लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यही है कि महाप्रभुद्वारा दीक्षित सूरदासजी तथा परमानन्ददासजी के पदोंका ऐसा साम्य पाते हैं परन्तु गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीद्वारा दीक्षित भक्तकवियोंके द्वारा रचित पदोंका नहीं. यह जो साम्य मिलता है उसे आकस्मिक भी माना नहीं जा सकता अत्यधिक सारूप्यके कारण ही. हां, यह अवश्य सोचा जा सकता है कि बादमें किसी मीराँबाईके भक्तने पुष्टिमार्गीय पदोंमें थोड़े-बहोत हेरफेरके साथ मीराँबाईकी छाप लगा कर प्रक्षेप कर दिया हो. अथवा मूलमें मीराँबाईके ही ये पद रहे हों और बादमें किसी पुष्टिमार्गीयने उनमें नाम बदल कर पुष्टिमार्गमें उन्हें प्रचारित कर दिया हो. यह तो प्राचीन पोथिओंके तुलनात्मक पाठोंके विमर्शके बिना सुनिर्धारित हो पाना निष्पक्षतया तो अशक्य ही लगता है. इन दोनों संभावनाओंमें से जो भी तथ्यभूत हो. इतना तो सुनिश्चिततया कहा जा सकता है कि मीराँबाईके प्रति वाल्लभ संप्रदायको सांप्रदायिक अमर्ष असूया अथवा रागद्वेष होता तो पदोंके ऐसे सारूप्यकी हकीकत शक्य न रह जाती. न तो मीराँबाईकी रचनाधर्मितामें कोई न्यूनता स्वीकारी जा सकती है और न वाल्लभ संप्रदायमें किसी तरहके श्रेष्ठ भक्तकवियोंका टोटा था कि मीराँबाईके

भाव और शब्दप्रयोगों को चुरानेकी जरूरत पड़ती.

मुझे भलीभांति ज्ञात है आधुनिक अकादमीक अंचलमें हालमें कुछ ऐसी मनोवृत्ति उभरी है कि यदि कोई भक्तकवि श्रेष्ठकक्षाका हो तो उसे वाल्लभ संप्रदायका न मान कर संप्रदायसे बहिर्भूत सिद्ध करो. ऐसा प्रत्यक्षमें भी एक महानुभावने मुझे अपनी योजनाकी बात कबूली थी, तदनुरूप निबंध भी प्रायोजित प्रकाशित किये गये हैं. मेरा, परन्तु, इस विषयमें यही मन्तव्य है कि मान लो यह ऐतिहासिक तथ्य हो परन्तु जिन सूरदासजी या परमानन्ददासजी जैसे महान् भक्तकवियोंको पुष्टिमार्ग अपने मानता है तो उनके पदोंका गायन अपनी आराधनाप्रणालीमें समाविष्ट भी किया है. हम तो उन्हें अपना ही मानते आये थे मान रहे हैं और मानते रहेंगे ही. इसी तरह न तो हमारी सेवाप्रणालीमें भक्तशिरोमणि मीराँबाईके पदोंको समायोजित किया गया है और न वल्लभसंप्रदायने ऐसा कभी दावा किया कि वे इस संप्रदायमें दीक्षित थी. न उनके प्रति सांप्रदायिक अमर्ष असूया या स्पर्धा का भाव संप्रदायके सिद्धान्तोंके परिप्रेक्ष्यमें अनुमोदनीय हो सकता है. सांप्रदायिक किसी तत्कालीन या आधुनिक व्यक्तिके वैसे मनोभावोंका उत्तरदायित्व संप्रदाय नहीं ले सकता.

अन्तमें ऐसे भाव मूलमें यदि मीराँबाईके ही हों तो ऐसी भक्तशिरोमणिके प्रति पुष्टिमार्गको सांप्रदायिक विद्वेष होनेकी कथा तो नितान्त बचकानी ही लगती है. उतनी ही कि जितनी मीराँबाईको पुष्टिमार्गमें जबरदस्ती खींचनेका मोह.

मीराँबाई भूतलपर पुष्टिमार्गके अनन्याराध्य व्रजराज श्रीकृष्णको खोजती होंगी, पर मूलमें तो परब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वयं

ही मीराँबाई जैसे भक्तोंको सदा खोजते रहे थे, रहते हैं; और रहेंगे ही. **''यह परमात्मा न तो वेदादि शास्त्रोंके ऊपर प्रवचन करनेवालेको और किसी बहुश्रुतको ही मिलता है. वह जिसे मिलना चाहे उसे ही मिलता है. उसीके सन्मुख यह सर्वत्र निगूढ़ तत्त्व स्वयंके रहस्यको अनावृत करता है''**[३९]

----------※----------

उद्धरणसन्दर्भ

१. महाप्रभु वल्लभाचार्य विरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १०४.
२. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य १।१।१, १।१ २. भगवद्गीतोपनिषद्भाष्य १३।२.
३. नाभादासकृत भक्तमालका मंगलाचरण.
४. पदप्रबोधमाला १.
५. दयाराम रसधारा २।१ मीराँचारित्र.
६. उत्तरार्धभक्तमाल
७. उत्तरार्धभक्तमाल ३८-१९६.
८. भागवतपुराण ७।१।२९-३१
९. भगवद्गीता ४।११.
१०.भगवद्गीता.
११.तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।४।८.
१२.बृहदारण्यकोपनिषद् ३।४।२.
१३.भागवतसुबोधिनी ३।३२।३३-३७.
१४.विवेकधैर्याश्रय १४.
१५.बा.बो.११-१३,
१६.द्रष्ट.साधनदीपिका ६८.
१७.द्रष्ट.डॉ.श्रीप्रभातकृत 'मीराँबाई' पृ.१९६-१९८.

१८.श्रीब्रजेन्द्रकुमारकृत 'मेरे तो गिरधर गोपाल' पृ.११२-११३.

१९.'मेरे तो गिरधर गोपाल' पृ.५७.

२०.निरुक्त ७।१।५.

२१.८४ वैष्णववार्ता ३४।३.

२२.'मेरे तो गिरधर गोपाल' पृ.४२९.

२३.श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।२३.

२४.द्रष्ट. खंड १ पृष्ठ ८४२, खंड २ पृष्ठ २५२.

२५.द्रष्ट. मीराँबाई शोधप्रबन्ध पृष्ठ १९५-१९६.

२६.बृहदारण्यकोपनिषद् ४।१।२.

२७.सप्रकाश तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।१ तथा २।२२६-२२८ का सारांश.

२८.सिद्धान्तमुक्तावली २.

२९.द्रष्ट.भक्तमाल मूल १९७-२१५ टीका १९७-२७९.

३०.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १०४.

३१.'मेरे तो गिरधरगोपाल' पृ.३४९.

३२.भास्करभाष्य २।४।२५.

३३.भगवद्गीता भास्करभाष्य ४।६.

३४.''ईशितव्य अनपेक्ष्य न ईश्वरो न ईशितव्यम् अपि तद्वद् ईश्वरम्,
अन्तरेण घटते ततो मृषा मोहमात्रपरिकल्पितं द्वयम्''.
द्रष्ट.संक्षेपशारीरकम् ३।१८८.

३५.'मेरे तो गिरधर गोपाल' पृ.३४८.

३६.तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश १।२३.

३७.परमानन्दसागर पदसंख्या ४५२, सूरदासजीपद

३८.'मेरे तो गिरधर गोपाल'पृ.३७७, ४०५.

३९.कठोपनिषद् १।२।२३.

पुरुषोत्तम-अक्षरब्रह्म-जगत् वाल्लभ विमर्श*

गोस्वामी श्रीमिलनकुमार : नमस्कार काकाजी(गोस्वामी श्याममनोहर). आजका जो विषय है वह पुरुषोत्तम अक्षरब्रह्म एवं जगत् के ऊपर है. वैसे तो प्रमेयरत्नार्णवमें भी बहुत सुंदर आपने आज्ञा करी हुई है. पुरुषोत्तमयोग १५ वें अध्यायमें भी हम देखें तो जहां भगवान् स्वयं आज्ञा कर रहे हैं कि "**यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः**" (भग.गीता.१५।१८) वहां श्रीशंकराचार्य आज्ञा कर रहे हैं कि "'**यस्मात् क्षरम् अतितो अहम्' संसारमायावृक्षम् 'अश्वत्था'ख्यम् अतिक्रान्तः अहम्**" (भग.गीता.शां.टी.१५।१८). ये 'अश्वत्थ'नामक जो मायामय संसारवृक्ष है उसका अतिक्रम करते हुए और "'**अक्षारादपि' संसारमायारूपवृक्षबीजभूतादपि 'च उत्तमः' उत्कृष्टतमः**" (तत्रैव) संसारकी जो बीजरूप मूल प्रकृति है उससे भी मैं उत्तम हूं. अंतमें कह रहे हैं कि ये तो कवियोंने उसे 'पुरुषोत्तम'रूपमें प्रसिद्ध किया है. ऐसे भक्तजन जान रहे हैं "**भक्तजनाः विदुः कवयः काव्यादिषु**" (तत्रैव). अपने श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि श्रुति-स्मृत्यादिमें प्रतिपादित 'परब्रह्म' है वही गीतोक्त 'पुरुषोत्तम' है. इस स्थितिमें अपना स्पष्ट मत क्या है? जगत् क्या है? अक्षरब्रह्म क्या है? इस विषयमें आप कृपादृष्टि करके व्याख्या करें.

ब्राह्मिक विमर्श

(गोस्वामी श्याममनोहर) : इस विषयको छेड़नेसे पहले इसका जो व्यापक संदर्भ है उसपर एक निगाह डाल लेनी अच्छी बात होगी. वह संदर्भ यह है कि सिर्फ अपने भारतमें ही

* भारतीय विद्या मंदिर वैचारिकता तथा भारतीय संस्कृत संसद कोलकता के आयोजक डॉ.विट्ठलदास मुंदरा द्वारा आयोजित ऑनलाइन् व्याख्यान दिनांक २५ जुलाई २०२५.

नहीं सारे विश्वमें पैगनिज़म्(प्रकृतिपूजावाद) पैंथिज़म्(देववाद) एथिज़म्(नास्तिकवाद) पॉलिथिज़म्(बहुदेववाद) हेनोथिज़म्(स्तुत्यैकेश्वर-वाद) जैसे ईश्वरके संबंधमें बहुत सारे वाद सालोंसे विवादग्रस्त चले आ रहे हैं. यूरोपियन लोग अपने यहां आए तो उनको बहुत समस्या हो गई थी कि हम क्या हैं, मोनोथिस्ट हैं या पॉलिथिस्ट हैं या पैगनिस्ट हैं कि पैंथिस्ट हैं. मैक्स मूलरने अचानक एक प्रपोज़ल दिया कि भारतीय सनातनधर्मी ये सब नहीं हैं हेनोथिस्ट् हैं. 'हेनोथिस्ट्'का मतलब है कि जिस वक्त जिसको बड़ा बनाना है उस वक्त उसको बड़ा बना लो, किसी एक देवताको बड़ा नहीं मानना.

भारतका श्रुति-साहित्य और श्रुतिके अंगभूत, जो यास्कके निघन्टु, व्यासजीके ब्रह्मसूत्र या जैमिनिके पूर्वमीमांसासूत्र आदि साहित्य हैं उन्हें देखनेसे एक बात बहुत स्पष्ट है कि इनमें से कोई वादकी कॅटेगरीमें हम नहीं आते हैं. वैसे कई लोग हमें मोनोथिस्ट (एकेश्वरवादी), या बहुदेववादी मानते हैं.

दरअसल इसमें एक समझनेकी मुख्य बात यह है कि मोनोथिज़म् पोलीथिज़म् या हेनोथिज़म् में जो 'थिज़म्'शब्द है वह 'थियोस्'से बना है और 'थियोस्' अपने यहांके 'देवता'का पर्यायवाची शब्द है. और सबसे मज़ेदार बात यह है कि इसपर बहुत सारे इंडोलॉजिस्ट्स्का भी ध्यान नहीं गया है कि अपने यहां देवता भी पैदा हुये हैं और ब्रह्मको 'देवोंका देव' कहा गया है.

एक प्रसिद्ध इसका उदाहरण अपने यहां है कि जब श्रीनाथजी उदयपुर पधारे तो लोगोंने राणाके सामने शिकायत की कि ये लोग कृष्णको परतत्त्व मानते हैं. उदयपुर राणा तो एकलिंगजीको

मानते थे. जब एकलिंगजीके भक्त राणाने कांकरोलीवाले महाराजश्रीसे पूछा कि सबसे बड़ा देव कौनसा? तब महाराजश्रीने जवाब दिया 'महादेव'. राणा एकदम शॉक्ड हो गये कि महादेवको आप कैसे बड़े कह रहे हो जबकि आप तो श्रीनाथजीको पूजते हो. महाराजश्रीने कहा श्रीनाथजीको हम देव नहीं मानते, 'परब्रह्म' मानते हैं और देवोंमें तो बड़े देव 'महादेव' ही हैं. एक बात समझनेकी है कि ब्रह्म एक अलग कॅटेगरी है और देव एक अलग कॅटेगरी है. 'थियोस्' जिसका मतलब देव है, वह बहुदेव है कि सर्वदेव है कि अदेववाद(एथिज़म् = कोई देव नहीं) है? ऐसे सारे विश्वमें विवादके लिए बहुत सारी थीयरीस् चली आ रही हैं.

इसके साथ देववादके बारेमें एक बात और विवादग्रस्त है कि इमिनॉन्टिज़म् है कि ट्रांसेंडेंटलिज़म्. 'इमानन्ट'का मतलब है कि जो देव है वह जगत्में इमानन्ट(सर्वानुस्युत) है या ट्रांसेंडेंटल्(सर्वातीत) है? सगुण साकार सर्वसम सर्वातीत है या निर्गुण निराकार निर्धर्मक निर्विशेष है या सत्त्वादिशून्य है? **''न सन् न असन् न सदसद् नचापि अनुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः जगुः''** (माध्य.कारि.) न सद् न असद् न सदसद् शून्यरूप है माने जो परमतत्त्व है वह सर्वशून्य है 'सत्त्वादि' शब्दोंसे ये सारे वाद अपने यहां भी हैं. इतने ऐनामें सारे डिबेटेबल् केंडिडेट हैं.

और उन सारे कैंडिडेटके बीचमें अचानक श्रीमहाप्रभुजीने एक बहुत सिग्निफिकेंट् बात कह दी जिसपर हम लोगोंको ध्यान बहुत नहीं जाता है. क्योंकि उन वादोंके चक्करमें हम भी फंस जाते हैं सारी डिटेल समझे बिना. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **''सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद्, अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म हि अविभक्तं विभक्तिमत्''**

(त.दी.नि.१।७०,२६). **'सर्ववादानवसरं'** कोई भी एक वादकी फुटपट्टीसे ब्रह्मको मापा नहीं जा सकता है और **'नानावादानुरोधि तत्'** ब्रह्म हर वादकी फुटपट्टीसे मप रहा है. क्यों मप रहा है क्योंकि वह ब्रह्म **'अनन्तमूर्ति'** है, सब जगह विभक्त भी है और अविभक्त भी है. इसकी व्याख्या करते हुए महाप्रभुजीने एक बहुत सिग्निफिकेंट् खुलासा किया हैं **''विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम्''** (त.दी.नि.१।७१) वह सारे विरुद्धधर्मोंका आश्रय है माने कोइंसिडेंशिया-अपोज़िटरम् है. सारे अपोज़िट जो एट्रिब्यूट्स हैं उसमें कोइंसाइड हो जाते हैं. 'कोइंसिडेंशिया-अपोज़िटरम्' माने विरुद्धधर्माश्रय और उसके कारण **'युक्त्यगोचरम्'** है. अपनी जो युक्तियां हैं वे विरुद्धधर्मोंके आधारपर नहीं चल सकती हैं, अविरुद्ध धर्म ही युक्तियुक्त हो सकते हैं. जब दो धर्मोंमें विरोध नहीं हो तो युक्तिका स्कोप है.

जैसे अरिस्टोटल्के लॉज़्-ऑफ्-थॉट्समें हम देख पाते हैं 1.Law of identity: A is A, 2.Law of non-contradiction: A cannot be B, as well as not-B, 3.Law of excluded middle: Between A and Not A there is no middle term. इन लॉज़-ऑफ-थॉटस्से सारी युक्ति चलती हैं, चाहे वह कंप्यूटरकी हो, चाहे ह्युमन-ब्रेनकी हो, चाहे मैथमेटिक्सकी.

श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं **''युक्त्यगोचरम्''** है. क्योंकि **''आविर्भावतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः''** (त.दी.नि.१।७२) वह अपने आपको बहुत जगह मॅनिफेस्ट(प्रकट) भी करता है और मॅनिफेस्ट करते हुए भी कंसील्ड्(अप्रकट) रख सकता है. और कंसील करते हुए भी किसी तरह अपने आपको मॅनिफेस्ट भी करता है. अब ये सारी बातें ऐसी हैं कि कोई भी एक वादकी फुटपट्टीसे उसे मापा नहीं जा सकता. जब हम लॉजिक वापरेंगे

तो कोई न कोई एक वादके चक्करमें फंस जाएंगे ये एक हकीकत है. क्योंकि ह्युमन-ब्रेनकी कुछ मर्यादा है और उस मर्यादाके हिसाबसे ही वह समझ सकता है. श्रीमहाप्रभु उसे इंकारते हैं कि **''वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्यता''** (त.दी.नि.प्र.१।-७०). श्रुतिने उसे मल्टीपल-वेज़में डिस्क्राइब(अनेक प्रकारसे निरूपित) किया है, एक तरहसे डिस्क्राइब नहीं किया है. श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि श्रुतिमें जितने विरुद्ध वाक्य हैं वे सभी ब्रह्मका ही निरूपण करते हैं. सभी वाक्य एकार्थप्रतिपादक हो रहे हैं. एकार्थप्रतिपादक होनेके कारण **''नैवं वादीनां वाक्यानि तत्तदंशवाक्यपराणि भवितुम् अर्हन्ति''** (त.दी.नि.प्र.१।७०) ब्रह्मने जो अपना अंश प्रकट किया है उसे वादी लोग अंश नहीं समझके टोटालीटी समझनेकी धांधल करते हैं. जिस तरहसे उनकी बुद्धि ग्रहण करती है किन्तु वह तो ब्रह्मका एक ही पहलू है. श्रीमहाप्रभुका कहना है कि जितने भी वाद हैं वे ब्रह्मके एक-एक पहलूको बताते हैं पर उसके अनेक पहलू हैं अनन्तमूर्ति होनेके कारण. अनेक/अनन्त पहलू होनेके कारण वह सारे वादोंके अंदर मापा जा सकता है और सारे वादोंके अतीत भी है क्योंकि किसी भी एक वादसे वह पूरा नहीं मापा जा सकता.

जैसे आज भी यूनिवर्सके बारेमें सारे साइंटिफिक फिलोसोफर्स कह रहे हैं कि कोई एक थीयरीसे यूनिवर्सको एक्सप्लेन नहीं किया जा सकता. बिग बैंग थीयरी, कंटीन्यूसली एक्सपांडिंग थीयरी, पल्सेट थीयरी, स्ट्रिंग थीयरी, ये सब थीयरी यूनिवर्सपर लागू हो रही है. अब क्योंकि ब्लैक होल मिल गया है तो कंटीन्यूसली एक्सपांडिंग ही नहीं है क्रंचिंग भी है. ओपोज़िट थीयरी मिलनेसे सब साइंटिस्ट परेशान हैं, कैसे एक्सप्लेन करना इस फिनोमिनाको कि एक होलमें सब चीज़ समावेश हो जाए!!

कंटिन्यूस एक्सपांडिंग थीयरी अपने यहां है क्योंकि ब्रह्मकी परिभाषा हि ऐसी है कि **''बृहन्तो हि अस्मिन् गुणाः''**, **''बृहत्वाद् बृंहणत्वात् च तद् ब्रह्म इति अभिधीयते''** (विष्णुपुरा.३।३।२२). स्ट्रिंग थीयरी भी है और पल्सेट थीयरी भी है क्योंकि अपने यहां विश्वकी उत्पत्ति साइक्लिकल है, लीनियर नहीं है. साइक्लिकल होनेके कारण पल्सेटमें भी जैसे साइक्लिकल चल रहा है. उनके यहां अभी तक एक प्रेजुडाइस्के कारण बहुत सारी प्रॉब्लम हो रही है. पर महाप्रभुजीका एक स्पष्ट विचार है कि ब्रह्मका स्वरूप युक्तिसे नहीं सिद्ध होके शब्दसे सिद्ध हो रहा है, इन्ट्युटिवली(अन्तःस्फुरणा) सिद्ध हो रहा है.

बहुत सारी बातें जो इन्ट्यूटिवली समझमें आती हैं वह लॉजिकली समझमें नहीं आती. बहुत सारे साइंटिस्ट साइंसकी सौगंध खानेवाले हरवक्त लॉजिकका झंडा ऊंचा करते हैं. पर मोस्ट ऑफ द टाइम, साइंसकी भी जो डिस्कवरीज़ और इनोवेशन हुए हैं वे इन्ट्युटिवली हुए हैं. गिरता एप्पल भी न्यूटनको इन्ट्युटिवली समझमें आया और एक्सपेरिमेंट तो बादमें किया. आइंस्टीनने भी कोई एक्सपेरिमेंट करके रिलेटिविटी थियरी नहीं बताई इन्ट्युटिवली बताई. जो अब जाके कुछ सिद्ध हो रही है, कुछ असिद्ध भी हो रही है. ब्लैक होलकी बात आइंस्टीनने तब कही थी जो अब जाके सिद्ध हुइ है. हम पहले जो समझ रहे थे कि ब्लैक होल सबके सेंटरमें होगा, पर रिसेंटली पता चला कि इवन अपनी गैलेक्सीके बीचमें भी एक ब्लैक होल है. ये सारी बातें इन्ट्युटिवली समझमें आ रही हैं.

हर जानवर लॉजिकका दास नहीं हो गया कि लॉजिकसे

ही समझे, बहुत सारी बातें जानवर इन्ट्युटिवली समझते हैं जो एक्सपेरिमेंट करके प्रूव हुआ है.

सृष्टि/जगत् विमर्श

इसके लिए ब्रह्मसे डिडक्टिव प्रोसेससे जगत्पे आनेके बजाय हम इन्ट्युटिव इंडक्शनसे जगत्से ब्रह्मकी तरफ चलें वह ज़्यादा ठीक रहेगा. डिडक्शनका मतलब क्या : All men are mortal, Socrates is man therefore Socrates is mortal. हम इन्डक्शन्से चलें तो : Socrates is mortal, Plato is mortal, Aristotle is mortal, therefore all men are mortal. ब्रह्मसूत्रमें भी देखें तो **''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा''**में (ब्र.सू.१।१।१) सबसे पहले **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.३।१।१) सत् चित् और आनन्द के रूपमें जगत्से ब्रह्म तक ये बात गई. निबन्धकी भी हम यदि सिनोप्सिस देखें तो पहले सत् प्रकरण है फिर चित् प्रकरण है और अन्तमें आनन्द प्रकरण है.

महाप्रभुजीने एक और बात पहली बार वर्बलाइज़ करी जो उनके पहले भी जितने फिलोसोफर्सको मान्य थी पर इस तरहसे कोईने वर्बलाइज़ नहीं करी थी : **''वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैवहि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्''** (त.दी.नि.१।७) अकेले वेदसे किसी भी बातका निर्णय नहीं हो पाएगा क्योंकि किसीका इन्ट्युशन क्या है ये सहज रीतसे दूसरा व्यक्ति नहीं समझ पाता, वह खुद ही समझ सकता है. उदाहरणतया जैसे मेरा पेट दुख रहा है या सिरमें दर्द है तो मैं ज़्यादासे ज़्यादा आपको बोलके बता सकता हुं कि मेरा

सिर दुख रहा है. पर सिरदर्द क्या बला है, वह आपको जब-तक दर्द नहीं होगा तब-तक समझमें नहीं आएगा. इसलिए एकवाक्यता/एकार्थप्रतिपादकता होनी चाहिए. जैसे जो वेद कह रहा है वही गीता विस्तारसे समझा रही है, उसी तरहसे ब्रह्मसूत्र कहता है वही बात भागवत कहती हो तो अन्त:स्फुरित विचार/अनुभवकी व्याख्या प्रामाणिक होगी. किसीको कुछ इन्टियुशन जो होता है उसे डिकोड करनेका ये मॉडल(एकार्थप्रतिपादकता) महाप्रभुने स्वीकारा है. जैसे वोयेजर जो गया है उसको अपनी गैलेक्सीके बाहरसे कुछ सिग्नल्स् मिले हैं उनको डिकोड कैसे करना ये प्रॉब्लम आ रही है. ऐसे आपने देखा होगा कि मोहेंनजोदड़ो हड़प्पा की लिपिको डिकोड कैसे करना ये समस्या आज तक बनी हुयी है. अब कोई कहता है कि हमने डिकोड कर ली उस डिकोडिंगूको प्रामाणिक कैसे मानना ?

जो प्रमाण प्राप्त होता है उसका एक सिद्धांत महाप्रभुने बताया है कि डिकोड कैसे करना. उसके तहत महाप्रभुजी जगत्के बारेमें एक बात बता रहे हैं कि **''अयं प्रपंचो न प्राकृतो नापि परमाणुजन्यो नापि विवर्तात्मा नापि अदृष्टादिद्वारा जातो नापि असत: सत्तारूप:''** (त.दी.नि.प्र.१।२३).

पृष्ठ ३५६के सामनेके चित्रमें देखें. यह सेलके सेल्फ-मल्टीप्लिकेशनका डेमो है. एक सेल अपने आपमें अनेक कैसे बने है उसकी सब अवस्था बताई है.

१.प्रोफेस : जैसे प्रथम पिक्चर है वह एग्ज़ैक्ट श्रुति जो कह रही है वह रूप है. **''स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते''** (बृह.उप.१।४।३) वह अकेले रहना नहीं चाहा, दो होना

चाहा. दो होनेके लिए उसके भीतर अपने आपमें टेंशन आया. **''स द्वितीयम् ऐच्छत्''** (तत्रैव).

२.मेटाफेस : दूसरे पिक्चरमें सेलको स्प्लिट होनेके लिए अपने आपमें टेंशन आ रहा है जिसके कारण फिर उसमें से सूत्र प्रकट हो रहे हैं.

३.एनाफेज़ : टेंशनके कारण उसमें आत्म-द्वेधीकरण आ रहा है.

४.अर्ली टेलोफेस : इसमें देखें तो सेल अब दो हो गई हैं पर अभी कटी नहीं हैं एक दूसरेसे जुड़ी हुई हैं. उपनिषद्के **''पतिश्च पत्नी च अभवताम्''** (तत्रैव)

५.लेट टेलोफेस : इसमें दोनों सेल अलग हो गए है.

६.इंटरफेज़ : इसके बाद पुनः आत्मद्वेधीकरणकी प्रक्रिया शुरु होती है.

ब्रह्मकी भी जो सेल्फ-मल्टीप्लिकेशनकी प्रक्रिया है वह इस तरहकी है, ये सेक्शुअल मल्टीप्लिकेशन नहीं है सेल्फ-मल्टीप्लिकेशन है **''स इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत् पतिश्च पत्नी च अभवताम्''** (तत्रैव). अपने आपको सेल्फ-स्प्लिट करके अनेक होनेकी प्रक्रिया हम इस सेलकी प्रक्रियामें देख सकते हैं. पुराने ज़मानेमें क्योंकि ये मॉडल अवेलेबल नहीं थे इसलिए श्रीशंकराचार्यको संदेह होना स्वाभाविक है कि एक, दो कैसे हो सकता है!! पर आज तो हमारे सामने ये साइंसका मॉडल अवेलेबल है.

जैसे श्रीशंकराचार्यके सामने मॉडल एक अवेलेबल था **''प्रपंचो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवत्''** जैसे स्वप्न ऑब्जेक्टिव(वास्तविक) नहीं होते हुए भी एक्सपीरियंस(अनुभाविक) तो हो रहा है. ऐसे ही ये(जगत्में) जो ड्युअलिटी है वह ऑब्जेक्टिव नहीं होते हुए भी अपीयर हो रही है(स्वप्नवत् अनुभव होना). ये मॉडल उनके

स एकाकी न रमते, स द्वितीयम् ऐच्छत्,
स आत्मानं द्वेधा अपातयत, पतिश्च पत्नीश्च अभवताम्.
(बृह.उप.१।४।३)

PROPHASE *Strands of chromosomes in the central nucleus darken as they duplicate themselves before splitting.*

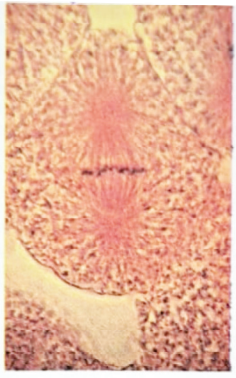

METAPHASE *Minute fibres draw the strands, which contain the cell's genetic instructions, into a line.*

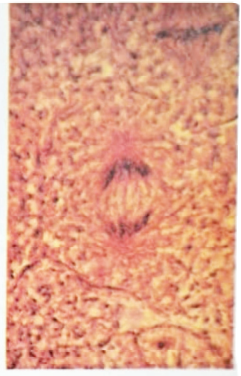

ANAPHASE *The fibres contract, pulling the strands apart into two identical sets of chromosomes.*

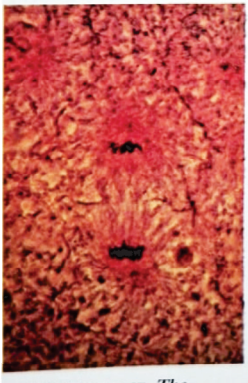

EARLY TELOPHASE *The separated sets – seen here more than 300 times life-size – gather into clusters.*

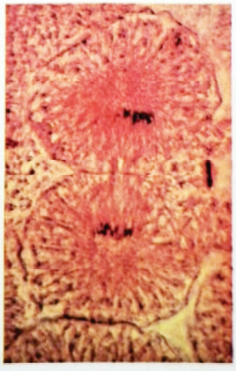

LATE TELOPHASE *Cell walls form around the two new nuclei to complete the hour-long process of division.*

INTERPHASE *Chromosome strands spread through the nucleus until a new division begins 10–20 hours later.*

सौजन्य : रिडर्स डायजेस्ट्
Courtesy of : READERS DIGEST

सामने था तो वह उदाहरण उन्होंने पकड़ा, आज अपने सामने ये(आत्मद्वेधीकरणका) मॉडल अवेलेबल है तो हम इस उदाहरणसे सृष्टिकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया समझ सकते हैं.

महाप्रभुने सृष्टिकी उत्पत्तिमें तीन प्रोसेस बताई ''[१]**अनित्ये जननं, [२]नित्ये परिच्छिन्ने समागमः, [३]नित्यापरिच्छिन्नतनो प्राकट्यं च इति सा त्रिधा**'' (सुबो.२।६।का.१). सृष्टिमें जो भी कुछ प्रकट हुआ है वह तीन प्रोसेससे हुआ है; एक प्रोसेस उसकी यह है कि सेलकी जो न्यूक्लियस है वह अपने प्रोटोप्लाज़मके एरियामें अपने आपको डिवाइड करके दो बनता है. ऐसे ही परमात्मा भी अक्षरब्रह्ममें अपने आपको सेल्फ-स्प्लिट करता है प्रकृति और पुरुष के रूपमें. ''**प्रकृतिः पुरुषः च उभौ परमात्मा अभवत् पुरा**'' (त.दी.नि.२।९८); प्रकृति डायनामिक प्रिंसिपल(क्रियाशक्ति) है और पुरुष कॉन्शीयस प्रिंसीपल(ज्ञानशक्ति) है. अब वहां(परमात्मा) तो दोनोंके साथ यूनिफाइड रहते हैं पर अक्षरब्रह्ममें जो उसका प्रोटोप्लाज़्मका एरिया है न्यूक्लियसका एरिया नहीं, उसमें वह अपने आपको दो तरहसे डिवाइड करता है एक डायनेमिक फंक्शन बनता है और एक कॉन्शीयस फंक्शन बने है. और फिर उनके इंटरेक्शनके कारण तीन तरहकी प्रकृति सत्त्वरजतमोगुणी होती है.

इसलिए ब्रह्मसूत्रके आरंभमें महाप्रभुजीने बहुत अच्छी बात कही है कि लोग कहते हैं कि ब्रह्मकी जिज्ञासा है. मगर ब्रह्मकी कोई जिज्ञासाका प्रश्न ही नहीं है क्योंकि ब्रह्मका यदि ज्ञान है तो जिज्ञासा करनी ही बेकार है और ब्रह्मका ज्ञान यदि नहीं है तो जिज्ञासा होगी कैसे? जो चीज़को जान रहे हैं उसकी जिज्ञासा नहीं होगी, और जो चीज़को नहीं जान

रहे हैं उसकी जिज्ञासा होगी कैसे? इसलिए महाप्रभुजी कहते हैं कि 'ब्रह्म है' ये तो अपनेको श्रुतिसे पता चल रहा है पर उसमें क्रियाशक्ति है अथवा ज्ञानशक्ति है कि नहीं, यह जिज्ञासाका विषय है. कुछ लोग कह रहे हैं कि क्रियाशक्ति है पर ज्ञानशक्ति नहीं है तो कोई कह रहे हैं कि ज्ञानशक्ति है पर क्रियाशक्ति नहीं है अर्थात् डायनेमिक है पर कॉन्शीयस नहीं है या कॉन्शीयस है पर डायनामिक नहीं है. यहां ब्रह्मजिज्ञासा नहीं हो रही है पर वह डायनामिक-कम-कॉन्शीयस है कि नहीं यह जिज्ञासा है. **''क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्ती सन्दिह्येते परस्थिते''** (ब्र.सू.अणुभा.१।१।२)

और इस ज्ञान और क्रिया के इंटरेक्शनसे सारी सृष्टि हो रही है. उसके कारण वह अपने आपको सेल्फस्प्लिटिंग कर रहा है. इसलिए उपनिषद् कहता है **''तेषां खलु एषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति अण्डजं जीवजम् उद्भिज्जम् इति''** (छान्दो.उप.६।३।१) हम सब जो भूत हैं उनमें अंडज, जीवज, जरायुज, उद्भिज, स्वेदज ऐसे प्रकारभेद हैं. उपनिषद् आगे कहता है **''स इयं देवता ऐक्षत हन्ता अहम् इमाः तिस्रो देवताः अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि इति''** (छान्दो.उप.६।३।२) ये तीन देवताएं हैं. अब देखो देव क्यों कह रह हैं क्योंकि ब्रह्म ही इन देवताओंका रूप धारण करके ब्रह्म ही नाम-रूपसे आत्मना अनुप्रवेश करता है कॉन्शीयस प्रिंसिपलसे. अंडज स्वेदज उद्भिज जो सब डायनेमिक प्रिंसिपल हैं, इनमें एंटर होके और अपने आपको रिवील करता है **''आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि''** (छान्दो.उप.६।३।२). उसके बाद उपनिषद्ने बहुत मज़ेदार बात कही है **''यद् अग्नेः रोहितं रूपं तेजसः तद् रूपं, यत् शुक्लं तद् अपां, यत् कृष्णं तद् अन्नस्य, आपागात्''**

(छान्दो.उप.६।४।१) तीन प्रिंसिपल देवता हैं. उसके बाद छान्दोग्योपनिषद् कहता है कौनसे तीन देवता? तो कहा अग्नि जल और अन्न. तो क्या तीन ही देवता हैं? नहीं! तीनके ३३ भी हो सकते हैं. ३३ ही हैं ऐसा नहीं, ३३के ३३करोड़ भी हो सकते हैं. क्योंकि सारी सेल्फ-मल्टीप्लिकेशनकी प्रक्रिया है. अपने बॉडीमें स्पर्म और ओवम् के कारण कितनी मल्टीप्लिकेशन हो रही है. कीड़ाकी बॉडीमें भी बिलियंस एंड बिलियंस ऑफ सेल मल्टीप्लाई होके प्रकट हो रहे हैं. तो ३३करोड़ क्यों नहीं हो सके, इन सबको 'देव' कहा है. मूलमें तो ब्रह्म ही है, देव तो थे ही नहीं, देव तो ब्रह्मेंसे बादमें प्रकट हुए हैं.

अब यहां झगड़ा चलाओ कि एक देववाद है कि बहुदेववाद है या सर्वदेववाद है कि अदेववाद है. अरे भाई! देव तो हमारे यहां सृष्टिके साथ पैदा हुए हैं तेजस जल अन्न. जैसे श्राद्धमें विश्वदेव ३३ होते हैं वे सब डायनेमिक फोर्स हैं, उनको देव कहा है. उन देवोंमें "**आत्मना अनुप्रविश्य**" ब्रह्मने अपनी कॉन्शीयसनेसको(चेतनाको) इनपुट(स्थापित) किया जिसके कारण नाम-रूपका व्याकरण हुआ. तेजस जल और अन्न इन तीनोंमें वह सत् रज और तम गुणसे प्रकट हुआ. अब इंसिडेंटली आज भी जो स्टार पैदा होता है वह लाल है जो बुझ रहा है वह ब्लैक है और जो बीचकी अवस्थामें है वह वाइट ड्वार्फ है. तो सत्त्व-रज-तम तीनों गुण वहां भी साइंस मान रहा है, वही हमने भी मानें हैं. "**अजाम् एकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः अजोहि एकः जुषमाणो अनुशेते जहाति एनां भुक्तभोगाम् अजो अन्यः**" (श्वेता.उप.४।५). ये डायनेमिक प्रिंसिपलके(प्रकृतिके) तीन कलर हैं लाल सफेद और काला. ब्लैक-होल रिवर्स प्रोसेस है; जो भी स्टार रेड दिख रहा है

वह पैदा हो रहा है और जो भी ब्लैक दिख रहा है वह खत्म हो गया है, बीचकी अवस्था वाइटकी है.

सृष्टिकी उत्पत्तिके बारेमें उपनिषद् कहता है **''तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः वायोः अग्निः अग्नेः आपः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्यो अन्नं अन्नात् पुरुषः''** (तैत्ति.उप.२।१) जैसाकि हमने देखा सेलके स्प्लिटिंगमें सबसे पहले गैप पैदा होता है एक दूसरेके ऑपोज़िट स्ट्रेचके कारण, वैसे ब्रह्ममें सर्व प्रथम आकाश प्रकट होता है. **''आकाशाद् वायुः''** आकाशमें से वायु पैदा हुई. ये मॅटरकी अवस्थाएं हैं पहली अवस्था गैशियस, दूसरी लिक्विड, तीसरी फायरी, चौथी सॉलिड, जो 'पृथिवी' 'जल' 'तेज' 'वायु' 'आकाश' कहलाई. उसके बाद आप पृथिवी ओषधि अन्न और पुरुष. यह बात जो उपनिषद्ने कही उसको **''एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्''** (त.दी.नि.प्र.१।७) महाप्रभुजीके प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यताके अनुसार गीता सपोर्ट कैसे कर रही है **''भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिः एव च अहंकार इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा''** (भग.गीता.७।४) भूमि जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार ये सब मेरी प्रकृति हैं, मतलब ये मेरे डायनेमिक प्रिंसिपल हैं.

अब ध्यानसे समझें कि उनकी थीयरीमें, जैसे रेने देकारतस् कहते हैं. Cognito ergo sum : I think therefore I am. अपने यहां ये चेतनका लक्षण ही नहीं माना है क्योंकि थॉट तो बुद्धिका लक्षण है और बुद्धि तो एक इंस्ट्रुमेंट है जो चेतनाको प्रोवाइड किया गया है. बुद्धि यदि चेतनामें से हटा ली तो केवल कॉन्शियसनेस है. 'सेल्फ-अवेयरनेस' अहंकारको कहते हैं,

वह भी अपनी एक इंस्ट्रुमेंट है जैसे आंख कान आदि इंस्ट्रुमेंट हैं ऐसे कॉन्शियसनेसको प्रोवाइड किया गया अहंकार अपना नहीं है. वे लोग तो ये सोच रहे हैं कि 'आइ थिंक देअरफॉर आइ ऍम', हम ऐसे नहीं सोच रहे हैं. बुद्ध भगवान् ये सोचते थे I am therefore I do not exist. अपने यहां अहंकारको(अहंताको) मिथ्या माना है क्योंकि यह तो चेतनाका गुण ही नहीं है, चेतना तो प्युर-कॉन्शियसनेस है. प्रकृतिके साथ इंटरेक्ट करनेके कारण चेतनामें सेल्फ-अवेयरनेस आती है जैसे आंख अपनेको प्रोवाइड हुई है. हम देख सकते हैं कि यदि हमने इन्फ्रारेड चश्मा पहन लिए तो हमें अंधकारमें भी इन्फ्रारेडसे दिखलाई देने लग जाता है, यदि ब्लुटूथ लगा लिया तो कोई भी गैजेट् कनेक्ट कर सकते हैं. ऐसे बहुत सारे गैजेट् हम अपने-आपको प्रोवाइड करते हैं. उसके कारण अपनी चेतनामें फंक्शन आ जाते हैं वे एक्च्युअली चेतनाके फंक्शन नहीं हैं पर चेतनाके औपाधिक फंक्शन हैं. उन लोगोंके ख्यालमें ये तो सब खुदके फंक्शन हैं उसका अपने पास कोई इलाज नहीं है. अपने यहां तो पहलेसे यह बात कही गई थी कि चेतनाके फंक्शन नहीं हैं, चेतना तो शुद्ध है.

''**भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकार इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा**''के बाद भगवान् गीतामें कहते हैं ''**अपरा इयम् इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां महाबाहो यया इदं धार्यते जगत्**'' (भग.गीता.७।५) इन सबसे अलग एक प्रकृति मेरी और है; ये दोनों मेरी प्रकृति हैं. अर्थात् प्रकृति और चेतना दोनों भगवान्की प्रकृति हैं ''**अपरा इयम् इतस्तु अन्याम्**''. ये सारे डायनेमिक प्रिंसिपलसे अलग, सेल्फ-स्प्लिटिंगके कारण मैंने दो प्रिंसिपल क्रिएट किए हैं कॉन्शीयस प्रिंसिपल(पुरुष)

और डायनेमिक प्रिंसिपल(प्रकृति), उनके इंटरेक्शनसे सारी सृष्टि पैदा हो रही है.

ब्रह्मसूत्र देखें तो समन्वयाधिकरणमें भी यही बात बताई गई है **''तत्तु समन्वयात्''** (ब्र.सू.१।१।३) क्रिया और ज्ञान में ब्रह्म समन्वित है अर्थात् क्रिया भी ब्रह्मकी है और ज्ञान भी ब्रह्मका है. और यही बात **''अनित्ये जननं, नित्ये परिच्छिन्ने समागमः, नित्यापरिच्छिन्नतनो प्राकट्यम्''** इनमें तीन प्रिंसिपल्स् अडॉप्ट किए हैं पैदा होनेके प्रोसेसमें; **जड़ :** कुछ चीज़ टाइम और स्पेस के फ्रेममें कन्फाइन हो गई तो वहां अपनेको उत्पत्ति प्रतीत हो रही है, **जीव :** कोई चीज़ टाइमके फ्रेममें कन्फाइन नहीं है पर स्पेसमें कन्फाइन है. यहां उत्पत्ति नहीं पर आगमन और गमन हो रहा है. **अन्तर्यामी :** जो न टाइम् और न स्पेस् में कन्फाइन् है वहां सिर्फ प्राकट्य और अप्राकट्य हो रहा है. ऐसे तीन प्रकारकी सृष्टि प्रकट हो रही है. जड़ पदार्थके लिए **''अनित्ये जननम्''**, जीवके लिए **''नित्ये परिछिन्ने समागमः''** कहा है अर्थात् जीव सिर्फ आवागमन करता है, न पैदा होता है न खत्म होता है. अन्तर्यामीके लिए **''नित्यापरिच्छिन्नतनो प्राकट्यम्''** उनका सिर्फ प्राकट्य और अप्राकट्य होता है. प्राकट्य और अप्राकट्य का मतलब है कि जैसे मोबाइल्में सिम् लगाया तो नेटवर्क प्रकट हो जाएगा, सिम निकाल दिया नेटवर्क अप्रकट हो जाएगा. अंतर्यामीका सारा विस्तार देवता हैं, जैसे ब्रह्मा रुद्र शिव.

भागवत भी कह रही है **''वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत्, तयोः एकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सा उभयात्मिका, ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते''** (भाग.पुरा.११।४।३-४)

महाप्रभुजीका जड़के बारेमें एक मज़ेदार सिद्धांत है, **''प्रपंचो भगवत्कार्यः तद्रूपो मायया अभवत्''** (त.दी.नि.१।२३) प्रपंच भगवान्का कार्य है और प्रपंचरूप भगवान् सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायासे हुआ है. **''तत्छक्त्या अविद्ययातु अस्य जीवसंसारः उच्यते''** (त.दी.नि.१।२३) उस मायाके कारण हम समझ नहीं पाते हैं. महाप्रभु कहते हैं **''अल्पानां महति भ्रमो आवश्यकः''** कोई भी बड़ी चीज़ दिखती है तो जो छोटा है उसको भ्रम हो जाता है. जैसे आज भी हमको अतिविशाल स्ट्रक्चर दिखता है तो हमको भ्रम हो जाता है कि यह सच है कि छलावा है.

मुझे बराबर याद है श्रीरघुनाथलालजीके साथ काठियावाड़का एक ड्राइवर् बाय कार मुंबई आया था. मुंबईमें प्रवेश होते ही जब उसने डबल-डेकर् बस देखी तो वहां कारकी स्विच्-ऑफ् कर दी. क्योंकि इतनी बड़ी बस हो सकती है ऐसा सोचना उसके लिए संभव नहीं था. अभी भी हर बच्चा बड़ी चीज़से डरता है. जगन्नाथजीका बड़ा रथ देखके अंग्रेज़ लोग डरते थे करके जगन्नाथजीका नाम 'जॅगर्-नोट्' हो गया. भय होना स्वाभाविक है. आप भागना चाहते हों तो मिथ्या मान लेते हैं. यदि भाग नहीं सके तो शतुर्मुगी वृत्ति अपना लेते हैं. महाप्रभुके हिसाबसे **''प्रपंचो भगवत्कार्यः तद्रूपो मायया अभवत्, तत्छक्त्या अविद्यया तु अस्य जीवसंसारः उच्यते''** (त.दी.नि.१।२३).

महाप्रभु एक बात और कहते हैं कि **''परं ब्रह्मतु कृष्णोहि सच्चिदानंदकं बृहत्''** (सिद्ध.मु.२) परं ब्रह्म तो कृष्ण ही है और अक्षरब्रह्म सच्चिदानंदकं है. हमारे बड़े दुर्भाग्यकी बात है कि हमने अक्षरब्रह्मको बहुत ही डिग्रेड् किया है. महाप्रभुने अक्षरब्रह्मको जिस तरहसे प्रस्तुत किया है वैसा महाप्रभुजीके पहलेके किसी

भी दार्शनिकने स्वीकारा नहीं. अक्षरब्रह्म जगत् और पुरुषोत्तम के बीचका अव्यक्त नेटवर्क है जिससे हम पुरुषोत्तमसे कनेक्ट हो सकते हैं.

''प्राकृता: सकला देवा: गणितानन्दकं बृहत्'' (**कृष्णा.स्तो.८**). यहां 'गणितानन्दकं'में 'कम्' जो प्रत्यय है वह अल्पार्थक होता है. गणितानन्दको 'कम्' प्रत्यय लगाया तो क्या अर्थ निकलेगा? दो नेगेटिव् = एक पॉजिटिव्. पुष्टिमार्गने(हमने) अक्षरब्रह्मको गणितानन्द ही मान लिया. अरे! 'गणितानन्दकं' है 'गणितानन्द' नहीं है. महाप्रभुजी आगे अक्षरब्रह्मके बारेमें कह रहे हैं **''द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्''** (सिद्धा.मु.३) एक सर्वात्मक या जगद्रूप है और एक जगत्से विलक्षण है. सर्व जगद्रूप अक्षरब्रह्म है वह गणितानन्द है, उसमें सच्चिदानन्द 'कम्' है, नहीं कि सारे अक्षरब्रह्ममें. यदि सारे अक्षरब्रह्ममें सच्चिदानन्द गणित होता तो महाप्रभुजीने तृतीय स्कन्धमें राधाजीको अक्षरब्रह्मानन्दरूपा मान्य किया है वह कैसे सम्भव होता? वहाँ यह बात कही है कि भगवान्की जितनी भी स्वामिनी हैं, चाहे सीताजी पार्वतीजी आदि वे सब अक्षरब्रह्मानन्दरूपा हैं. नहीं तो इन सबको गणितानन्द मानना पड़ेगा. महाप्रभुजी यहां-तक आज्ञा कर रहे हैं कि भगवान् जब भूतलपर अवतीर्ण होते हैं तब भगवान्के चरण अक्षरब्रह्मात्मक हैं. **''आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि: सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा''** (त.दी.नि.१।४४) यदि भगवान्के चरणको हम गणितानन्द कहेंगे तो भगवान् 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' नहीं रह जायेंगे. महाप्रभुने शास्त्रप्रमाणसे प्रतिपादित करके अक्षरब्रह्मको द्विरूप बताया और हमने उसको फिर एकरूप बना दिया! महाप्रभुके इतने पुरुषार्थको हमने कैसे मटियामेट कर दिया कि उसकी असर यहां-तक आ गई कि श्रीगोपीनाथजी अक्षरब्रह्मात्मक है और श्रीगुसांईजी पूर्णपुरुषोत्तम

हैं. ऐसे श्रीगोपीनाथजीको मर्यादामार्गी बता कर तिरस्कार भी हम करते हैं. ऐसा कहेंगे तो श्रीराधाजी भी मर्यादामार्गी हो जायेंगे! क्या श्रीराधाजी श्रीरुक्मिणीजी मर्यादामार्गी हैं? वे तो अक्षरब्रह्मानन्दरूपा है. क्या ठाकुरजीके चरण भी मर्यादामार्गी हैं? हम क्या कह रहे हैं उसकी हमको समझ ही नहीं है!

अपने यहां पी.एम.मोदी थे, उन्होंने १९४० में ''अक्षरब्रह्म फ्रॉगॉटन् चॅप्टर्'' जर्मनीमें पी.एच.डी. किया था. उस समय उन्होंने यह बात कही थी कि केवल श्रीवल्लभाचार्य ही अक्षरब्रह्मको समझ पाए थे, अन्य कोई नहीं. हम अक्षरब्रह्मके बारेमें पुनः भूल गये. महाप्रभुजी कह रहे हैं ''**अयं प्रपंचो न प्राकृतो, नापि परमाणुजन्यो, नापि विवर्तात्मा, नापि अदृष्टादिद्वारा जातो, नापि असतः सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृति-साध्यः. तादृशोऽपि भगवद्रूपः**'' (त.दी.नि.प्र.१।२३) इनमें से कोई भी एक तत्त्वका महाप्रभुके मतमें अस्वीकार नहीं किया है पर महाप्रभुजी कहते हैं कि आपको अक्षरब्रह्मके जितने भी रूप जिस प्रकारसे समझमें आते हैं वे सब अक्षरब्रह्मके ही रूप है. ये बात ''**सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्**'' (त.दी.नि.१।७-०) की कोरोलरीमें आती बात है. इतनी बात जगत्के अर्थमें समझ लेनेके बाद अक्षरब्रह्मपे स्विच हो रहे हैं.

अक्षरब्रह्मका विमर्श

अक्षरब्रह्मको श्रुतिमें कैसे निरूपित किया है यह बात हम पहले देख लें. अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तमका धाम भी है और धर्म भी है. यह बात ब्रह्मसूत्रमें आयी है. 'धाम'का मतलब लोकस् है और 'धर्म'का मतलब एट्रिब्यूट् भी है. प्राचीन कालमें कोई मॉडल् अपने पास नहीं होता था कि कोई वस्तु जो लोकस्

है वह उसका एट्रिब्यूट् कैसे हो सकती है और जो एट्रिब्यूट् है वह लोकस् कैसे हो सकता है ?

पर आगे दिखलाये गये चित्रमें देखो ! (पृ.३७२) जैसे सेलको इस कोन्टेक्स्टमें देखो. यह जो न्यूक्लियस् है वह पुरुषोत्तमकी तरह है और प्रोटोप्लाज़्म् उसका लोकस भी है. सेल्के न्यूक्लियस्के चारों ओर प्रोटोप्लाज़्म् है वह उसका एट्रीब्यूट्(धर्म) भी है और लोकस्(धाम) भी है. उसमें वह अपने आपको स्प्लिट् करके सृष्टिको एक्टिवेट् करता है. वह एक है और दो हो रहा है. (चित्रमें देखो) अब यह मॉडल् हमारे पास अवेलेबल् है कि कोई वस्तु लोकस् होते हुए भी एट्रिब्यूट् कैसे हो सकती है और एट्रिब्यूट् होते हुए भी कैसे लोकस् भी बन जाती है. इस प्रकारसे अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तमका धाम भी है और धर्म भी है.

पुनः सेल्की सॅल्फ-मल्टिप्लिसिटीका अवलोकन करें. जैसे प्रोफेज़्में Strands chromosome in the central nucleus darken as a duplicate. मेटाफेज़्में minute fibers draw the strands which contain cells genetic instruction into alliance. ऐसे पुरुषोत्तमकी सेल्फ-मल्टिप्लिकेशन्की जो जेनेटिक इंस्ट्रक्शन् है वह प्रोटोप्लाज़्मके क्रोमोज़ोम्में रिवील् हो रही है. उसके चारों ओर मेम्ब्रेन् है, मेम्ब्रेन् हर सेलको कन्फाइन्(परिच्छेद) बनाता है. यह बात और है कि अक्षरब्रह्ममें इस तरहका कोई मेम्ब्रेन् नहीं है.

महाप्रभु कहते हैं कि अक्षरब्रह्म पांच प्रकारका है : काल कर्म स्वभाव प्रकृति और पुरुष. इन पांचोंके मूल अक्षरब्रह्ममें

है. काल(टाइम्) = संहारक है, कर्म = उत्पादक है, स्वभाव = स्टेटिक नेचर, अपने आपमें उसकी स्थिति, प्रकृति-पुरुष (डिवाइड् हो करके सबसे पहले जेनेटिक इंस्ट्रक्शनके तहत) बादमें है. महाप्रभुजी समझा रहे हैं कि कालका परसोनिफाइड्(आधिदैविक) रूप शिव है, कर्मका परसोनिफाइड् ब्रह्मा है और स्वभावका परसोनिफाइड् रूप विष्णु है. **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति''** (तैत्ति.उप.३।१) यह ब्रह्मका स्वरूप है. रिमार्केबल् बात यह है कि अपने यहां लिनियर् क्रिएशन् नहीं है, सर्क्युलर् क्रिएशन है. श्रुतिने ऐसा नहीं कहा है कि जिससे जगत् पैदा हुवा है, जिसमें जगत् स्थित है और जिसमें जगत् लीन होगा वह ब्रह्म है. प्रत्युत अपने यहाँ ऐसा कहा है कि जिससे जगत् पैदा होता रहता है, जिसमें जगत् स्थित होता रहता है, जिसमें लीन होता रहता है वह ब्रह्म है. ब्रह्मकी परिभाषामें यह बात आ रही है कि सृष्टिकी प्रक्रिया निरन्तर है.

यह बात हम देख सकते हैं कि आज भी बहुत सारी गॅलेक्सियाँ खत्म हो रही है, बहुत सारी गॅलेक्सियाँ स्थित है और बहुत सारी गॅलेक्सियाँ पैदा हो रही हैं. अब इस दृष्टिसे बिग-बैंग् थियरी भी सच्ची है. नारलिकर और होयल् की कंटीन्यूअस् एक्सपाडिंग् यूनिवर्स्की थियरी भी सच्ची है. स्ट्रिंग् थियरी भी सच्ची है, पल्सेट् थियरी भी सच्ची है. यह सारी बात हम न्यूक्लियस्में भी देख सकते हैं. उस समय ऋषिओंने सारी बात अन्तःस्फुरणासे कही थी, उस प्रकारका उदाहरण आज हमको सेल्में प्राप्त होता है. इससे हम समझ सकते हैं कि अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तमका धाम भी और धर्म भी है. दूसरे शब्दमें साकार ब्रह्मकी/पुरुषोत्तमकी व्यापकता अक्षरब्रह्म है, जैसे सेलके न्यूक्लियस्की

व्यापकता प्रोटोप्लाज़्म् (क्रोमोज़ोम)में है. जैसे सूर्य साकार है और उसकी व्यापकता सूर्यमंडल है. अर्थात् सूर्यसे ले कर हर्षल नेप्चून् प्लूटो तक और आगे भी मिले वहां तक लोकस भी है और एट्रीब्यूट् भी. कोई एक सुगन्धी फूल अपनी डाली पर खिलता है पर उसकी सुगंध उद्यानमें चारों ओर व्याप जाती है. हमारी ऑराका फोटो लिया जाए तो उसमें भी हमारी बॉडीकी कॉन्टूर् लाइन्के बाहर भी हमारी ऑराका फोटो देखा जा सकता है. इस तरहसे देखें तो हमारी भी साकार-व्यापकता है. इसके अलावा जब हम किसी स्थानसे चले जाएं तब भी अपनी बॉडीकी हीट् वहाँ कायम रहती है जिसे कुत्ता सूंघके पहचान सकता है.

महाप्रभुजीका यह सिद्धांत यदि हम उपनिषद्के आधारपर देखना चाहें तो **''स यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेद्, यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति, एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति''** (बृह.उप.२।१।२०) उपनिषद्ने दो मॉडल् बताए हैं. जैसे मकड़ी अपना जाला बुन कर उसमें रहती है, ऐसे ब्रह्म रूपी मकड़ीमें से यह सारा काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषका नेटवर्क पैदा हुआ है. यह एक्सपान्शन् थियरी है. और **''यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः''** (बृह.उप.२।१।२०) यह बिग-बॅन्ग् थियरी है. अग्निमें से विस्फुलिंग बिगबॅन्गकी तरह फूटता है. दोनों थियरीस्को हमारे उपनिषदोंने सपोर्ट(मान्य) किया है. सर्वलोक, सर्वदेव ब्रह्ममें से ही व्युच्चरित हुए हैं. अब वे(पाश्चात्य दार्शनिक) लोग झगड़ा करते हैं कि एकदेववाद है अथवा सर्वदेववाद है, या अदेववाद है या शून्यवाद है?

हम देवको तो ब्रह्ममें पैदा होता मान रहे हैं. जब लोक

पैदा हुए तब देव भी पैदा हुए, देव पैदा हुए तब लोक भी पैदा हुए. इस विषयमें हमारे यहां एक प्रसंग है जो कांकरोलीवाले महाराजका सुनाया हुआ है कि हम महादेवको सबसे बड़ा देव मानते हैं, जब राणाने पूछा कि कृष्णके लिए क्या सोच रहे हो? तो जवाबमें कहा "कृष्ण तो देव नहीं है परब्रह्म है" **"परं ब्रह्मतु कृष्णो हि"** (सिद्धा.मु.३). आगे उपनिषद् कहता है, **"तद् एतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ति सरूपाः तथा अक्षराद् द्विविधाः सौम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्रच अपियन्ति"** (मुण्ड.उप.२।१।१).

इस अक्षरको माया माननेपर तो न केवल ब्रह्मके कारणलक्षणकी माया-अविद्यामें अतिव्याप्ति होनेका दोष आयेगा प्रत्युत **"क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरम्"** (श्वेता.उप.१।१०) वचनमें अमृत कहा होनेसे ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति भी हो नहीं पायेगी. ब्रह्म है जिसमें से मकड़ीके जालाकी तरह, अग्निविस्फुलिंगकी तरह सारी सृष्टि पैदा हुई. और ब्रह्म कैसा है, **"अणोः अणीयान् महतो महीयान्"** (कठोप.१।२।२०) अणुसे भी अणुतर है, और महान्से भी अधिक महान् है. **"आत्मा अस्य जन्तोः निहितो गुहायां, तम् अकृतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादाद् महिमानम् आत्मनः"** (कठोप.१।२।२०) जिसके ऊपर विधाता कृपा करते हैं वह ब्रह्मको जान सकता है. विधाताने हमारी संरचना ऐसी की हो तो हम जान पाते हैं. भागवतमें एक श्लोक आया है कि ब्रह्माजीने बहुत सारे पशुपक्षी आदि प्राणी बनाए, पर मनुष्यके अलावा दूसरे प्राणिओंमें ब्रह्मावलोकन कर पानेकी धीषणा=मति नहीं बनाई. They know much more than human beings can know. पर ब्रह्मके बारेमें उनमें अवेयरनेस नहीं होती है और मनुष्य एक ऐसा प्राणी बनाया कि जो जानवरसे भी मूर्ख है. कयोंकि हमको भूकंप आता है तो भी पता नहीं चलता, जानवरको

पता चलता है. हमको जाला बनाना नहीं आता है पर मकड़ीके लिए ऐसा कहा जाता है कि वह स्पेसक्राफ्टमें भेजी तो वहां थोड़े प्रयत्नके बाद ज़ीरो-ग्रेविटीमें भी जाला बनानेका नूतन सिद्धांत खोज निकाला!! हम अभी भी कन्फ्यूज़ रहते हैं, हमारे पास सिस्टम् होती तो ही कुछ कर सकें, नहीं तो नहीं कर सके. मकड़ी कोक्रोच् आदि सारे जानवर हमसे ज़्यादा बुद्धिमान हैं.

पर भागवत कहता है कि मनुष्येतर प्राणीमें ब्रह्मावलोकधिषणा नहीं है. मनुष्यमें एक खासियत है कि उसके ब्रेनमें एक स्पेशियल् चिप् बैठाई है. He can be aware of the Brahman. यदि नहीं है तो भी पोटेंशियली ब्रह्मावलोकधिषणा है. भारतीय मनुष्यमें तो वह पोटेंशियलिटी(स्वरूपत:) थी. हमको ब्रह्मावलोक समझमें आया इसलिए अदेववाद बहुदेववाद और एकदेववाद के झगड़ामें कभी नहीं फस पाये. **''तमक्रतु: पश्यति वीतशोको''** (कठोप.१।२।२०).

उसके बाद **''नायम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एष: वृणुते तेन लभ्य: तस्य एष: आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्''** (कठोप.१।२।२३) हम ऐसे समझे कि यह पुरुषोत्तमके लिए कहा गया है पर यह अक्षरब्रह्मके लिए उपनिषद्में कहा गया है. यदि अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तम दो फिनोमिना होते एक गणितानन्द और दूसरा अगणितानन्द, तो वरण करनेवाला (पुरुषोत्तम/अक्षरब्रह्म) कृपालु ही नहीं रह जाएगा. हम क्या कह रहे हैं यह तो सोचो!! जिस प्रकारसे हमने भेद किया है, अक्षर और पुरुषोत्तम में. ऐसा कहनेपर हम यह वचन वरणके सन्दर्भमें उद्धृत ही नहीं कर पायेंगे. वरणका सिद्धान्त अक्षरब्रह्मके लिए कहा गया है, नहीं कि पुरुषोत्तमके लिए. महाप्रभुके इतने पुरुषार्थका हमने कैसे मटियामेट कर दिया ये देखने लायक बात है!!

चतुष्टयकी एकवाक्यताके सन्दर्भमें गीता कैसे कह रही है **''अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम्, अधियज्ञो अहमेव अत्र देहे देहभृतां वर''** (भग.गीता.८।३-४) अर्थात् अक्षरब्रह्म परम है. हम उसको अपर मानते हैं! कृष्ण कहते हैं कि **''अक्षरं ब्रह्म परमम्''**. **''स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते''** अक्षरब्रह्म पंचात्मक है, काल कर्म स्वभाव प्रकृति पुरुष रूप है उसमें स्वभाव अध्यात्म हैं. अनफोर्चूनेटली आज अध्यात्मका अर्थ स्पिरिचुअल हो गया है. संस्कृतमें अध्यात्मका अर्थ स्पिरिचुअल नहीं है. शिक्षावल्लीमें कहा है **''अथ अध्यात्मम्, अधरा हनुः पूर्वरूपम्, उत्तरा हनुः उत्तररूपं, वाक् सन्धिः, जिह्वा सन्धानम्, इति अध्यात्मम्''** (तैत्ति.उप.१।३।४). **''स्वभावो अध्यात्मम्''** है अर्थात् जैसे इन्द्रिय भीतरसे बिल्ट-इन-सिस्टमसे रहती है ऐसे स्वभाव बिल्ट-इन-सिस्टमसे रहता है. और **''भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः''** अक्षरब्रहके दूसरे पहलू कर्मके कारण भूतभावका उद्भव हो रहा है. अर्थात् मेटर् पैदा हो रही है. क्योंकि उसमें फंक्शनालिटी(अर्थक्रियाकारी रूपता) है, नॉन्-फंक्शनिंग नहीं है. क्रियारूपता नहीं होती है तो भूतभावका उद्भव नहीं होता.

''अधिभूतं क्षरो भावः'' जो भूतभावका(सब्स्टन्स्) उद्भव हो रहा है वह क्षरभाव है. जिस फंक्शनके(अर्थक्रिया) कारण पैदा होता हो उसका फंक्शनल एक्सिस्टेंस (अर्थक्रियाकारीरूप अस्तित्व) है. फंक्शनल एक्सिस्टेंस है इसलिए बुद्ध भगवान्ने उस वक्त कहा था **''अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्''** जगत्में हर वस्तुका अस्तित्व अर्थक्रियाकारिताके कारण है. यह बुद्ध भगवान्का सिद्धान्त अमेरिकामें यूटिलिटेरियन थियरीके रूपमें ट्रांसलेट् हुआ है. To exist is to be useful जिससे प्रेग्मेटिज्म् आया. बुद्ध भगवान्ने जो **''अर्थक्रियाकारित्वं**

सत्त्वम्'' कहा और अमेरिकामें यूटिलिटेरियन् थियरीके कारण यह बात आयी कि भगवान्का(गॉड्) अस्तित्व है यदि उनकी कुछ उपयोगिता है तो अन्यथा भगवान्का अस्तित्व नहीं है.

भगवान्का अस्तित्व हो या न हो पर ब्रह्मका अस्तित्व तो होता ही है. गॉड तो एक प्रकारके देवता हैं पर ब्रह्म देवता नहीं है. सभी देवता ब्रह्मसे प्रकट होते हैं. ब्रह्मका पर्यायवाची शब्द देवता नहीं है. जैसे पोपके लिए ऐसे कह सकते हैं कि पोप क्रिश्चियनिटीके तिलकायत महाराज है. पोपको तिलकायतका तिलक नहीं किया जाता है पर तिलकायत हैं. हम पुष्टिमार्गमें तिलकायत महाराजको 'पोप' कह सकते हैं. ब्रह्मका पहलू देवता/भगवान्से भिन्न है. ब्रह्मसे सर्व देवता, सर्व जीव, सर्व सृष्टि पैदा हुयी है ''**अधिभूतं क्षरोभावः**''.

''**पुरुषश्च अधिदैवतम्**'' 'पुरुष' मतलब कॉन्शियसनेस(चैतन्य) वह अधिदेव है. अर्जुनके मनमें सवाल आया होगा कि महाराज आखिर तुम कौन हो? वहाँ भगवान् कह रहे हैं ''**अधियज्ञो अहमेव अत्र**'' सारी सृष्टिको वेद यज्ञके रूपमें देखता है हम सृष्टिको लीलाके रूपमें देखते हैं ''**यज्ञेन यज्ञम् अजयन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्, ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**'' (तैत्ति.आर.३।१३।२) वेदमें यह भी आता है ''**यज्ञो वै विष्णुः**'' (तैत्ति.ब्रा.१।२।५।१) 'विष्णु'का मतलब जो व्यापक है. सारी सृष्टिको यज्ञके रूपमें देखा गया है. ''**प्रजापतिः आत्मनो वपाम् उदक्खिदत**'' (तैत्ति.संहि.२।१।१।४) ब्रह्मने यज्ञके रूपमें अपने स्वभावगत एकत्वका होम किया और अनेकता प्रकट की. यह बात भगवान् कह रहे हैं ''**अधियज्ञो**

अहमेव अत्र'' सारे यज्ञके बीचमें काम करनेवाला तो (सुपरवाइजर) मैं ही हूं **''अधियज्ञो अहमेव अत्र देहे देहभृतां वर''**.

भगवान् कहते हैं **''द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्च अक्षरएव च, क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो 'अक्षरः' उच्यते...यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः, अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः''** (भग.गीता.१५।१६-१८) क्षरसे मैं अतीत हूं और अक्षरसे अतीत नहीं हूं, अक्षरसे उत्तम हूं. माने अपने धाम(लोकस) और अपने धर्म(एट्रिब्यूट) से मैं उत्तम हूं. जैसे संगीतमें रागके नोटेशन् देखके बजा लिया वह आर्ट नहीं है. आर्ट तो अन्तःस्फुरणाका विषय है. और अन्तःस्फुरणा आर्टमें नहीं आर्टिस्टमें होती है. आर्टिस्ट हमेशा आर्टसे उत्तम ही होता है. इसी लिए वेदने बहुत अच्छी बात कही है **''देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति''** (अथर्ववेद १०।८।३२) ये जगत् कविका काव्य है. मतलब आर्टिस्टका आर्ट ये जगत् है. भगवान् कहते है कि मैं उत्तम हूं, अतीत नहीं हूं. आर्टिस्ट आर्टके द्वारा हमसे जुड़ रहा है. ऐसे भगवान् अपनी लीलाके द्वारा हमसे जुड़ रहे हैं. वह उसकी आर्ट है. इसलिए भगवान् कह रहे हैं **''अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः''**

अब श्रीशंकराचार्य कह रहे हैं कि 'पुरुषोत्तम' नाम भक्तजनोंने बताया है. **''भक्तजनाः विदुः कवयः काव्यादिषु''** पर भगवान् तो कह रहे हैं कि वेदमें यह बात कही है **''वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः''**. और इसके लिए व्यासजी ब्रह्मसूत्रमें कह रहे हैं **''अक्षरम् अम्बरान्तधृतेः''** (ब्र.सू.१।३।१०) अर्थात् अंबरसे लेके पृथ्वी पर्यंतके जितने तत्त्व पैदा हुए, **''आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्यो**

अन्नम्, अन्नात् पुरुषः स वा एषः पुरुषो अन्नरसमयः'' (तैत्ति.उप.२।१) यह अन्नरसमय पुरुषके भीतर प्राणमय पुरुष है, प्राणमय पुरुषके भीतर मनोमय पुरुष है, मनोमय पुरुषके भीतर विज्ञानमय पुरुष है, विज्ञानमय पुरुषके भीतर आनन्दमय पुरुष है. उन सबको धारण करनेवाला अक्षर है, लोकस् वह है. जैसे हमने सेलके उदाहरणमें देखा. महाप्रभुने कहा कि **''तस्माद् अक्षरं परमात्मैव''** (ब्र.सू.भा.१।३।१०) अक्षर परमात्मा ही है, 'कम्' नहीं है. भागवतमें भी अक्षरको मूलभूत कहा है **''न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं, तमो रजो वा महदादयो अमी, न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा न सन्निवेशः खलु लोककल्पः, न स्वप्नजाग्रद् नच तत् सुषुप्तं न खं जलं भूः अनिलो अग्निः अर्कः संसुप्तवत् शून्यवद् अप्रतर्क्यं, तन्मूलभूतं पदम् आमनन्ति.''** (भाग.पुरा.१२।४।२०,२१) यही बात आ रही है.

पर महाप्रभु क्या कहते हैं देखो **''प्रकृतिः पुरुषश्च उभौ परमात्मा अभवत् पुरा, यद्रूपं समधिष्ठाय तद् 'अक्षरम्' उदीर्यते''** (त.दी.नि.२।९८) भगवान्ने प्रकृति और पुरुष रूप बननेके लिए जो रूप धारण किया है वह अक्षर है. और उसमें **''इच्छामात्रात् तिरोभावः तस्य अयं उपचर्यते''** (त.दी.नि.२।१००) **''इच्छायां प्रविष्टायां कार्यव्यापृत्या *तिरोभावइव* उच्यते, वस्तुतस्तु आनन्दमयएव''** (त.दी.नि.प्र.२।१००) आनन्दका तिरोभाव नहीं है. उपचार कब होता है जब होनेके बावजूद कार्यरत न हो.

''मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः'' (त.दी.नि.२।१०१) अक्षरब्रह्म और पुरुषोत्तम के बीच में गैप नहीं है. महाप्रभुजी प्रकाशमें व्याख्या करते हुए कहते हैं **''मूलेन पुरुषोत्तमेन सह अविच्छिन्नतया तिष्ठति नतु कार्यत्वेन''** (त.दी.नि.प्र.२।१०१) मूलसे

अविच्छिन्न रूपसे अक्षर अवस्थित रहता है. अक्षर और पुरुषोत्तम में कोई अवच्छेदक नहीं है जिससे वे भिन्न हो जायें. जैसे अपने पैरसे अपना शरीर अविछिन्नतया है. जूता-टोपी अपने पैर और शिर से विच्छिन्नतया पहने जाते हैं पर शिरसे धड़ अविच्छिन्नतया स्थित है. इसलिए महाप्रभु कहते हैं **''प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः''** (त.दी.नि.२।१०२) ब्रह्मकी स्फूर्ति प्रभुत्वेन जब होती हो तो लोकस तरीके अक्षरब्रह्मकी स्फूर्ति हो रही है. ब्रह्मकी प्रभुकी स्फूर्ति यदि नहीं होती है तो अक्षरब्रह्मकी स्फूर्ति नहीं होती है.

श्रीशंकराचार्यको प्रभुकी तरह स्फूर्ति नहीं हो रही है. दरसल स्फूर्ति तो हो रही है पर उनका दर्शन अलग है और भाव अलग है. क्योंकि श्रीशंकराचार्य स्वयं भी आज्ञा करते हैं कि **''सत्यपि भेदापगमे नाथ तव अहं न मामकीनः त्वं, सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रः तारंग इति''** (विष्णुषट्पदी ३) तेरे और मेरे बीच में भेद नहीं है पर हे नाथ! मैं तेरा हूं, तू मेरा नहीं है क्योंकि समुद्रकी तरंग होती है तरंगका समुद्र नहीं होता है. अपने आपको तरंग मान रहे हैं ब्रह्मको समुद्र मान रहे हैं. वही महाप्रभु भी कहते हैं **''प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः''** (त.दी.नि.२।१०२) प्रभुत्वेन हरि स्फूर्त होता हो तो अक्षरब्रह्मकी धामरूपसे स्फूर्ति होती है और **''अन्तर्याम्यवतारादिरूपेषु पादत्वम् अस्य हि''** (त.दी.नि.२।१०२) प्रभुके अन्तर्यामी स्वरूपमें और अवतीर्णरूपमें जैसे कृष्ण राम नरसिंह में, अक्षर, भगवान्के चरणरूपमें प्रकट होते हैं **''तदुपासनया ज्ञानात् परमात्मत्वम् अस्य हि''** (त.दी.नि.२।१०३) यदि उपासना करो तो परमात्माके रूपमें समझ आयेगा, उपासना नहीं करेंगे तो उसकी परमात्मता समझमें नहीं आयेगी.

इसके लिए **''नतु अक्षरमात्रता''** (त.दी.नि.प्र.२।१०३) महाप्रभुजी स्पष्ट आज्ञा कर रहे हैं कि अक्षरकी उपासना करनेसे वह अक्षर ही नहीं रह जायेगा परमात्मा हो जायेगा. क्योंकि गीतामें भगवान् कह रहे हैं **''ते प्राप्नुवन्ति मामेव''** (भग.गीता.१२।४) अक्षरकी जो उपासना करता है वह मुझे ही मिलता है. एककी उपासना करनेपर दूसरा कैसे मिलेगा? जैसे किसी भी नदीमें हम पड़ें तो अंतमें समुद्रमें मिलेंगे, पर कब मिल सकेंगे जब नदी खुद समुद्रमें मिलती हो तब! वैसे अक्षरब्रह्म परमात्मासे मिला हुआ है इसलिये हम उसमें पड़ें तो परमात्मासे भी मिल जाएं. यह पूरा अक्षरब्रह्मका स्वरूप है जो महाप्रभुजीने स्पष्ट पहली बार समझाया है. किसीने अक्षरब्रह्मको कुछ माना तो किसीने कुछ. पर महाप्रभुजी अपने ऐसे दार्शनिक हैं जिन्होंने पहली बार इस बातको लाइम-लाइटमें लाये कि अक्षरब्रह्म, ब्रह्मका एक अलग फॅन्टास्टिक एस्पेक्ट है और वह है साकारकी व्यापकता अर्थात् विरुद्धधर्माश्रयता.

पुरुषोत्तम विमर्श

इसके बाद इस कॉन्टेक्स्टमें पुरुषोत्तमका स्वरूप क्या है वह अब हम देखें : महाप्रभुके अनुसार सबसे पहले पुरुषोत्तमका स्वरूप अपनेको मिलता है तैत्तिरीय उपनिषद्में. वहां कहा गया है कि **''ॐ ब्रह्मविद् आप्नोति परं, तद् एषा अभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां, परमे व्योमन्, सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता''** (तैत्ति.उप.२।१।१). सबसे पहले अक्षरब्रह्मको अपने हृदयमें रियलाइज करना जरूरी है क्योंकि अक्षरब्रह्म अपना कांटेक्ट-लिंक है, जैसे आजकल मोबाइलमें लिंक दी जाए तब कोई भी साइट् खुलती है. ऐसे

पुरुषोत्तमसे अपनी लिंक अक्षरब्रह्म है अत: उसे अपने हृदयमें रियलाइज़ करो तो आपको पुरुषोत्तम मिलेगा क्योंकि अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तमका धाम होनेसे वह वहीं स्थित है. अब यह लिंक ही नहीं खुल रही है तो पुरुषोत्तम कहांसे मिलेगा! उपनिषद् कहता है **''यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सो अश्नुते''** अक्षरब्रह्मविद्को परमात्मा प्राप्त होता है. इस बातको महाप्रभु कहते हैं कि परमात्मा और अक्षरब्रह्म के एस्पेक्टमें डिफरेंस क्या है? उसे यों समझाया गया है कि **'परम्'** आनन्दमय है और **''इदं(ब्रह्म) पुच्छं प्रतिष्ठा''** (तत्रैव) अक्षरब्रह्म उसका आधार है, लोकस् है, एट्रीब्यूट् है. उसके बाद **''आनन्दप्रचुरत्वेन 'पुरुषोत्तमः' उच्यते''** सेलके सेल्फ-मल्टीप्लिकेशनका जो मॉडल दिखाया, उससे समझ सकते हो कि बायोलोजिकल् सेलका जो न्यूक्लियस है उसकी सर्वभवनसामर्थ्य, अर्थात् उसका जो क्रोमोज़ोम् है वह न्यूक्लियस् द्वारा इंस्पायर्ड होनेपर उसके सेल्फ-मल्टिप्लिकेशन् इम्प्लिमेंट् करता है, यदि इंस्पायर न हो तो सपोर्ट भी नहीं करता. यह जो क्रोमोज़ोमका एरिया है उसमें गाइडिंग फैक्टर **पुरुषोत्तम** है वह **आनंदमय** है. **''ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा''** है. ब्रह्मके क्रोमोज़ोम् यहां प्रतिष्ठित हैं. ये अक्षरब्रह्म ब्रह्मपुच्छरूप अर्थात् आधारस्थानीय है आनंदात्मक आधार है.

यही बात श्वेताश्वेतरोपनिषद्ने बहुत खूबसूरतीसे दिखलायी है **''काल: स्वभाव: नियति: यदृच्छा भूतानि योनि: पुरुष: इति चिन्त्या: संयोग: एषां नतु आत्मभावाद् आत्मापि अनीश: सुखदु:खहेतो:''** (श्वेता.उप.१।२). कई लोग कहते हैं कि जगत् **कालसे** पैदा हुआ, (आजकल एक नई थियरी अभी प्रपोज़ हुई है साइंटिफिक फिलोसोफीमें कि काल अथवा टाइम् जैसा कोई फिनोमिना ही नहीं है. केवल एक्शन अथवा फंक्शन ही है. वह एक अलग प्रकार

है) कुछ लोग कहते हैं जगत् **स्वभाव**से पैदा हुआ; जैन-बौद्ध स्वभावसे सब चीज़को उत्पन्न मान रहे हैं क्योंकि उन्हें कर्ताकी ज़रुरत नहीं लगती है, क्योंकि जगत्कर्तासे जगत्को पैदा होनेके नियमको माननेपर उसे पैदा करनेवाला कर्ता होना चाहिये. वह यदि स्वयंभू हो तो जगत् क्यों स्वयंभू नहीं हो सकता? जगत्की बहुत सारी वस्तु कंन्टिजेन्ट् अर्थात् किसी दूसरी वस्तुसे अस्तित्वमें आती हों तो अनवस्थाके परिहार करनेका कोई स्वतो-अस्तित्वशाली पदार्थ स्वीकारना ही हो तो उसे सृष्टिकी समग्रताके साथ जोड़ कर देखना चाहिये तत्तद् व्यष्टि पदार्थके साथ नहीं. अन्य कुछ लोगोंका कहना है कि **नियति**वशात् सब कुछ पैदा होता है. मतलब कि हर वस्तुमें रही हुई एक पोटेंशियलिटी है डेस्टिनिकी, उस नियतिके कारण वह जैसी है वैसी बनेगी. और कुछ लोग **यदृच्छा**(एक्सीडेंटलिज़म्) मानते हैं, माने कॉस्मॉस नहीं मानके केऑस मानते हैं. परन्तु आज यह कैसे डिसाइड करना कि वर्ल्ड केऑस है अथवा कॉस्मॉस है?

जबकि सच बात यह है कि Every chaos presupposes cosmos and every cosmos presupposes chaos. हर केऑसके (वैश्विक अव्यवस्था) भीतर कॉस्मॉस (वैश्विक व्यवस्था) है और कॉस्मोसके भीतर फिरसे एक केऑस है. यह हम न्यूक्लियर-सेलमें भी देख सकते हैं कि माइक्रो-लेवलमें किस तरहसे केऑस् चल रहा है और उस केऑस्में से कैसे कॉस्मॉस् बन जाता है! यह **यदृच्छा** है. और **भूतानि** : कुछ लोग 'भूत' मतलब सब्स्टेंसको ही कारण मानते हैं कि भूतसे भूत पैदा होते हैं. और कुछ लोग **योनि** मतलब प्रकृतिको कारण मानते हैं, कुछ लोग **पुरुष**चेतनाको कारण मानते हैं. कुछ लोग इनमें से किसीको न मान कर इनके **संयोग**को कारण मानते हैं, जैसे बुद्ध भगवान्ने 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद'

कहा वह इनके संयोगको कहा. वेदमें तो काल-स्वभावादि डिफरेंट प्रपोज़ल थे पर फिलोसॉफीके कारण बढ़ते-बढ़ते इतने प्रपोज़ल् हो गए.

उपनिषद् कहता है ''**ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मायुक्तानि अधितिष्ठति एकः**'' (श्वेता.उप.१।३) उन तत्त्वद्रष्टा ऋषिओंने जब ध्यानयोग लगा कर इन्ट्युटिवली देखा तो उनको पता चला कि ये सारे फैक्टर्स/शक्तियां हैं और वे ब्रह्ममें अन्तर्भूत हो जाते हैं. जितने भी कारण प्रपोज़ कर रहे हो उनका अधिष्ठाता ब्रह्म एक ही है **कालात्मायुक्तानि अधितिष्ठति एकः**. इसलिए उपनिषद्ने ये बात कही कि ''**कृषिर् 'भू'वाचकः शब्दः णश्च 'निर्वृति'वाचकः तयोः ऐक्यं परं ब्रह्म 'कृष्ण'इति अभिधीयते**'' (गो.पू.ता.उप.१) **'कृष्'**=होनेके (सत्) अर्थमें है. **'ण'**=आनन्दके अर्थमें है. अर्थात् **सदानन्द** कहनेसे ये सारी बात कवर हो जाती हैं सन्दंशन्यायसे. इस बातको गीता स्वीकारती है कि ''**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा, मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिद् अस्ति धनञ्जय!, मयि सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रं मणिगणाइव**'' (भग.गीता.७।६-७) अर्थात् ''मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूं. मेरेसे बढ़ कर दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं है, जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओत-प्रोत है.''

भगवद्गीतामें यह और कहा गया है कि ''**अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति अहरागमे रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैव अव्यक्तसंज्ञके**'' (भग.गीता.८।१८) अव्यक्त(प्रकृति)से सब व्यक्त चीज़ पैदा हो रही हैं, साइक्लिकल् कोर्स है डे-एन्ड-नाईटके

जैसा (ब्रह्माजीका दिन-रात). ये पल्सेट थीयरी है. एक वक्त वह प्रोड्युस(व्यक्त) करता है और फिर अपनेमें रिअबसॉर्ब (अव्यक्तीभूत) कर लेता है. ब्रह्मसे यह उस प्रकृतिको जेनेटिकली मिला है क्योंकि ब्रह्मकी परिभाषामें यह बात कही है **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति''** (तैत्ति.उप.३।१) प्रकृतिने उसको निभाया है डायनामिक् मूड्में (क्रियाशक्तिके रूपमें), और पुरुषने उसको निभाया है स्टेटिक् मूड्में (ज्ञान/चैतन्यके रूपमें). प्रकृतिको ब्रह्मका डायनामिक वारसा मिला है जबकि पुरुषको वारसा कॉन्शीयसनेसका मिला है.

''परः तस्मात्तु भावो अन्यो अव्यक्तो व्यक्तात् सनातनः, यः सः सर्वेषु भूतेषु न नश्यत्सु न विनश्यति, अव्यक्तो 'अक्षर'इति उक्तः तम् आहुः परमां गतिं, यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'' (भग.गीता.८।२०-२१) जो अव्यक्त है वह अक्षर है और उसीको 'परमगति' कहा है. इसके बाद भगवान् कहते हैं **''यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम''** यह(अक्षरब्रह्म) तुमको प्राप्त हो गया तो फिर लौटके नहीं जाओगे. तद्रूप हो जाओगे, वह मेरा धाम है. **''पुरुषः सः परः पार्थः भक्त्या लभ्यस्तु अनन्यया यस्य अन्तःस्थानि भूतानि येन सर्वम् इदं ततम्''** (भग.गीता.८।२२) इस धाममें रहनेवाला जो पुरुषोत्तम है वह रियलाइज़ेशनसे तो नहीं मिलेगा रेलिशमेंटसे मिलेगा. Aksharbrahman is to be realised and purushottam is to be relished बस इतना अंतर है. इसलिए ब्रह्मसूत्रमें कहा है कि **''आनन्दमयो अभ्यासाद्, विकारशब्दाद् न, इति चेद्, न, प्राचुर्यात्''** (ब्र.सू.१।१।११-१२) **'आनन्दमय'** परब्रह्म है, उसमें **'मय'**शब्द विकारके अर्थमें नहीं है, पर प्रचुरताके अर्थमें है.

भागवत इसे व्याख्यायित करती है ''**अहमेव आसमेव अग्रे न अन्यद् यत् सदसत् परं पश्चाद् अहं यद् एतच्च यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम्**'' (भाग.पुरा.२।९।३२) ''मैं ही पहले था, न सद् था न असद् था अर्थात् व्यक्त भी नहीं था और अव्यक्त भी नहीं था और इनके प्रकट होनेके बाद भी मैं ही इस रूपसे हुआ हूं और जो बचेगा वह मैं ही बचूंगा. उसके बाद भागवत कन्क्लुज़नमें बहुत मज़ेदार एक बात कहती है जो महाप्रभुकी फिलोसोफीका एकदम सेंट्रल आईडिया है ''**एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुना आत्मनः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा**'' (भाग.पुरा.२।९।३५) जो सब जगह अन्वित भी है और सब जगह अनन्वित (सबसे व्यतिरिक्त) भी है. ''**स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्**'' (ऋक्.संहि.१०।९०।१) सबमें इमनेंट भी है और ट्रांसेंडेंटल भी है विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण. ''**सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्**'' (त.दी.नि.१।७०) है. अतएव महाप्रभु कन्क्लुज़नमें एक बात कहते हैं ''**नाना सृष्टिप्रकाराः हि नाना धर्माः ह्यनेकधा सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु तेषु-तेषु तथा उदितः**'' (त.दी.नि.२।५२) सृष्टिके प्रकट होनेका कोईका एक प्रकार नहीं है मल्टीपल थियरीस् हैं. ''**नाना धर्माः हि अनेकधा**'' एट्रिब्यूट्स भी उसके अनन्त हैं पर ''**सर्वस्वरूपी**[१] **कृष्णस्तु**'' कृष्ण तो सर्वरूप है **तेषु-तेषु तथा उदितः**.

''**प्रमेयं हरिरेव एकः सगुणः निर्गुणः च सः गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयश्च सः... कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतः**'' (त.दी.नि.२।८४-८६) प्रमेय अथवा जो ट्रुथ है वह तो एक हरि ही है; सगुण/विथ एट्रीब्यूट्स भी है और निर्गुण/विदाउट एट्रीब्यूट्स भी है; गुण/एट्रिब्यूट्स, कार्य/रिज़ल्ट, धर्म/क्वालिटी, क्रिया और उत्पत्त्यादि=उत्पत्ति-स्थिति-लय

१.सर्वं च तत् स्वरूपं च तद् अस्य अस्तीति सर्वस्वरूपी.(सम्पा)

सब वही है; कार्यरूप भी है कारणरूप भी है. और २८तत्त्व भी प्रमेयरूप हरि ही हैं जो महाप्रभुजीने सांख्यके विमर्श करते हुवे कहा है **''सांख्यः बहुविधः प्रोक्तः तत्र एकः सत्प्रमाणकः अष्टाविंशतितत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः''** (त.दी.नि.१।९३). महाप्रभुजी यहां एक और फँटास्टिक कमेंट् करते हैं कि **''अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतः''** कारणमें यह मल्टीप्लीसिटी है जिसके कारण २८ तत्त्व हो रहे हैं. ब्रह्मकी कारणता तो है ही नही. (न तस्य कार्यं करणं च विद्यते) क्योंकि कारण किसका होगा? यदि कार्य है तो कारण होगा. यहां कार्य भी ब्रह्म है और कारण भी ब्रह्म है तो कारण-कार्यभाव कैसे सिद्ध हो पायेगा! कार्य-कारणभाव नहीं होगा. इसीलिये वह कभी कारण बनके आविर्भूत होता है तो कभी कार्यरूपेण **''आविर्भावतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः''** (त.दी.नि.१।७२). यदि ब्रह्मको उसके स्वयंके नेचरसे देखें तो न वह कारण है न कार्य, केवल ब्रह्म ही है, अपने एंगलसे देखें तो जो पहले है वह कारण है और बादमें आ रहा है वह कार्य है, यह अपना नैरो-पर्सपेक्टिव है उनके पर्स्पेक्टिवूमें नहीं है. यह पुरुषोत्तमका स्वरूप महाप्रभुजीने समझाया है.

(प्रश्न) गो.मि.कु. : काकाजी आपने पांच प्रकारके ब्रह्मकी जो बात कही कि काल कर्म और स्वभाव. कालरूप शिव हैं, कर्मरूप ब्रह्मा हैं और स्वभावरूप विष्णु हैं. फिर आएगा प्रकृति एवं पुरुष. जो तीन पुरुषकी यहां चर्चा देख रहे हैं उसमें प्रथम तो पुरुषोत्तम है, फिर यहांपर अक्षरब्रह्मात्मक-पुरुष इनके बीच कहां आएगा? और फिर जगत् रूपी पुरुष जिसको हम पुरुष कह रहे हैं मानवके रूपमें इन सबमें क्या तरतमता है?

(उत्तर) गो.श्या.म. : सबसे पहले तो पुरुषका मतलब मेल (male) नहीं है पर पुरुषका मतलब है जो किसी बॉडी(शरीर)में हो, जो विदाउट बॉडी है वह अपुरुष है. उपनिषद्में आया है कि ब्रह्म पुरुषविध भी है और अपुरुषविध भी. और ब्रह्मसूत्र **''उभयव्यपदेशात् तु अहिकुण्डलवत्''** (ब्र.सू.३।२।२७)में हम देख सकते हैं कि सूर्यकी बॉडी भी है जहां-तक गोलेका सवाल है और जहां-तक सिस्टमका सवाल है तो वह अपुरुषविध या विदाउट बॉडी भी है सोलार-सिस्टममें. वैसे ही अक्षरब्रह्म विदाउट बॉडीवाला पुरुष भी है.

भागवतके एकादश स्कन्धमें उद्धवजीने सवाल किया है कि दुनियामें तो मूलप्रकृति और मूलपुरुष अलगथलग तो दिख ही नहीं रहे हैं. जो पुरुषका इंस्टेंस् दीखता है वहां प्रकृति दिख रही है और जहां प्रकृतिका इंस्टेंस् दीखता है वहां पुरुष दिख रहा है. तो इनको अलग कैसे समझना? भगवान्ने बहुत सुंदर खुलासा किया है कि ये दो नहीं हैं एक ही हैं पर ये दो छोर(ध्रुव) हैं. जैसे एक ही उपरनाके दो छोर होते हैं, जिस तरहसे भी देखना हो. अथवा तो जैसे काइनेटिक् एनर्जी और स्टेटिक् एनर्जी दो नहीं हैं, मूलमें तो ब्रह्मके एंगलसे तो एक ही एनर्जी है पर रिवील ऐसे हो रही है जैसे काइनेटिक् एनर्जी एक अलग एनर्जी है और स्टेटिक् एनर्जी एक अलग एनर्जी है. अथवा जैसे पृथ्वी सूर्यके चक्कर काट रही है काइनेटिक् मोड्में, पर चंद्रमाके लिए वह स्टेटिक् मोड्में है, चक्कर नहीं काट रही है. पृथ्वीके रिलेशनमें सूर्य स्टेटिक् मोड्में है और यही सूर्य अपनी आकाशगंगा/गेलेक्सीके किनारे कहीं स्थित होनेके कारण गेलेक्सीका अतिवेगसे लंबा चक्कर काट रहा है. सूर्य

फिर भी अपने लिये वह स्टैटिक् मोड्में है. गैलीलियोके समयमें तो हेलियो-सेंट्रिक् थियरी सच्ची या जिओ-सेंट्रिक् थियरी सच्ची का झगड़ा चलता रहा, अपने यहां तो झगड़ा ही नहीं है क्योंकि काइनेटिक् और स्टेटिक् एनर्जी एक-दूसरेसे रिलेटिव हैं. भगवान्ने इसका स्पष्ट खुलासा किया है एकादश स्कंधमें.

(प्रश्न)गो.मि.कु. : काकाजी! जैसे पुरुष कॉनशियसनेस् हो गया तो प्रकृति क्या होगी?

(उत्तर)गो.श्या.म. : पुरुषमें डायनेमिक् एनर्जी पोटेंट न हो कर लेटेंट/छुपी है और प्रकृतिमें कॉन्शियस एनर्जी पोटेंट न हो कर लेटेंट/छुपी है, पर हैं दोनोंमें दोनों एनर्जी, ये भगवान् बता रहे हैं. जैसे अपनी जितनी ज्ञानेन्द्रियां हैं उनमें कर्मका फंक्शन है कि नहीं! और जितनी कर्मेन्द्रियें हैं उनमें ज्ञान भी है कि नहीं! उदाहरणतया मोबाइल हाथमें ले कर देखो कि, हाथमें (कर्मेन्द्रियमें) लेनेपर भी मोबाइलके वज़नका ख्याल भी आ रहा है कि नहीं! तो क्या हाथ भी ज्ञानेन्द्रिय हुई कि नहीं! ऐसे ही आंखसे, जो ज्ञानेन्द्रिय है, आपको देखते हुये भी मैं आपको नहीं देख कर मेरे स्क्रीनपर दिखलायी देते फोटोको भी देख सकता हूं. महाप्रभुके चित्रको भी देख सकता हूं. ये तो एक्शनसे ही आएगा कि नहीं? विदाउट एक्शन कैसे पॉसिबल होगा? आप भी अभी मुझे देखते हुये साइमलटेनियसली मुझे नहीं देख कर मेरे ऊपर महाप्रभुजीके चित्रको देख सकते हो, राधाकृष्णके चित्रको भी देख सकते हो; विदाउट एक्शन यह कैसे पॉसिबल हो सकता है. ऐसे ज्ञानमें भी क्रिया है और क्रियामें भी ज्ञान है. बहुत्वका व्यपदेश होता है जिसमें जो ज़्यादा हो वह हम कहते हैं.

जैसे ब्राह्मणबहुल गांवको 'ब्राह्मणोंका गांव' कहा जाता है, वैश्यबहुल गांवको 'बनियोंका गांव' कहा जायेगा. ऐसे समझना चाहिये.

॥ श्रीहरिः ॥

पुरुषोत्तमविवेक

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमोनमः॥

मथुरा तो भारतकी मोक्षदायिका सात पवित्र पुरियोंमेंसे एक है **''शूरसेनो यदुपतिः मथुराम् आवसन् पुरीं माथुरान् शूरसेनान् च विषयान् बुभुजे पुरा, राजधानी ततः सा अभूत् सर्वयादवभूभुजां मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः''** (भाग.पुरा.१०।१।२७-२८). त्रेतायुगमें रघुकुलरविरूप भगवान् श्रीरामके अनुज शत्रुघ्न द्वारा तदानीं मधुवनकी भूमिमें यह नगरी बसाई गई थी. द्वापरयुगमें यादवोंकी राजधानी यह यदुकुलचन्द्र भगवान् श्रीकृष्णकी भी जन्मभूमि बनी. इसके इर्दगिर्द जो गोचरभूमि थी वह 'व्रजभूमि' कहलायी, **''व्रजो गोष्ठाऽध्ववृन्देषु''** (मेदि.को.३।३।११९). अर्थात् व्रजभूमिपर भी आधिपत्य तो तब भी यादवोंका ही था. सो व्रजभूमिमें गोपालक आभीर समुदायके प्रमुख नन्दादि गोप भी यादवोंके आधीन्यमें होनेके कारण मथुरामें **''नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं... वसुदेवः उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दम् आगतं ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम्''** (भाग.पुरा.१०।५।१९-२०) अर्थात् नन्दगोप भी वैसे तो वसुदेवके वैमातृक भ्राता ही थे, जहां वसुदेवने अपने आत्मजको कंसके अत्याचारके भयसे छिपा रखा था. अतः व्रजभूमि भी प्रशासकीय दृष्टिसे तो मथुराके अन्तर्गत ही आती है पर भौगोलिक दृष्टिसे मथुरा व्रजके अन्तर्गत आती है. अतः मुझे नहीं लगता कि क्या किसके अन्तर्भूत है इस जिज्ञासाका कोई महत्त्व हो. हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने भी समग्र व्रजभूमिकी

यात्रार्थ अपना तीर्थपुरोहित माथुर श्रीउजागर चतुर्वेदीजीको ही तब मान्य किया था. जो प्रमाणित करता है कि व्रजभूमि और मथुरा के बीच महाप्रभुके हृदयमें तारतम्यभाव नहीं था. परवर्ती कालमें अन्यान्य गोकुल जतिपुरा नन्दगांव बरसाना दाऊजी स्थलोंकी पहचान हो जानेपर तत्तत् स्थानीय ब्राह्मणोंका भी तीर्थके पुरोहिततया वरण किया गया. यह कथा भिन्न है. परम्परा तो अद्यावधि यही निभाई जा रही है.

यह तो ठीक ही है कि व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला व्रजभक्तिकी भावना करनेवालोंको अधिक हृदयंगम लगती हों, एतावता लीलाविहारी श्रीकृष्णमें गोकुलाधीश व्रजाधीश मथुराधीश या द्वारकाधीश के प्रभेद करके तारतम्य खोजना परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपकी अखण्डताका प्रत्याख्यान ही लगता है. उदाहरणतया मैं अपने घरमें रहनेके कारण अपने घरके बारेमें अधिक मोह रखता होउं पर एतावता मेरे शहर राज्य देश भौगोलिक खण्ड या भूमाताको अवर तो नहीं मान सकता.

अतएव वाल्लभ ग्रन्थोंका अध्ययनशील होनेके कारण यह कहना मैं अपना उचित कर्तव्य समझता हूं कि महाप्रभुकी धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिके अनुसार परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तमकी तात्त्विक स्वाभाविक एकतामें कुछ लीला **लोकवेदातीत** हो सकती हैं तो कुछ लीला **लोकवेदप्रथित** भी. लीलाविहारी श्रीकृष्णके स्वरूपमें, किन्तु, प्रभेद हो नहीं सकता.

लोकवेदप्रथित लीला वे हैं जो ब्रह्म परमात्मा या भगवान् की सृष्टिनिर्माण सृष्टिपालन अथवा सृष्टिसंवरण आदि लीलायें वेदोपनिषद् महाभारत पुराणोंमें प्रतिपादित हुयी हैं.

इन लीलाओंके विपरीत, जैसाकि भागवतपुराणमें दरसाया गया है **''इति उक्त्वा आसीद् हरिः तूष्णीं भगवान् आत्ममायया पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यः बभूव प्राकृतः शिशुः''** (भाग.पुरा.१०।३।४६) यह क्षरप्रकृतिसे अतीत और अक्षरब्रह्मसे उत्तम ऐसे पुरुषोत्तमकी प्राकृत शिशु बन पानेकी जो योगमाया है, जिसके कारण वे भक्तभावानुरूप स्वरूप धारण कर जिनके बीचमें प्रकट हो कर लीलाविहार करना चाहते हैं उनके साथ अपना साधारणीकरण प्रकट करते हैं, यह ऐसी लीला है जिसे **'लोकवेदातीत'** अर्थात् भक्तजनैकगम्य मानी गयी हैं.

क्योंकि लोकमें कोई भी प्राकृत शिशु वैसे क्रियाकलाप करने समर्थ नहीं हो पाता है, जो-जैसी लीला भगवान्ने व्रजभूमिमें दरसायी हैं. परब्रह्म परमात्मा भगवान् इस तरहके प्राकृत रूप धारण करके जैसे गुणधर्माचरण प्रकट करते हैं वह तो उनकी लीलाओंके वर्णनपरक रामायण भागवत आदि शास्त्रोंमें ही केवल निरूपित हुयी हैं. इन अवतारलीलाओंके वर्णनके अलावा अन्यत्र लोकमें अथवा तो वेदादि शास्त्रोंमें भी देखनेको मिलते नहीं अतः **'लोकवेदातीत'** कहा जाता है. अतः लीलाओंमें यह प्रभेद है स्वरूपमें नहीं.

यदि ऐसा कोई स्वरूपप्रभेद महाप्रभु वल्लभाचार्यको अभिप्रेत होता तो श्रीकृष्णकी त्रिविधनामावलीके उपसंहारमें व्रजलीला मथुरालीला और द्वारकालीला के नामोंके अवगाहनसे **''बाललीलानामपाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते, आसक्तिः प्रौढलीलायाः नामपाठाद् भविष्यति, व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलाभिधानतः तस्माद् नामत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीच्छुभिः सदा''** (त्रि.वि.ना.) ऐसा महाप्रभु कदापि नहीं

करते. अवधेय है कि महाप्रभुके अनुसार भक्तिकी परमोच्चकक्षा व्यसनावस्था स्वीकारी गयी है. वहां द्वारकालीलाके नामोंके अवगाहनसे यदि द्वारकाधीशमें किसी भी तरहका तारतम्य हो तो शक्य ही नहीं रह जायेगी.

स्वयं भगवान्ने अवतीर्ण होनेके बाद उन्हें कैसे समझा या भजा जाये इसका खुलासा भगवान्ने निजमुखारविन्दसे **''युवां मां ब्रह्मभावेन पुत्रभावेन च असकृत् चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्यथे मद्गतिं पराम्''** (भाग.पुरा.१०।३।४५) दिया है.

इस आज्ञाके अनुरोधवश पुष्टिभक्तिमार्गमें श्रीकृष्णके ब्रह्मभावको भुलाकर केवल वात्सल्य सख्य दास्य माधुर्य भावोंसे सेवा नहीं की जाती, प्रत्युत सर्वभावोंके यथोचित विनियोग द्वारा की जाती है. न इन व्रजलीलामें प्रकट किये अपने भक्तचित्ताकर्षक स्वरूपोंको भूल कर केवल ब्रह्म परमात्मा या भगवान् के रूपमें ही श्रीकृष्णके विग्रहोंको पूजा या भजा जाता है. महाप्रभु सिद्धान्तमुक्तावलीमें सुस्पष्ट शब्दोंमें **''अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयताम्''** (सि.मु.१२) आज्ञा देते हैं. सांप्रदायिक दीक्षाविधि, जो कृष्णसेवार्थ ही विहित है, उसका नाम 'कृष्णसम्बन्ध' न हो कर 'ब्रह्मसम्बन्ध' ही माना गया है : **''ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिः हि''** (सिद्धा.रह.२). अतएव पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीके उत्सवों और गेयपदों के आपततः दृष्टिपात करने भरसे यह समझा सकता है. जिन वल्लभसम्प्रदायमें दीक्षित लोगोंसे अपने घरमें अपने परिजनोंके साथ अपने तन-धन-मनसे व्रजलीलाओंकी अनुकरणात्मिका सेवा निभ न पाती हो ऐसोंके लिये महाप्रभु और उनके ज्येष्ठात्मज गोपीनाथ प्रभुचरण सुस्पष्ट शब्दोंमें **''जगन्नाथे**

पाण्डुरंगे श्रीरंगे वेंकटे तथा यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः'',**''जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे व्रजमण्डले यत्र पूजाप्रवाहः तत्र तिष्ठेत् च तत्परः''** (त.दी.नि.२।२५५, साध.दीपि.३६) आज्ञा प्रदान की है अतः इन मर्यादामार्गीय देवालयोंमें बिराजमान भगवद्विग्रह या पुष्टिमार्गीय देवालयोंमें बिराजमान भगवद्विग्रहों के बीच तारतम्य नहीं पर गृहसेवा न निभनेपर मर्यादामार्गीय पूजाविधिकी अपरिहार्यताका सिद्धान्त है. पुष्टिमार्गमें अन्याश्रय तो अत्यन्त निषिद्ध है और इन मर्यादामार्गीय देवालयोंमें महाप्रभुसे लेकर अद्यावधि दर्शनार्चनप्रसादग्रहण परम्परानुमत होनेसे भगवद्विग्रहोंमें तारतम्य अपसिद्धान्त ही मानना चाहिये.

जैन और वाल्लभ धर्म-दर्शनका तुलनात्मक विमर्श

(परिशोधित : मुं.जै.न.यु.सं-आयो.पर्यु.व्या.माला.*)

[यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्म इति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव: कर्तेति नैयायिका:।
अर्हन् इत्यथ जैनशासनरता: कर्मेति मीमांसका:
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरि:॥]

'वाल्लभ' यानि वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित मार्ग. सामान्य लोकधारणा ऐसी है कि ये दोनों मार्ग उत्तर-दक्षिण ध्रुवके जैसे एकदूजेसे विपरीत हैं. फिरभी कई बातोंमें दोनोंके जो धार्मिक दृष्टिकोण और जो तात्त्विक दृष्टिकोण हैं उनका तुलनात्मक अध्ययन जैसा होना चाहिये था, हो नहीं पाया. जैनों और वाल्लभों की यह संगति कैसे प्रकट होती है इस विषयमें कुछ मुझे कहना हो, जैन शास्त्रोंमें या जैन अवधारणाओंमें और वाल्लभ शास्त्रमें या वाल्लभ संप्रदायकी अनुयायिओंकी जो अवधारणायें हैं उनमें एकदूजेके विरुद्ध बहुत सारे विधान मिलते हैं पर इस बातमें सभीका दृष्टिकोण "स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति" का होना चाहिये.

जैसेकि जैन धर्मके जो आदिनाथ हैं उन्हें भागवत संप्रदाय विष्णुका अवतार मानता है. भगवान् श्रीरामको और भगवान् श्रीकृष्णको जैन पुराणोंमें जैन माना गया है. महाभारतके कारण कृष्णको हज़ार वर्षोंकी नरकयातना भोगनी पड़ रही है उसके बाद वे

---

*श्रीधनवन्तभाईके संचालकत्वमें मुंबई जैन नवयुवकसंघ-आयोजित पर्युषण व्याख्यानमालामें प्रवचनका मेरे द्वारा संशोधित रूपमें. गो.श्या.म.

भावी तीर्थंकर बनके प्रकट होंगे. फिरभी होनेवाले तीर्थंकरके प्रति आपसी बातचीतमें आदरके बजाय अनादरका सुर अधिक मुखरित किया जाता है. बहुत जैनमतानुयायी इस बाबतमें वैष्णवोंका उपहास करते रहते हैं. वैष्णवजन भी उससे उत्तेजित हो(एजीटेट) जाते हैं. कई बार मुझे आ कर पूछते हैं कि हमें इसका विरोध कैसे करना? और मैं प्राय: यही बात उन्हें समझाता हूं कि विरोध करने जैसी महत्त्वपूर्ण यह बात नहीं है क्योंकि कृष्णको जो हम सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वीकारते हों तो साठ हज़ार वर्ष नहीं परन्तु जबसे सृष्टिका आरंभ हुवा और जब तक अंत होगा तब तक सर्वव्यापी होनेके कारण न केवल नरकमें प्रत्युत कण-कणमें (स्वयं महावीर तीर्थंकरमें भी) व्याप्त तो होंगे कि नहीं! इसे इन्कारा कैसे जा सकता है?

जैन तो बहुत कम केवल साठ हज़ार वर्षकी ही नरकमें होनेकी बात करते हैं. समग्र सृष्टिकी आयुष्यमें साठ हज़ार बरसकी कीमत कितनी? अत: क्यों व्यर्थ उत्तेजित होते हो!. भागवतकी दृष्टिसे विचारें तो देखा जा सकता है कि विराटके स्वरूपकी कल्पनामें, जो दर्शन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान करके करवाये थे, उस विराट पुरुषके पृष्ठभागमें नरक है ही! भगवान्की विराटतामें नरक है और अतएव नरकमें भी भगवान् हैं ही. यही तो भगवद्गीताका मुख्य संदेश है कि सब कुछ भगवान्के भीतर है और सबके भीतर भगवान् बिराजमान हैं. और यह केवल साठ हजार वर्षमें सीमित नहीं है. यह तो सृष्टिसे प्रलय कालतकका तथ्य है. इसमें गुस्सा होनेकी क्या बात है!

जो समग्र ब्रह्माण्ड कृष्णके विग्रहमें समाविष्ट हो तो जैन

मुनि जैसे संथारा करते हैं तब अन्य किसीकी हिंसा तो नहीं परन्तु स्वयं अपने भीतर रहे असंख्य जीवकोशोंकी तो क्रूरतम हिंसा होती ही है कि नहीं? संभोगसे सन्तानोत्पत्तिमें हिंसा माननेवाले संथारामें खुद अपने भीतर न जाने कितने जीवकोशोंके निष्ठुर हत्या करते ही हैं. तो महाभारतको भी विराट पुरुषके द्वारा अनुष्ठित संथारा स्वीकारनेमें क्या अन्तर हो सकता है! हमें मान लेना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णने भी जैनोंके अनुसार संथारा (और हमारे शास्त्रोंके अनुसार 'तपो नानशनात् पर:") ही किया होगा. सारेके सारे कौरव-पांडव भगवान्के विराट स्वरूपमें समाविष्ठ दिखलायी दिये थे.

ऐसी एकदूजेके विरोधमें जो बातें प्रचारित की जाती हैं तो वो विभिन्न संप्रदायोंकी विभिन्न परंपरा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणसे एक ही तथ्य या घटना को निहारनेकी अपनी-अपनी अवधारणा होती ही हैं. मैं अपनी बड़ी बिटियाकी बात आपको बताना चाहूंगा कि शायद आपको सुननेमें मज़ा आयेगा. वह जब पांच-छह वर्षकी हुई तो मैंने उसे सिखाना शुरु किया कि किस धर्मकी क्या-कैसी आस्था है, क्या उनका दार्शनिक दृष्टिकोण है आदि-आदि. उसने बचपनमें ही बच्चे जैसे रट लेते हैं वैसे रट लिया. बादमें स्कूलमें उसकी कोई सहपाठिनी जैन थी. वह उसके सामने शेखी बघारने लगी कि तुम तो नास्तिक हो और हम आस्तिक हैं. मेरी बिटियाकी उस जैन दोस्तने उसे टोका कि तुमको हमारे बारेमें क्या मालूम हम भी आस्तिक हैं. तुझे हमारे धर्मकी रीत खबर ही नहीं है. हम भी आस्तिक हैं. हम भी भगवान्को मानते हैं.

मेरी बिटियाने घर आनेपर मुझे पूछा "काका! आप तो

कहते हो कि जैन नास्तिक होते हैं पर मेरे साथ पढ़नेवाली तो कहती है कि तुझे क्या खबर हमारे धर्मकी हम भी आस्तिक हैं. हम भी भगवान्में मानते हैं आस्तिक हैं. तब मैंने उसे जैनधर्मकी यह बारीकी समझायी कि जिस तरहके भगवान् हम मानते हैं वैसे भगवान् जैन नहीं मानते और जैनधर्ममें जैसे भगवान् माने गये हैं उन्हें हम नहीं मानते. अत: भगवान्को मान लेनेसे कोई न तो आस्तिक हो जाता है और न इन्कारनेसे कोई नास्तिक. इस विषयमें थोड़ी सी स्याद्वादकी दृष्टि हमें अपनानी चाहिये कि कौन कैसे किसे भगवान् मानता है.

हम भगवान्को मानते हैं जगत्के कर्ता पालक और संहारक होनेके अर्थमें. जैन लोग भगवान् मानते हैं महावीरको जगत्के कर्ता होनेके अर्थमें नहीं. परन्तु खुदने कैवल्यसिद्धि प्राप्त की, सर्वज्ञता प्राप्त की होनेके अर्थमें. इसी अर्थमें महावीर उनके भगवान् हैं. अपने अर्थमें नहीं जैसा कि हम अपने अर्थमें अपने आराध्योंको भगवान् मानते हैं.

इससे समझा जा सकता है कि कौन किस अर्थमें किसे भगवान् मान रहा है यह जाने बिना कौन आस्तिक है या कौन नास्तिक इस बारेमें निर्णय लेनेकी धांधल नहीं करनी चाहिये. एकदूजेको बराबर समझे बिना ऐसी असमंजसता तो होती ही है.

प्रमुख मुद्दा यह है कि जैनधर्ममें अनेकांतवाद मुख्य सिद्धान्त है. वैदिकधर्ममें भी शुरुआतसे ही ब्रह्मके बारेमें सर्वरूप सर्वनामा सर्वकर्ता होनेकी अवधारणा थी ही. अब हर सर्वनामके साथ यह बड़ी विडंबना है कि जब 'मैं' बोलता हूं तो 'मैं'का अर्थ श्याम मनोहर होता है पर जो धनवंतभाई 'मैं'बोलें तो 'मैं'का

अर्थ श्याम मनोहर गोस्वामी रह नहीं जाता. पर 'मैं'का अर्थ धनवंतभाई हो जाता है. अब कोई पूछे कि 'मैं'का अर्थ क्या? तो वह तो किसीकी अपेक्षासे पूछा जा रहा है इसके बिना निर्धारित नहीं हो पाता. अत: सर्वनामके बारेमें ऐसा कहा जा सकता है कि जो 'मैं' बोले वह ही उसका अर्थ उसकी अपेक्षासे होगा. अब कोई जिद्द पकड़ ले कि मैं मुझे 'मैं'कहता हूं तो दूसरा कोई खुदको 'मैं' न कहे! तो अनेकांतवाद स्वीकारना ही पड़ेगा कि नहीं?

मगर प्राय: यह तकलीफ सामने आती है कि बचपनमें मैंने एक कहानी पढ़ी थी. वह कुछ इस तरह थी कि उस ज़मानेमें अंग्रेजीकी पढ़ाईका दौर शुरु हुवा था. सो स्कूलके मास्टरने बच्चेको सिखाया कि 'माय हेड्' माने मेरा माथा. बच्चेने रट लिया कि 'माय् हेड्' यानि मास्टरसाहेबका माथा. घरमें उसे बोलते जब उसके पिताने सुना तो डांट लगाई लप्पड़ लगाई कि गलत 'माय् हेड्'का मतलब होता है मेरा माथा. अब बच्चेने खुदकी गलती सुधार ली कि 'माय् हेड्'का मतलब पिताजीका माथा. स्कूलमें यह दुहरानेपर फिर डांट पड़ी कि 'मूरख! समझता नहीं है कि 'माय् हेड्'का मतलब होता है मेरा माथा पिताजीका माथा नहीं. बच्चेको लगा कि कुछ एड्जेस्टमेंट करनेकी ज़रूरत है नहीं तो लप्पड़ पड़ती है. उसने बुद्धि लगाई कि स्कूलमें मास्टरसाहेबका माथा और घरमें पिताजीका माथा. यही तो समस्या है सर्वनामके साथ.

एक बार स्कूलमें इन्स्पेक्टर् आया. उसने भी यही पूछा कि बोलो तो 'माय हेड्'का मतलब क्या? बच्चेने कहा "कहांका मतलब पूछना चाहते हो पहले यह खुलासा करो स्कूलमें या

घरमें?'' इन्स्पेक्टरने कहा ''ऐसा क्यों पूछते हो? कोई दो मतलब थोड़े ही होंगे!'' बच्चेने जवाब दिया ''नहीं नहीं जब तक आप कहां पूछना चाहते हो नहीं बताते तब तक जवाब नहीं दे सकता'' इन्स्पेक्टरने कहा ''अरे! जो भी जानते हो बता दो न''. तब बच्चा बोला ''स्कूलमें मास्टरजीका माथा घरमें पिताजीका माथा''. इन्सपेकटर बोला ''बेवकूफ! 'माय् हेड्'का मतलब मेरा माथा''. बच्चा बोला कि ''पर आपका ये माथा कहां मानना कुछ खुलासा तो करो''.

''स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति च नास्ति च, स्याद् अवक्तव्यः, स्याद् अस्ति च अवक्तव्यः च, स्याद् नास्ति च अवक्तव्यः च, स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यः च'' इस सिद्धान्तको जो समझ नहीं पाता तो हरेक सर्वनाममें सहज ही ऐसी असमंजसता सामने आती ही है.

जब सर्वनाम शब्दोंके प्रयोगकी रीति समझमें आती हो तभी मुद्दाकी बात समझमें आ पायेगी. सर्वनाम समझमें न आ पाये तो ऐसी मुसीबत तो खड़ी होगी ही. जैन और वाल्लभ मत या धर्म के बीच भी यही तकलीफ हुयी है. हमारे यहां भी कहा जाता है कि ''हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेद् जैनमन्दिरम्'' हाथी पीछे पड़ गया हो तब भी अपनेको बचानेके लिये जैन मन्दिरमें नहीं जाना चाहिये. जैनमतमें भी कितने सारे मतोंको दुर्नय 'पाषण्ड मत' विगेरे कहा जाता है.

स्वाभाविक बात है क्योंकि 'माय हेड्' जो मेरा माथा बोले उसका होता है, यह समझ पानेकी बुद्धिकी क्षमता आवश्यक है. यहां जो सिद्धान्त काम आता है वह तो अनेकांतवाद ही काम आता है. सर्वनामके अर्थको समझनेमें दूसरा कोई सिद्धान्त

काम आता नहीं.

फिरभी एक मुद्दाकी बात यह समझ रखनी जरूरी है कि अनेकांतवाद मूलमें सप्तभंगीन्याय नहीं था. अनेकांतवाद ही मूल सिद्धान्त था. पर जैनमत जब दूसरे मतोंके साथ वादविवादके हेतु सन्नद्ध हुवा तब यह खुलासा करनेको 'अनेकांत'का अर्थ जो उस समय विभिन्न मतवाद थे उनके समाहार द्वारा, अर्थात्, सद्वाद असद्वाद सदसद्वाद शून्यवाद या अवक्तव्यवाद कहो "स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति च नास्ति च, स्याद् अवक्तव्य:" प्रतिपादन करने लगा. इनमें 'आर्थिक-नय' और 'शाब्दिक-नय' प्रभेद किया गया. यों सात तरहकी भंगिमा विकसित की गयी. इसमें देखनेकी सुन्दरता यह है कि जैन चिन्तकोंका यहां वैचारिक पुरुषार्थ हो तो वह यही है कि तब विद्यमान जितने भी मत अस्तित्वमें थे अथवा संभावित थे उन्हें संकलित-क्रमबद्ध (कोम्बिनेशन्-पर्म्युटेशन्) करके अन्यान्य मतोंकी सप्तभंगिमा प्रकट की गयी. अनेकांतवादमें उन सबका समाहार किया गया. 'समाहार' यानि उन्हें क्लब किया गया. इस समाहरणकी प्रक्रियामें एक दीर्घदृष्टि यह थी कि कोई भी मत सच हो सकता है और कोई भी मत गलत भी हो सकता है. आवश्यकता उसके परिप्रेक्ष्यको देखनेकी रहती है.

कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यजी एक बहुत मज़ेदार बात कहते हैं कि अनेकांतवादका निचोड़ इसमें रहा हुवा है कि "सदेव, सत्, स्याद् सत्. असदेव, असत्, स्याद् असत्" यों अनेकांतवादका हम गुणाकार करने जायें तो इक्कीस अर्थ हो जाते हैं, दुर्नय नय और प्रमाण के दृष्टिभेदसे. अर्थात् सप्तभंगीन्याय, सप्तभंगी न रह कर एकविंशतिभंगिमा सिद्ध होता है. इन भंगिमाओंमें

से मुद्दाकी बात समझनेकी यह है कि "स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति च नास्ति च" नैगमिक सांग्रहिक और व्यावहारिक मत माने गये हैं. उनके बाद चौथा मत "स्याद् अवक्तव्य:" आता है. उसपर थोड़ा खास ध्यान देना चाहिये, यद्यपि जैन चिंतकोने उसे 'ऋजुसूत्र' कहा है पर तात्कालिक रूपमें उसपर लक्ष्यपात न करें. क्योंकि बौद्धमतको संकलित करनेके लिये शून्यवादका ऋजुसूत्रमें अन्तर्भाव किया गया है. ईश्यु यह नहीं है कि ऐसा क्यों किया? अनेकांतवादकी दृष्टिसे वस्तुके मानदंडका विचार करें तो हरेक वस्तु दूसरी वस्तुसे भिन्न है, अभिन्न है, भिन्नाभिन्न है या कहा नहीं जा सकता कि भिन्न है या अभिन्न है.

चौथी भंगिमामें जो 'अवक्तव्य' कहा गया वह भिन्न है या अभिन्न ऐसे ऋजुसूत्रका एक अन्यतम दृष्टिकोण है. वेदमें इसे 'तादात्म्यवाद' कहा जाता है, 'अवक्तव्यवाद' नहीं कहा जाता. पर हरेक तादात्म्यवादमें अवक्तव्यता कैसे रहती है इस ओर भी थोड़े दृष्टिपातकी अपेक्षा है.

जनरल टर्मिनोलोजीमें 'तादात्म्य'का अर्थ समझना हो तो ऐसे समझा जा सकता है कि A is equivalent to B अब यदि 'ए' न हो और 'बी' भी न हो तो इक्विवेलेन्स् आता नहीं और जो इक्विवेलेन्स् हो तो उसे 'ए' और 'बी' क्यों कहना चाहिये? या तो 'ए' कहो या 'बी' कहो. ऐसा कोई जो दुराग्रह पकड़े तो वह तादात्म्यके सिद्धान्त समझ नहीं पायेगा. क्योंकि तादात्म्यके कन्सेप्टका प्रमुख मुद्दा यही है कि A is equivalent to B. so there is A and there is B. And both are equivalent to each other. यह चौथा मत है. ऋग्वेद

संहितासे ले कर उपनिषदोंमें पुराणोंमें गीतामें ब्रह्मसूत्रमें पञ्चरात्रादि आगमोंमें सभीमें तादात्म्यवादका ज़बरदस्त आग्रह मिलता है. वेद स्पष्ट कहता है **''ऐतदात्म्यम् इदम् सर्वम्''** (छान्दो.उप.६।८।७), **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१) अर्थात् 'सर्वम्' भी है और 'ब्रह्म' भी है. ब्रह्म न हो और केवल सर्व हो तो अनेकता सिद्ध होगी. ब्रह्म न होनेके कारण एकता रह नहीं जाती. ब्रह्म एक है वह किस तरहका एक है **''स एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत. स आत्मानं द्वेधा अपातयत''**(बृह.उप.१।४-।३). उसने एकाकी रहना नहीं चाहा और वही एकमात्र अनेक हो गया.

अत: एकका अनेक होना तात्त्विक दृष्टिसे कहा जाता है और ज्ञानकी दृष्टिसे अनेकमें एकत्वको निहार कर समझ पाना उसे वेद 'तत्त्वज्ञान' नाम दे कर समझाना चाहता है. **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि''** (छान्दो.उप.६।८।७), **''अहं ब्रह्म अस्मि''** (बृह.उप.१।४।१०) आदि जितने भी कहे जाते महावाक्य उपनिषद्में माने जाते हैं, उन सभीका निचोड़ तादात्म्यवाद है. इस तादात्म्यमें एक फेसिलिटी एवेलेबल् है, जैसे अनेकांतवादमें फेसिलिटी अवेलेबल् है. आपको अनेकांतवाद और वैदिक तादात्म्य का सिद्धान्त कैसे एक-दूजेसे समान बनता है यह खयालमें आना चाहिये.

वैदिक तादात्म्यवादमें भी यह फेसिलिटी एवेलेबल है. यह तो हम देख चुके कि 'ए' और 'बी' का भेद भी है, और भेद होनेपर भी अभेद भी है. हम यह भी देख चुके कि जब इक्विवेलेन्सकी साइन् '=' किन्हीं दोके बीचमें लगाई जाती हो तब अभिप्राय अभेद जतानेका होता है. अब इसके अन्तर्गत भेद-अभेद दोनों आ जाते हैं कि नहीं! यही बात ''स्याद् अस्ति,

स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति च नास्ति''में आती है. चौथा स्टेन्ड् तादात्म्यका आता है अर्थात् जो तीन नैगमिक सांग्रहिक और व्यावहारिक स्टेन्ड् हैं वह तादात्म्यमें संकलित हो रहे है. इसे पोज़िटिव् एटीट्युड्के अर्थमें लिया जाये तो! ऋजुसूत्रवाला नेगेटिव् एटीट्यूड्को ले कर दोनोंको क्लब् करके कहा नहीं जा सकता कि क्या यह भेद है या क्या यह अभेद है, अत: वह अवक्तव्य हो जाता है, यह अवक्तव्यताका नेगेटिव् मीनिंग है.

इसी तरह अवक्तव्यताका पोज़िटिव् कोनोटेशन् तादात्म्य है. उसे हम स्वीकारते हैं तो सभी वेदोंसे ले कर भागवत तक यही प्रमुख सिद्धान्त रहा है. सप्तभंगीका जो मूल रूप था अनेकांत होनेका ''स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति च नास्ति च, स्याद् अवक्तव्य:'' उसे वेदमें भी देख सकते हैं. वेदका स्पष्ट सिद्धान्त यही है ''**असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेद् अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः इति**'' (तैत्ति.उप.२।६) आप ब्रह्मको अस्वीकार करते हो तो वह ब्रह्मका अस्वीकार नहीं होता परन्तु आप खुद अपने आपको अस्वीकार करते हो. यदि आप कहते हो कि ब्रह्म है तो आपको ब्रह्मका अनुभव जब होगा तब होगा पर यहां तो आप खुद अपना होना ही कन्फर्म कर रहे हो. क्योंकि आप उस समग्रताके अंश होनेके रूपमें खुद अपना होना ही स्वीकारते हो. क्योंकि अस्तित्वकी समष्टि और अस्तित्वके व्यष्टि के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्वत:सिद्ध होता है. यह एक ऐसे सत्का तादात्म्य है कि जो सत् किसी तरह मूल रूपमें भी है और साथ ही अवर रूपोंमें भी. अर्थात् अनेकतापूर्ण विभागोंमें तादात्म्यभावसे अवस्थित एक अविभक्त भी.

जैसे बायोलोजीमें एक अपने स्टेम-सेल्में सारे शरीरके रचना

करनेकी ब्लु-प्रिन्ट् निहित होती है. वह स्टेम्-सेल् हमारे शरीरके किसी एक जीवकोशके भीतर किसी न किसी रूपमें स्टेम् सेल्का ब्लू-प्रिन्ट इन्टोटो मौजूद रहता ही है. हमारे शरीरके फंक्शनल् डेवलपमेन्ट्, फोर्मल् डेवलपमेन्ट् और एट्रीब्युटीव् डेवलपमेन्ट् को खुदमें सिमेटे हुवे इनहेरिट् रहता है. एक बार वह विकसित हो जाता है तब उस स्टेम्-सेल्में हाथ कहां होगा, आंखें कहां होंगी, नाक कहां होगी, कान कहां, पग कहां, बुद्धि कहां, पेट कहां, कर्मेन्द्रिय कहां यह सब पूर्वनिर्धारित होता है स्टेम्-सेलमें. पर देखने जाओ तो दिखता नहीं है. पर जब वह स्टेम्-सेल्में से ओर्गनस् डेवलप् होने लगते हैं तब उसमें ये सारे प्रभेद जो समाहित थे प्रस्फुटित होते जाते हैं. इन प्रस्फुटित हुवे अंगोपांगके प्रभेद हम खुली आंखोंसे देख सकते हैं. आंखकी जो सेल्स् होती हैं वे नाककी सेल्को रीजनरेट नहीं करती. नाककी सेल्स् आंखकी सेल्स्को रीजनरेट् नहीं करती. यहां तक कि अंगूठेके नखकी सेल्स् बाजूवाली अंगुलीकी सेल्स् रिजनेरेट नहीं करती. अन्यथा नख किसी दिन मूंहमें भी उगने लग जाये तो क्या हाल हो? सच ए वेल् प्रोग्राम्ड्! बेज़िकली यह स्टेम-सेल्की एक इन्टीग्रिटी है. वह उस स्टेम्-सेल्का प्रायमोर्डीयल् फोर्म है. डेवलपड् फोर्ममें वह मल्टीप्लिसीटी अडोप्ट कर लेती होनेके कारण उसमें भेद अभेद भेदाभेद की सभी वेरायटीज़् प्रकट हो जाती हैं. चाहे इसे कोई सप्तभंगीकी वेरायटी माने या वेदकी भाषामें कहना हो तो नाम-रूप-कर्मकी वेरायटी माने.

वेद इस विषयमें विधान करता है **''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि...ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्''**

(बृह.उप.१।६।१-३). जितने भी नाम-रूप-कर्म हैं इन्हें धारण करनेवाला तत्त्व ब्रह्म है. अत: ब्रह्मको केन्सल् करनेपर जाने-अनजाने नाम-रूप-कर्म केन्सल् हो रहे हैं, ब्रह्मको कन्फर्म करनेसे नाम-रूप-कर्म स्वत: कन्फर्मड् हो जाते हैं. जो नाम है वह कर्म नहीं होता, जो कर्म होता है वह रूप नहीं होता, जो रूप होता है वह नाम नहीं होता.

जैसे इस उपकरणको 'माईक्' नाम दिया गया है. यह तो मेरा मेन्टल् फिनोमिना(प्रत्यय) है. कोई भी नाम मटीरियल् फिनोमिना नहीं होता पर इस नामके साथ कोरस्पोन्डिंग जो रूप होता है वह मटीरियल फिनोमिना है. रूप मेरे माईन्डमें होता है पर आता है खुदके मटीरियल फोर्ममें नहीं. क्योंकि इतना बड़ा हाथीका रूप मेरे माईन्डमें अन्दर जाये तो मेरा मस्तिष्क फट जायेगा. वह फटता नहीं इसका एक कारण है मेरा माईन्ड जब माईकके रूपको ब्रेनमें डाउनलोड् करता है तब जैसे कम्प्युटर्में हमारी हर वस्तुको डिजीटलाईज़ करके डाउनलोड् करता है, वैसे ही. जैसे बाह्यरूप मस्तिष्कमें मेन्टल् डिजिट्स्में डिजीटलाईज़ हो जाती है. जैसे हाथीका चित्र डाउनलोड करना हो तो डिजीटलाईज़ एलिफन्ट एक भिन्न वस्तु है. और एक ओर्गेनिक एलिफन्ट कोई भिन्न वस्तु है. इसी तरह ब्रेनमें जब कोई भी वस्तु रूपकी तरह डिजीटलाईज़ होती है तो, ब्रेनके भीतर जो भी मेंटल् डिजीटस् होती हैं, उनमें मेन्टल फोर्मेटमें ही कुछ डाउनलोड हो सकता है. और कर्म तो नाम और रूप के बीचमें एक सेतुकी तरह काम करता है. इसलिये उपनिषद् बहुत सुंदर विधान करता है कि ये नाम रूप कर्म तीन होनेपर भी ब्रह्मकी अपेक्षासे एक हैं और ब्रह्म एक होनेपर भी इन नाम रूप कर्म की अपेक्षासे तीन होता है.

अत: हम देख सकते हैं कि अनेकांतवादकी संकल्पना कैसे तादात्म्यवादके रूपमें उपनिषद्ने प्रस्तुत की है. सप्तभंगीमें जिसे ''स्याद् अवक्तव्य:'' कहते हैं वह अवक्तव्य कल्पका सकारात्मक विचार है तादात्म्यवादके सन्दर्भमें.

'तादात्म्य'का मतलब A = B, where there is A there are both A as well as B, and there is equivalence. तो यह भेद भी है, अभेद भी है और भेदाभेद भी है. 'अवक्तव्य'का ऐसा पोज़िटिव् मिनिंग् हम लें तो ''स्याद् अवक्तव्यश्च'' कहनेपर वेदका जो सत्-तादात्म्यवाद है वह प्रस्फुटित हो जाता है. अत: श्रीवल्लभाचार्यके मतको जो 'शुद्धाद्वैत' कहा जाता है उसका समीकरण अपेक्षित हो तो हम कह सकते हैं कि ''सद्वाद + सर्वतादात्म्यवाद = शुद्धाद्वैतवाद'' क्योंकि ब्रह्मको अस्वीकार किया नहीं जा सकता. जो इस तरह इसे विचारें तो कैसे अनेकांतवाद और वैदिक सत्-तादात्म्यवाद समानान्तर बन रहे हैं!

किस अर्थमें समानान्तर हो रहे हैं वह प्रमुखतया ध्यान देने लायक बात है. जगत्में कितने सारे दर्शनशास्त्र(फिलोसोफी) हैं जिनकी गणना करने बैठें तो लम्बी सूचि सामने आती है. पर फिलोसोफीके साथ तकलीफ यह है कि You deny all the philosophies and it is a philosophy. इससे पिण्ड छूटता नहीं है. दर्शनबोधको स्वीकार करो अथवा अस्वीकार करो.

एक बात समझने जैसी यहां यह है कि बहुत सारी फिलोसोफी हैं पर 'द फिलोसोफी ओफ द फिलोसोफीस्' क्या है यह जान लेना भी ज़रूरी है. जैनोंकी धारणाके अनुसार 'अनेकांतवाद = सप्तभंगीन्याय' और 'सप्तभंगीन्याय = अनेकांतवाद' माना गया है. परन्तु, मेरे हिसाबसे दोनोंके बीच कुछ तरतमता है

तो वह यह है कि 'अनेकांतवाद' तो 'द फिलोसोफी ओफ फिलोसोफीस्' है, और 'सप्तभंगीन्याय' यह 'जैन फिलोसोफी' है. यह जैन फिलोसोफी है कारण कि जिन-जिन मतोंका संग्रह किया गया है वह उन मतोंका परिभाषित रूप है.

'बर्ट्रेन्ड् रसेल्'का नाम आपने सुना ही होगा. उसने प्रथम विश्वयुद्धके समय उसके विरोधमें बहुत प्रचार किया था. वह दार्शनिक राजपरिवारका सदस्य लोर्ड भी था पर उसे ऐरेस्ट किया गया और जेलमें भिजवा दिया गया. जेलमें जेलरने उससे पूछा "तुम्हारा धर्म कौनसा?" बर्ट्रेन्ड् रसेलने कहा "मैं अज्ञेयवादमें मानता हूं" बिचारा जेलर 'अज्ञेयवाद' (एग्नोस्टीसीज़म्) क्या होता है जान नहीं पाया. जेलरने बहुत मज़ेदार टिप्पणी की "मिस्टर् रसेल् कितने वर्षोंसे मैं यहां जेलरके पदपर काम कर रहा हूं आज तक कोई व्यक्ति मेरे सामने ऐसा नहीं आया जिसका कोई न कोई धर्म न हो. तुम किस प्रकारके धर्मको माननेवाले हो? यह अज्ञेयवाद जिसे तुम अपना धर्म कह रहे हो वह क्या-कैसा है?" रसेल कहता है कि जेलकी मेरी यातनाके दिन सुधर गये यह विचार करके कि यह अज्ञेयवाद भी धर्मका ही कोई एक प्रकार हो सकता है (ईवन् एग्नोस्टीसीज़म् केन बी ए रीलीजन). उसे भी दृढ़ विश्वासके साथ एक धार्मिक आस्थाके रूपमें स्वीकारा जा सकता है.

मुख्य मुद्दाकी बात समझनी चाहिये कि अनेकांतवाद परिभाषित न होनेके कारण उसमें बहुत सारी पोटेन्शियालिटीस्, 'अनेकांत'के अनेक अर्थ प्रकट करनेकी है. सप्तभंगी, परन्तु, पारिभाषिक होनेके कारण उसमें उतनी पोटेन्शियालिटी रह नहीं जाती. कहनेको यहां 'शाब्दिक नय' जोड़ा गया कहा जाता है. 'आर्थिक नय'के

प्रभेदोंमें बहुत सारे अर्थों/दर्शनोंका समावेश हो ही रहा था. फिरभी उसकी मर्यादा है जब अनेकांतवादमें वह मर्यादा नहीं रहती (मेक्सिमम् कवरेज है पर यॅट देर इज़ सम बाउन्ड्री और अनेकांतवादमें देर इज़ नो बाउन्ड्री).

ऐसे ही सत्-तादात्म्यवादमें भी वेदका सिद्धान्त यह है कि उसकी कोई मर्यादा नहीं. वह किस सीमा तक विस्तार पा सकता है उसका वर्णन उपनिषद् करते हैं : ''**बहु स्यां प्रजायेय इति, स तपो अतप्यत, स तपस् तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत... यद् इदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते**'' (तैत्ति.उप.२।६) ब्रह्म क्या बना तो कहते हैं कि ''**सत् च त्यत् च अभवत्, निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत**'' (तैत्ति.उप.२।६) ब्रह्म जो सच्चिदानन्दरूप है वही निरुक्त भी बन गया और अनिरुक्त भी, जड़ भी बना और चेतन भी बना, निलयन बना अनिलयन बना, विज्ञान बना और अविज्ञान भी, वही सत्य भी बना और अनृत भी वही बना है.

यद्यपि इस लिस्टमें गिनाया नहीं गया. पुराणोंमें बहुत ऐसी गणना की गयी है और वहां स्पष्ट कहा गया है कि ''पाप-पुण्य, सुंदर-असुंदर, देव-असुर जो कुछ सृष्टिमें प्रकट हुवा है वह सब वही बना है'' सब कुछ बना है मतलब सारा ब्रह्माण्ड भी वही बना है. बस इसी समग्रताका नाम 'ब्रह्म' है. इसका भला कोई अस्वीकार कैसे कर सकता है ?

जैनधर्ममें ब्रह्म नामक तत्त्व स्वीकारा नहीं गया परन्तु कुछ न कुछ सप्तभंगीके अन्तर्गत आती कोई सिस्टम है ऐसा तो स्वीकार करना ही पड़ेगा. क्योंकि जैनदृष्टिके अनुसार जो तत्त्वावली

जीव और अजीव दो तत्त्व होनेकी है उसमें अजीवके आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय ऐसे प्रभेद मान्य किये गये हैं. **''जीवाः पुद्गलकायाः आकाशमस्तिकायौ शेषौ, अमया अस्तित्वमयाः कारणभूताः हि लोकस्य''** (पञ्चास्तिकाय.त.प्रदी.२२). और जीवके अन्तर्गत अवान्तर विभागोंमें आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष परिगणित हैं. (द्र.पञ्चास्तिकाय.त.प्रदी.१३५-१४२) मुक्त जीवकी कैवल्य-अवस्था मानी गयी है. अब आप देखिये कि सत्का रूपान्तर जड़ है, जिसमें काल आकाश पुद्गल कहे गये हैं. इसे ही वेद सत्का ही विस्तार कहते हैं. भागवत इस विषयमें खुलासा देती है कि **''द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः''** (भाग.पुरा.२।५।१४) 'वासुदेव' यानि ब्रह्मसे ये सारे तत्त्वतः नहीं केवल रूपतः अलग हैं. अर्थात् जीव-अजीवकी सिस्टम् बन रही है. वह न बनती हो तो जो धर्मास्तिकाय गति प्रदायक हैं और अधर्मास्तिकाय स्थिति प्रदायक हैं, यह स्थिति और गति कहां दान करेंगे? हेमचंद्राचार्यजी स्पष्ट कहते हैं कि आकाशमें इन पांचोंकी पांच वस्तु अस्तिकाय है. और देखो कि उपनिषद् क्या कहता है : **''तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्याम् ओषधयः, ओषधिभ्यो अन्नम्, अन्नात् पुरुषः सवा एषः पुरुषो अन्नमयरसः''** (तैत्ति.उप.२।१) यह कोज़ल् मुवमेन्ट कोज़ल इफेक्टमें कैसे इनहीयेरेन्ट है यही तो दिखलाया जा रहा है. अन्नमय कोशके भीतर प्राणमय कोश होता है, प्राणमयके भीतर मनोमय, मनोमयके भीतर विज्ञानमय और विज्ञानमयके भीतर ब्रह्म मोजूद है. अर्थात् जो तत्त्व सर्वदिशाओंमें बाह्य विद्यमान है वही हमारे भीतर भी मोजूद है. यह सिद्धान्त ब्रह्मतादात्म्यको

समझानेके लिये ही उपनिषद्में प्रस्तुत हुवा है. अत: सभीमें सभी कुछ निहित है जिन-जिन वस्तुओंमें जो उपलब्ध होता है स्वत: या किसी उपायसे वह उसकी सर्वरूपता हमें गृहीत नहीं हो पाती है सो उपायवश प्रकट हो जाती है. क्योंकि एक ही तत्त्व, विज्ञान और अविज्ञान दोनों रूपोंमें प्रकट हुवा है ''विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च''.

अब जो विज्ञान है उसे जैनमतमें संवर और निर्जरा कहते हैं एकदेशेन. **''यस्य यदा खलु पुण्यं योगे पापं च नास्ति विरतस्य, संवरणं तस्य तदा शुभाशुभकृतस्य कर्मण:''** (पञ्चास्तिकाय.-त.प्रदी.१४३). और **''य: संवरेण युक्त: आत्मार्थप्रसाधको ह्यात्मानं, ज्ञात्वा ध्यायति नियतं ज्ञानं संधुनोति कर्मरज:''** (पञ्चास्तिकाय.त.प्रदी.-१४५). सर्वदेशेन कहो तो वह कैवल्य बन जाता है. जब अशेष आवरण नि:शेष हो जाये अथवा सारे मलावरणोंका निवारण हो जाये तो वह कैवल्य है. यह तो ब्रह्मज्ञान मिलनेपर उपनिषदोंने भी समझाया ही गया है कि जिस अज्ञानके आवरणके कारण हमें केवल भेदकी ही अनुभूति होती है, अभेदकी अनुभूति नहीं होती, उस अभेदको जान लेनेपर अनेकतामें एकता अनुभूत होने लगेगी **''तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वम् अनुपश्यत''** (ईशा.उप.७) अनेकतामें निहित एकताके अनुदर्शनकी यह कथा है.

उसकेलिये विद्याके पांच पर्व श्रौत शास्त्रोंमें निरूपित हुवे हैं : **''वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे''** (त.दी.नि.१।४५) वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति. ऐसे ही अविद्याके भी पांच पर्व हैं. इन अविज्ञानोंके पर्वोंको जैनमतमें 'संस्रव' और 'बंधन' कहते हैं, उस अविज्ञानमें वाल्लभ वेदांतके अनुसार सबसे पहला स्वरूपाज्ञान, स्वरूपाज्ञानके कारण अंत:करणाध्यास होता है,

'अंत:करणाध्यास' यानि मन बुद्धि अहंकार चित्त का चेतनामें अध्यास होता है. 'चित्त' यानि हमारी बाह्य जगतके साथकी संवेदना. (सेन्सीटिविटी अबाउट ध एक्सटर्नल वर्ल्ड) जो संवेदना (सेन्सीटिविटीके)के कारण हमारे भीतर एक आत्मभान (सेल्फ अवेयरनेस्) पनपता है उसे शास्त्र 'अहंकार' तत्त्व कहता है. यह अहंकार तत्त्व चेतनाके साथ इस तरह जुड़ गया है कि एक्जेटली जिस तरह उसी फोर्मेट्के साथ जिसे जैनमतमें अविद्याके कर्म और ज्ञान के फल पुद्गल चेतनाके साथ चिपक जाते माने गये हैं. ऐसे अहंकार तत्त्व चिपक गया है. इससे चेतना प्योर ऑलअवेयरनेस्की जगह सिर्फ सेल्फ-अवेरनेस्में सिकुड़ जाती है. बादमें सेल्फ-अवेयरनेस् विसाविस द अवेयरनेस् ओफ द ओब्जेक्ट् यह भेद प्रकट होते ही वह सेन्सीटिविटी अधिक एक्टिव् या एजाईल् हो जाती है. एजाईल होनेपर बुद्धिके रूपमें प्रकट होती है. बुद्धिके रूपमें प्रकट होनेपर **''संशयो अथ विपर्यासो निश्चय: स्मृतिरेव च स्वाप: इति उच्यते बुद्धे: लक्षणं वृत्तित: पृथक्''** (भाग.पुरा.३।२६।३०) ऐसे सारे फोर्मेट् बुद्धि एक्वायर् कर लेती है. एक्वायर् करनेके बाद एटेन्शन्का रोल या फंक्शन आता है कि which of the function you want to attend? उदाहरणतया आप कुर्सीपर बैठे हो उसकी अवेयरनेस आप सहज ही भूल सकते हो यदि आपका ध्यान प्रवचन सुननेमें हो तो. मान लो कि अब कुर्सीमें आपको खटमल काटता हो तो मैं जो बोल रहा हूं उसपरसे आपका ध्यान बरबस हट कर खटमलके काटनेपर चला जायेगा कि नहीं? हमारी चेतनामें जो मल्टीपल् स्टीम्युलेशन् होते हैं उनमें जिसे हम एटेन्ड करते हैं वह मनस् तत्त्वका कार्य है.

मैंने बचपनमें एक बहुत मजेदार कहानी पढ़ी थी कि स्कूल्में

टीचर पढ़ा रहा था और एक बच्चेका ध्यान पढ़नेके बजाय क्लासरूमकी बारीमें से बाहर ताकझांक करनेमें था. अचानक टीचरने पूछ लिया कि अरे! तेरे दिमागमें कुछ घुसा कि नहीं? बच्चेने कहा सर! खाली थोड़ीसी पूंछ बाकी रह गयी है. क्योंकि स्कूलके बगीचेमें सांप बिलमें घुस रहा था और उसकी पूंछ थोड़ी बाहर रह गयी थी! बच्चेका ध्यान वहीं था, टीचरकी बातपर नहीं. सुन तो रहा था टीचरके बोले वचन पर ध्यान उसका सांप पर चोंटा हुवा था कि सांप बिलमें कैसे घुस रहा था! जिस तत्त्वको हमारे यहां 'मन' कहते हैं. उसके ये फंक्शन हैं. इन फंक्शन्सके कोम्प्लिकेशन्स् कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के क्रियाकलापोंमें प्रकट होते हैं. इसी तरह सारे जगत्का विस्तार बताया गया है.

हम समग्रतया इस पोईन्टपर विचार करें तो सच्चिदानन्द ब्रह्मका जो फोर्मेट् है उसमें सत्से अजीव, चित्से जीव और कैवल्य यह आनन्दका एक फोर्मेट् है. वाल्लभ वेदान्ततमें जो प्रकृति काल कर्म और द्रव्य माने गये हैं वे सदंशके एक्सटेन्शन्स् हैं, पुरुष सच्चिदानन्दके चिदंशका एक्सटेन्शन् है और परमात्मा भगवान् यह आनन्दका एक्सटेन्शन् है, इन सबकी समष्टि सच्चिदानन्द ब्रह्म है.

इस लिये उपनिषद् ऐसा कहता है कि ब्रह्मका आप इन्कार नहीं कर सकते, आप भगवान् परमात्मा श्रीकृष्ण के रूपोंमें ब्रह्मको नकार सकते हो. जैसे कि चार्वाक और वैज्ञानिक नकारते ही हैं. कई लोग मानते हैं कि कृष्ण एक कल्पना थे. मुद्दा, परन्तु, यह है कि सृष्ट पदार्थोंके समष्टिरूप ब्रह्मको आप नकार नहीं सकते. जब 'ब्रह्म' कहा जाता है तो उसके जो भी कुछ पर्टीक्युलर्

इन्स्टन्सीस् हों उन्हें एन्युमरेट किया जाये उसकी टोटालिटीका नाम 'ब्रह्म' है.

उस ब्रह्मको सर्वात्मभावके द्वारा सभी जगह देखनेकी हमारी इन्साईट ज्ञान है, ज्ञानके लेवलपर. उसे रेलीश करनेकी जो अपनी इन्क्लीनेशन् है उसे 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है.

जैन आचारशास्त्रमें भी सम्यग्दर्शन, सम्यज्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के उपाय बताये गये हैं.

दर्शनोंमें कभी कुछ वस्तु परमार्थ मानी जाती है तो दूसरी अपरमार्थ. परमार्थ जो सच्चिदानन्द है उसकी व्याख्या जैनमत पूर्वनिर्दिष्ट रीतिसे करते हैं और वाल्लभ वेदान्त भी इस रीतिका अनुसरण करता है. व्याख्यामें तो प्रभेद भासित हो रहा है पर सत् चित् और आनन्द की जो समष्टि है उसे कौन डिनाय कर सकता है. जैनमतमें उसकी 'अनेकांतवाद'के रूपमें व्याख्या दी गयी है, वही तत्त्व वाल्लभ वेदान्तमें 'सत्-तादात्म्यवाद' के आधारपर स्वीकारा गया है. डेटा एक है पर अलग-अलग लेबोरेटरीज़में प्रोसेस् करने जब देते हैं, उदाहरणार्थ, ब्लड-सेम्पल्का डेटा, तो उसमें थोड़ा-बहुत तो अन्तर सामने आयेगा ही. प्रोसेस्में रिज़ल्ट् अलग भी आ सकता है.

ऐसे सभी रिज़ल्ट्स्का समाहार करना 'सप्तभंगीन्याय' है. उसी तरह सभी रिज़ल्ट्स्का समाहार करना या एकीकरण करना तादात्म्य है. यह वाल्लभ वेदान्तका दृष्टिकोण है. अर्थात् दोनों जैनधर्म और वाल्लभ धर्म; और, जैन दर्शन और वाल्लभ दर्शन भी सर्वदृष्टिओंपर अनुग्रहकी फिलोसोफी प्रस्तुत करते हैं, सर्वदृष्टिप्रहाणकी नहीं.

विसावीस एक बौद्ध दृष्टि 'सर्वशून्यवाद'की भी है. अब वह सर्वशून्यवाद है या सभी दृष्टिओंका प्रहाण है?

माध्यमिक विद्वान् नागार्जुन एक बहुत मज़ेदार बात कहते हैं कि **''सर्वदृष्टिप्रहाणार्थं शून्यतां हि बभाषिरे येषान्तु शून्यतादृष्टिः असाध्यान् तान् बभाषिरे''** सभी दृष्टिओंसे दिमागको खाली करो, हमारी 'शून्यता'का मतलब केवल इतना ही है. जो, परन्तु, हमारे ऐसे विधानका अर्थ शून्यतादृष्टि करते हैं तो उनकी तो कोई भी चिकित्सा शक्य नहीं है. एक सर्वदृष्टिप्रहाणका बौद्ध मतमें एप्रोच है जिसे जैनमतमें 'ऋजुसूत्र' कहा जाता है ''स्याद् अवक्तव्यः''.

ऐसे ही सर्वदृष्टिओंपर अनुग्रहका भी बौद्ध मतमें एक एप्रोच् है जिसे ऐसे कहा गया कि **''न सन् न असन् न सदसत् नचापि अनुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः जगुः:''** जो न तो सत् है, न असत्, न सदसत् और सदसत् का अस्वीकार भी नहीं है ऐसा कोई अनिर्वाच्य तत्त्व जिसे 'शून्य' कहा गया है. वहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिसे शून्य कहा जा रहा है उसका डिस्क्रिप्शन् क्या? तो नागार्जुन कहते हैं **''अपरप्रत्ययं शांतं प्रपंचैः अप्रपंचितं निर्विकल्पम् आनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्''** इस शून्यको जाननेके लिये जैसे ओब्जेक्टको हम खुदसे अलग एक ओब्जेक्टिव् अवेयर्नेस्में जानना चाहें तो शून्यकी अवेयर्नेस् शक्य नहीं, सब्जेक्टीव् अवेयर्नेस्में शून्यकी अवेयर्नेस् आती है (=अपरप्रत्ययम्). यह सब्जेक्टिव् प्रत्यय या अवेयरनेस अशांत अवेयरनेस नहीं है. अशांत अवेयरनेस् मतलब कि जैसे नरसिंह महेता कहते हैं ''हुं करुं, हुं करुं, ए ज अज्ञानता शकटनो भार जेम श्वान ताणे'' इस तरहकी सेल्फ-अवेयरनेस्में

किसी तरहकी अशांतता रहती है. ऐसी अशांततावाली सेल्फ-अवेयरनेस् नहीं परन्तु शांत अवेयरनेस् है. 'निर्विकल्पम्' इसमें किसी विकल्पका प्रतिभास भी नहीं होता. 'अनानार्थम्' यह अनेकतापूर्ण नहीं है. ''एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्'' शून्यके बारेमें यह फिरसे पोज़िटिव दृष्टि प्रकट हो गयी है. इस तरह सभी दृष्टिओंमें सभी प्रकारके व्याख्यान सम्भव हैं. डीसाईड हमें करना है कि क्या देखना चाहते हैं.

हमें सर्वदृष्टिप्रहाण करना है या सर्वदृष्टिपर अनुग्रह करना है! इन्सिडेन्टली एक बात निश्चित रूपमें कही जा सकती है कि ऐसे बहुत सारे मोडल्स हर फिलोसोफीमें एवेलेबल हैं. सभी दृष्टिओंका प्रहाण भी हो सकता है और सर्वदृष्टिओंपर अनुग्रह भी किया जा सकता है. पर हर फिलोसोफीमें कोई-न-कोई ऐसा मॉडल 'अबाउट फिलोसोफी ओफ द फिलोसोफी'वाला निहित रहता है. समझने लायक मुद्दा यहां यह है कि जैन मत और वाल्लभ वेदान्त दोनों ही एक बात स्वीकारते हैं कि सर्वदृष्टिओंपर अनुग्रह इसलिये आवश्यक है. तत्त्व जो है वह अनेकांत है, यह जैन सिद्धान्त है. वाल्लभ सिद्धान्तमें तत्त्व अपने-आपमें बाय डीफोल्ट ऐसी पोटेन्शियालिटीवाला है कि एक होनेपर भी अनेकभावापन्न हो सकता है. अब एक होनेपर भी जो अनेक हो पाता हो तो हम किसी भी दृष्टिका प्रहाण कैसे कर पायेंगे? भागवतका स्पष्ट सिद्धान्त है :

> **''अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवद् इह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं फलम् उपददाति आहोस्विद् आत्मारामः उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्ते इति विदामः, नहि विरोध उभयं भगवति अपरिगणितगुण-**

गणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये... उपरतसमस्तमायामये केवलएव आत्ममायाम् अन्तर्धाय कोनु अर्थो दुर्घटइव भवति!''.

''यद्-यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय''.

(भाग.पुरा.६।९।३५-३६, ३।९।११)

अर्थात् परम तत्त्व अनन्तगुणपरिपूर्ण होनेसे परस्पर विरोधी गुणोंका विरोध भी अविरुद्धभावापन्न हो जाता है. अत: जैसी-जैसी बुद्धिसे भक्तगण उसकी विभावना करते हों वैसा स्वरूप धारण करके वह वैसा अनुभाव प्रकट करता है. इस तरह उस विभावनाका अनुसरण वस्तुत: करता है, मिथ्या प्रदर्शन नहीं. दूसरा भले उसे न भी स्वीकारे. जैन मतकी आस्था ऐसे परब्रह्म परमात्मा ईश्वर में न होनेपर भी ऐसे विरोधी गुणोंका एकाधिकरण जीवाजीवआदि अभ्युपगत तत्त्वोंको तो माना ही है. वाल्लभ वेदान्तके अनुसार ऐसी विरुद्धधर्माश्रयता ब्रह्मका अनन्यसाधारण गुणधर्म होनेके कारण अन्यत्र कहीं ब्रह्मके कार्यरूपोंमें अथवा अंशरूपोंमें किसीके अनुभवमें आते हों तो उसे ब्रह्मतादात्म्यके अनुभावके रूपमें लिया जाना चाहिये. यह साधारण प्रत्यक्षगोचर नहीं होता पर ब्रह्म किसी द्रष्टाको दरसाना चाहता हो तो चक्षुपरिवर्तन द्वारा भी वह अनदेखा नहीं कर सकता.

इसका मॉडल हम कैसे समझेंगे? एक सामान्य दृष्टान्त देता हूं कि एक व्यक्ति एक्सरेसे देखता हो, दूसरा व्यक्ति सोनोग्राफीसे देखता हो, तीसरा कोई इन्फ्रारेडसे देखता हो, चौथा व्यक्ति अल्ट्रावायोलेटसे देखता हो, पांचवा ओर्डिनरी लाईटसे देखता हो, तो सभी एक ही वस्तुको देखनेके बावजूद प्रत्येकका अलग-अलग

पहलू ही दीखेंगे. इनमें किसे सच्चा स्वरूप दिखलायी दे रहा है? मधुमक्खी अल्ट्रावायोलेट देख पाती है जो हमें दिखाई नहीं देती. वह जो वस्तुका वर्णन करेगी वह हमारे वर्णनसे मेल नहीं खायेगा. हम उसकी निन्दा करें कि तेरे मुंहमें शहद भरा होनेसे तुझे गलत दिखायी दे रहा है! अरे भाई! वह कहेगी तुम्हारे मुंहमें मधु होनेके बजाय मद भरा हुवा होनेसे जो कुछ दीख रहा वह गलत है! कौन न्याय करेगा!!

मुझे लगता है : निकलना तुम ना चिलमनसे कसम हे तुमको चिलमनकी लड़ाई आड़से देखा करो शेखो-बिरहमनकी.

Shriharih

Advaita Viśiṣṭādvaita & Śuddhādvaita

(A brief comparision of the fundamentals)

(Epigraphic statement)

[The life thus lived should be devoted, not to the performance of Karma for gaining heaven, and the like, but to the investigation of the Truth. Those who know the Truth proclaim it to be none other than that Reality which is the Non-dual Consciousness and Which is also spoken as the Brahman, the Paramātman or the Bhagavān]

(Bhāgavata Mahāpurāṇa:1/2/10-11)

(Introduction)

Advaitavāda Viśiṣṭādvaitavāda and Śuddhādvaitavāda, are three different Philosophical approaches engaged into the investigations of the Truth named as Brahman Paramātman and Bhagavān. But their conclusions differ from each other, as it is said in The Ṛgveda and also as Bhāgavata elaborates it "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति", "भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः दृश्यैर् बुद्ध्यादिभिः द्रष्टा लक्षणैः अनुमापकैः" (Ṛgved:1/164/46, Bhāg.pu.2/2/35). Explaining this Bhāgavata-stanza Mahāprabhu Vallabhacarya(MV)says "For every thing and for every person

various scriptures may have been revealed in this world. They may be even mutually contradictory too none-the--less they are partially valid for respective seekers of the different types of eligibilities. Bhagavān, if not verbally understood even then metaphorically be inferred on the basis of such scriptures. Such as Naiyāyikas consider God as Creator, Mīmānsakas as action, Vedāntis as Supreme Soul, Sānkhyas as instrumental Nature. Some others consider it as consciousness or as knower. For yet another not knower but merely substratum of knowledge. But in each one's opinion there is a ray that illuminates some partial aspect of the Truth." (Subodhinī:2/2/35).

(The standpoint of Śuddhādvaitavāda)

Therefore to grasp the crux of the standpoint of MV., particularly from the point of view of the comparison of these three Vedāntic theories viz. Advaitavāda Viśiṣtadvaitavāda and Śuddhādvaitavāda, we may put forward an equation such as:

"Advaitavāda + Viśiṣtadvaitavāda = Śuddhādvaitavāda".

As MV.'s notion of the Akṣarabrahman has striking resemblance with the thesis of Nirguṇa Pāramārthika Brahman of Śankara vedānta, so the Antaryāmin Paramātman is quite akin to the antithesis of NāraCyaṇa of Rāmānuja vedānta. But by synthesis of both we

get the triune [Trans.] Bhagavan Krshna of Śuddhādvaitvāda.

MV. discuses in this regard in his commentary of the epigraphic quotation "जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा न अर्थो यः च इह कर्मभिः. वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यद् ज्ञानम् अद्वयं, ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते" (Bhāg.pu.1/2/10-11) "There arises a doubt about the meaning of the term 'Tattva-jijñāsā'.'Tat'=that and 'tva'=ness, so pronoun and prefix conjointly mean thatness. Which in its turn means the objectivity devoid of any super-imposed imagination. But the different scriptures and their interpretation made by the seers or theoriticians do confuse us about the singular Reality and/or multiple realities. So how can the Truth objectively be investigated? Although every savant knows the Truth as per ones own scripture but we regard the Vedas as facilitating the Supreme Knowledge of the Truth. So Vedas state that the Supreme Reality is non-dual infinite conscious Being"(Subodhinī:1/2/10-11). Because Brahman is narrated as "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" (Taittirīyopaniṣad 2/1). Therefore the realisation of Brahman removes the false notion of duality. As every percept(Rūpa), every concept (Nāma); and every Action (Karman) inspite of being three are substantially one as Brahman. And Brahman inspite of being absolutely ONE has modified Itself as three:"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि ... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्" (Bṛhad.Up.1/6/1-3). Hence the

relations of these percept concept and action with their substance viz. Brahman is neither of absolute duality nor of absolute non-duality. This relation must be taken as relation of identity called 'Tādātmya'/'aitadātmya' as it is aptly declared in Upaniṣad ''सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूलाः, सौम्य!, इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः... स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत् सत्यं स आत्मा, तत् त्वम् असि (Chāndo.Up.6/8/6-7) Trans. All these creatures have their origin and substratum in Being which is atomic. So all of them are identical with it. Since such is the Truth so you too are identical with it''. Logically the relation of identity can neither be sustained in absolute dualism or in absolute non-dualism. The very definition of Tādātmya presupposes some kind of duality in non-duality. And expressed as 'A=B'. Here there is real A and real B. Yet both of them are identical to each other. Which means not absolutely different from each other. Therefore the negative indeclinable 'A' in term 'Advaita' of 'Śuddhādvaitavāda' does not indicate absence of duality but some counter-positive of duality. Goswamy Purushottama has substantiated this with example of the term 'Amitra'(not-friend) which does not simply means absence of friend or foe, but describes positively a person who is not connected with someone in relationship of friendliness. So 'Tādātmya' neither means absolute duality nor absolute non-duality, not even absence of duality but a positive quality of being identicalness between two A and B.

So finally Śuddhādvaita means the multiplicity of percepts concepts and actions which are integrated as part of the overall singularity.

(comparision)

Conspiciously the singularity of Brahman is consentaneously admitted stand of all the schools of Vedānta. As the dictum dictated by Upaniṣad: "सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद्ध एके आहुः असदेव इदम् अग्रे आसीत् ततो वै सद् अजायत. कुतस्तु खलु, सौम्य!, एवं स्यादिति ह उवाच कथम् असतः सद् जायेत? इति" (Chāndo.Up.6/2/1) Trans. This apparent plurality of the percepts concepts and actions were previously One alone without second. Although someone might say it was not there previously; and, therefore the being came out of nothing. But how this can be held possible? Now this 'Sad' can not be any thing else than Brahman. So substantially this plurality should be considered as singularity.

Śānkara Vedānta:

But Śankara Vedānta holds that the categorical denial of duality in the statement "नेह नानास्ति किञ्चन. मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति" (Kathop.4/2/10-11 & Bṛhad.Up.4/4/19) Trans. Nothing exists here like multiplicity. Even then if some one percieves it he is doomed to death. So according to Śankara Vedānta multiplicity is mirage-like only illusionary appearance due to ignorance

of Brahman. Therefore:

"Logical or scriptural absolute singularity vrs. empirical false plurality."

Based on the scriptural statements:
"Ekameva advitīyam Brahman" vrs. "Neha nānāsti kiñcana"

Therefore one of the stalwart scholar of Śāṅkara Vedānta Śrī Citsukha says "सर्वेषामपि भावानाम् आश्रयत्वेन संमते प्रतियोगित्वम् अत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता" (Tattvārthadīpikā 1/7) [Trsns.] Whatever percieved to be existent anywhere, it has to be counterpositive of It's own absence there and there only. So all sorts of plurality that empirically present in Brahman is really absent there and there only, in past present and future.

The metaphysical categories summarized in the broad framework of such Absolute Non-dualism are "जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागस्तु अनयोः द्वयोः अविद्या तत्कृतो बन्धः षड् अस्माकम् अनादयः" (Siddhāntaleśasangrah 1/17) [Trans.] "The individual souls, the God, the unconditioned consciousness, their division, the ignorance and the bondage due to that, all of these six are without beginning". Out of these six categories only the unconditioned consciousness is objectively real. All others are one way or the other products of ignorance a mere illusion. Even God too

is product of Māyā or infatuation. As it is said "ईशितव्यम् अनपेक्ष्य नेश्वरो नेशितव्यमपि तद्वद् ईश्वरम्, अन्तरेण घटते ततो मृषा मोहमात्रपरिकल्पितं द्वयम्" (Sankṣepaśārīrakam 3/188) Trans. "God the Ruler can not be proved without proving the rulables and vice versa so both are false imaginations."

Rāmānuja Vedānta:

After Bhāskarācārya's Bhedābhedavāda Rāmānuja--vedānta tries to resolve this dilemma with unique insight of bringing forth fresh hermenuetical principle of 'Ghataka Śruti' a mediatoric statement between two contradictory statements of the scripture. Such as "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो अन्तरो, यं सर्वाणि भूतानि न विदुः यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति. एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः (Bṛhad.Up.3/7/15) Trans. "The one which dwells at the core in all beings, without being known by them. All beings are like bodies to Him and He is indwelling controller of all. Such is the immortal inner controller soul of you too." This Ghaṭaka Śruti, according to Viśiṣṭādvaitavāda, resolves the contradiction between two conflicting Śrutis that dictates Advaita such as "नेह नानास्ति किञ्चन" on one hand and on the other hand the Dvaita-Śruti that dictates the Truth as duality of the Omniscient God and ignorant soul or multiplicity of a triplet of Bhoktā Bhogya and Preritā "ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानिशौ... भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" (Śvetā.Up.1/9-12). After perusal of mediatoric scriptural statement we can arrive at conclusion that the singularity

of Brahman is quite akin to singularity of Śarīrī and the plurality of all the Bhoktās and the Bhogyas are like His bodies or limbs. Śrī Vedānta Deśikacarya a roaring lion scholar of Viśiṣṭādvaitavāda explains "अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्म एकमेव तत्त्वं तत्र प्रकारप्रकारिणोः प्रकाराणां च मिथो अत्यन्तभेदेऽपि विशिष्टैक्यविवक्षया एकत्वव्यपदेशः" (Nyāyasiddhānjanam chpt,1) Trans. "Brahman is the singularly only substantial truth, absolutely different from It's conscious and non-conscious subordinate properties or qualities, and these too in their turn are absolutely different from each other. Yet with all these properties or qualities the singularly unique phenomenon Brahman is one and one only. Therefore:

"Substantial Unity vrs. formal pluralty"

Based on the scriptural statements:
"Ekamevādvitīyam/Neha nānā vrs. Yah sarveṣu antaro yasya sarvāṇi śarīrāṇi

In such framework of general philosophical theory the metaphysical categories summarized are "द्रव्याद्रव्यप्रभेदाद् मितम् उभयविधं तद्विदः तत्त्वम् आहुः द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडम् अजडम् इति. प्राच्यम् अव्यक्तकालौ. अन्त्यं प्रत्यक् पराक् च. प्रथमम् उभयथा तत्र जीवेशभेदात्. नित्या भूतिः मतिश्च इति अपरम्..." Trans. "The primary division of phenomena categorized as: substance and non-substance(attributes). Substance is divided as non-conscious and conscious. Non-conscious category

is of two types:1.unmanifested nature and it's modifications and 2.the Time. The conscious substance too further divided as 1.inner, ie.self-awaresome and 2.not-inner that appears to others. These inner souls in their turn are also subdivided as worldly souls and the God. And not-inner as eternal power ie. pure Sattva and intellect.

Vāllabha Vedānta:

We have seen that according to Śānkara Vedānta "अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम च इति अंशपञ्चकम् आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्. खवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु अभिन्नाः सच्चिदानन्दाः भिद्येते रूपनामनी" (Vākyasudhā 20-21) Trans. "Existence Appearance and Dearness are three Brāhmic attributes, while percepts and concepts are attributes of the world. Beingness Consciousness and Blissfulness are one common substratum without the second of all the matters viz. earth water fire air and space, as well as, gods humanbeings and other creatures. But each one of these have uncommon different particular percepts and concepts. Since all sorts of dualites are admittedly false appearance so they are products of ignorance. But according to Rāmānuja Vedānta these percepts and concepts can be as much real as Brahman Itself, so they subsist in Brahman as diffrent attributes. At this juncture Vāllabha Vedānta proclaims its closer proximity with Rāmānuja Vedānta as it is confirmed by Goswāmī Puruṣottama in his polemic treatise called

Avatāravādāvali "तथाहि मायावादिमते 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिवाक्याभासं, कार्यस्य जडत्वादिना तत्कारणमपि तादृगेव अनुमातव्यम् इति युक्त्याभासं च, आश्रित्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वांगीकारेण शुक्तिरजतकल्पत्वात् (अत्यन्तम् अपकर्षात्)... भेदवादिमते च अद्वैत-समवायित्वकारणताप्रकार-बोधकानां प्रपञ्चविशेषमायिकत्वबोधकानां विरोधेन, अन्यासाम् अविरोधेन ततो अल्पापकर्षात्... विशिष्टाद्वैतवादिमते च सर्वरूपत्वबोधकश्रुत्यतिरिक्तश्रुत्यविरोधेन ततोऽपि अल्पापकर्षात्" (Bhagavatpratikṛtipūjanavāda ppg.121-123).

This a unique oneway recognition of proximity as Śrī Vedāntadeśikacarya outrightly condemns "इत्थं ब्रह्मापि जीवः परिणमति विहत्यर्थम् इत्यपि असारं स्वानर्थैकप्रवृत्तेः प्रसजति तदा सर्वशास्त्रोपघातः (Tattvamuktākalāpa 3/30) Trans."The opinion according to which Brahman Itself gets modified into the forms of the individual souls is an utterly wrong theory, because in that case Brahman would be harming It's own nature/state. And thus all the narratives of Brahman in Upaniṣads would be falsified".

But on the basis of consentaneously admitted theory of Līlāvāda profounded by Bādaarāyaṇa in Brahmsūtras eg. "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (Brahmasūtra 2/1/33) Trans."This entire creation has come out of Brahman in sportsome manner only". Therefore anything, good or bad, perishable or imperishable, virtuous or non-virtuous, pleasnt or painful are nothing but sportsome acting of The God. As in cases of the incarnations Of Rāma or Kṛṣṇa we find the God in mood of Līlā pretending

like an ordinary human-beings. The crux of disagreement between these two Vaiṣṇava philosophies lies into, whether Brahman the Creator substantially modified in forms of conscious creatures and unconscious matter or merely modifies His attributes from subtle state to gross state of creation? MV takes first position while second taken by Rāmauja Vedānta. According to MV:

> "प्रकृतिः पुरुषश्च उभौ परमात्मा अभवत् पुरा यद्रूपं समधिष्ठाय तद् 'अक्षरम्' उदीर्यते, भगवान् यदा येन रूपेण कार्यं कर्तुम् इच्छति तद्रूपमेव व्यापारयति... पुरुषोत्तमस्य आधारभागः चरणस्थानीयः. तम् (भागं) आदौ चतुर्मूतीकरोति : अक्षररूपं कर्मरूपं कालरूपं स्वभावरूपं च. तत्र यस्य द्वैरूप्यं भवति प्रकृतिपुरुषभेदेन तद् अक्षरम्... अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदाः तथा परे स्वभावकर्मकालाः च रुद्रो ब्रह्मा हरिः तथा... परं ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्ततइति त्रयो भेदाः. त्रयाणां प्रत्येकं बहून् भेदान् आह स्वभावेति. अक्षरस्य स्वभावकर्मकालाः भेदाः, रुद्रादयो कृष्णस्य. अन्तर्यामिणः सर्वत्र(द्रष्ट. : "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्... एष त आत्मा अन्तर्यामी" बृहद्.उप.३/९/१५) भिन्नतयैव स्थितत्वाद् न भेदान् आह."
>
> (Tattvārthadīpanibandha:2/98-121)

Trans."Paramātamā has taken both the forms: sentient Person and insentient Matter. To accomplish this He activated and by self-multiplication made four-fold His

attributesome infinite locus Akṣarabrahman aspect as 1.Substantial cause of all causal phenomena 2.Time like an exertion for creation 3.Action(Motion); and, 4.Staticness. The primordial cause Akṣara then modified into two-fold forms that is insentient Prakṛti and sentient Puruṣa. Thus altogether there are three aspects of Brahman 1.Akṣara 2.Antaryāmī and Puruṣottama Kṛṣṇa. Kāla karma and svabhāva derived from Akṣara aspect, Brahmā Viṣṇu and Rudra from Kṛṣṇa aspect. Antaryāmins are innumerable beings indwellling inner-controllers of insentient things and sentient creatures. MV has also clarified that Percepts subsist in insentient varieties while Concepts subsist in sentient varieties of creation (Ref.Suobodhinī:10/13/43).

Thus we can see the Akṣara Brahman as described in the below given narration by Bhagavadgītā and Bhāgavata Mahapurāṇa is quite similar to Nirviśeṣa Brahman of Śankara Vedānta and as it is acceptable in Vāllabha Vedānta also:

> "अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते, भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितो, अधिभूतं क्षरो भावो पुरुषश्च अधिदैवतम् अधियज्ञो अहमेव अत्र देहे देहभृतां वरः", "ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवम्", "न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावको यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं

मम... द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरश्च अक्षरमेव च क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षरम् उच्यते, उत्तमः पुरुषस्तु अन्यो परमात्मा इति उदाहृतो यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्यय ईश्वरो. यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'', ''आसीद् ज्ञानम् अथो हि अर्थः एकमेव अविकल्पितं... तद् मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पकं वाङ्मनोऽगोरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहद्. तयोः एकतरो हि अर्थः प्रकृतिः सा उभयात्मिका ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते'', ''ग्रसते अव्याकृतं राजन् गुणान् कालेन चोदितं, न तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः, अनादि अनन्तम् अव्यक्तं नित्यं कारणम् अव्ययं, न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो वा महदादयो अमी, न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा न संनिवेशः खलु लोककल्पः, न स्वप्नजाग्रन् न तत् सुषुप्तं न खं जलं भूः अनिलो अग्निः अर्कः. संसुप्तवत् शून्यवद् अप्रतर्क्यं तद् मूलभूतं पदम् आमनन्ति''.

(Bhagavagītā:8/3-4,12/3, 15/6-18, Bhgavata Pu.11/24/2-4,12/4/18-21)

Trans.''Akṣar Brahman is param=summum bonum, Staticness is soulic phenomenon, Karma is called the cause of manifestation of all things, Adhibhūta is perishable phenomena, Puruṣa is presiding deity, the Sacrifies the speaker Lord Himself within the bodies of all corporeal beings.'', ''Those who worship Akṣara that is inexplicable unmanifested omnipresent unthinkable unshakable immo-

vable fixed...", "The highest abode of mine (Kṛṣṇa), from where returning into miserable world never happens, is neither shone by sun moon or fire... There are two persons in world one is perishable another imperishable. However a transcendental person is the other called imperishable Paramātma the Lord, He penetrates all the three world and bears them. Because I transcend the perishable person and I am more excellent than Akṣara puruṣa therefore I am supposed to be Puroṣottama=Highest person.", "Originally the consciousness alone was there and duality of subject cum object was not there. That homogeneous single Universal Truth, which was beyond the reach of mind and speech, got split into subject and object, as a result of Maya. Out of these two the object became the Nature aquiring two-fold forms of the Cause and its modifications. And the subject became Person." , "Due to reversal pressure of time the primordial unmatured reabsorbs all the three attribute of Nature. Because being devoid of the temporal units it does not undergo any transformation. That Akṣara Brahman is without begining or end, unmanifested eternal and imperishable cause. This is not approachable by mind or speech, because It neither contains three attributes viz. sattva rajas or tamas, nor the product of these Mahad intellect elan vital intellection sense-motor organs and their controller powers. In It there is no infrastructure of the different worlds. Neither It has states of awakenness or sleep nor earth water fire air or space or sun.

It is completely sleeplike or voidlike unimaginable original state".

We cannot equate this phenomenon either with Kṣara Puruṣa or with Puroṣotama. Therefore Vāllabha Vedānta also accepts, Akṣara/Bṛhad as an infinite abode cum attribute of Puruṣottama, quite akin to Nirviśeṣa Brahman of Śānkara Vedānta. But in core of it there is Antaryāmin or Puroṣottama as Saguṇa Sākāra also. So by placement of Antaryāamin of Rāmānuja Vedānt we can derive Puroṣottama Kṛṣṇna of Śuddhādvaita Vedānta.

Therefore:

"Absolute non-dualism + Conditioned non-dualism = Realistic Monism"

Based on the one single and whole scriptural statement:

"Ekameva advitīyam (neha nānā asti) + tad aikṣat bahu syām prajāyeya"
(Chāndogyopaniṣad:6/2/1-3)

The first types of Śrutis proclaim the svābhāvika advaita of Brahman, that omnipotent (sarvabhavanasamartha) to manifest infinite Rūpa (percepts) Nāma (concepts) and Karma (actions). The second types of Śrutis explain

that plurality of nāam-rūpa-karma at the end of cyclical revealment and concealment of the Universe since reabsorbed into Brahman, It is capable to reproduce at the beginning of Universe out of his unfailable determination (अप्रतिहतसत्यसंकल्प). So the duality of all these is Aicchika and not by default of their original nature..

(Conclusion)

No comparision, whether brief or detailed, is complete without contrasting the comparable things. So to conclude this comparision these three theories can be contrasted as : Advaitavāda is combination of Non-dualistic theory of Brahman and every thing other then Brahman is considered to be 'sad-asad-vilakṣana=mithyā' ie.Idealistic Non-dualism. Viśiṣṭādvaitavāda is basically Dualistic conditioned non-dualism theory of Brahman. while Śuddhādvaitavāda proclaims Sadvāda + Advaitavāda ie. Realistic Monism. As MV. clarifies it "अयं प्रपञ्चो न प्राकृतो नापि परमाणुजन्यो नापि विवर्तात्मा नापि अदृष्टादिद्वारा जातो नापि असत: सत्तारूप: किन्तु परमाकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्य: तादृशोऽपि भगवद्रूप:" (Tattvārthadīpanibandha:1/23) Trans."This universe is not merely a product of insentient Nature, nor merely a lump of atoms, nor a Māyic illusion, nor it can merely be regarded as product of our souls deeds. Certainly it has not come out of nothing. But it is a creation of Supreme Reality and identical with the Lord."

उद्धरणतालिका

ॐ ब्रह्मविद् आप्नोति परं	तैत्ति.उप.२।१।१	३७७
ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो	बृह.उप.१।१।१	३२४
अक्षरम् अम्बरान्तधृतेः	ब्र.सू.१।३।१०	३७४
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावो	भग.गीता.८।३-४	३७२
अखण्डं कृष्णवत्सर्वं	त.दी.नि.२।१८२	२७१
अगञ्जञ्चाहं भग्गव प्रजानामि	दीघनि.३।१।८।३६	२२२,२६७
अग्निम् इळे पुरोहितं	ऋक्संहि.१।१।१	३१२
अजाम् एकां लोहितशुक्लकृष्णां	श्वेता.उप.४।५	३६०
अजायमानो बहुधा	तैत्ति.आर.३।१३।३	२१७
अज्ञाननाशकं विज्ञानम् आत्मानुभवो	सुबो.१०।२।३५	१२०
अणोः अणीयान् महतो	कठोप.१।२।२०	११८,१५०, २८०,३७०
अतः एकत्वं नानात्वं	ब्र.सू.शां.भा.२।१।१४	२३७
अतः शिवश्च विष्णुश्च	बा.बो.११	६३,३३१
अतः स्नेहः पदार्थान्तरं	भाग.सुबो.१।१९।१६	२१,७३
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे	सिद्धा.मु.१२	३६,३९०
अत्र एके वर्णयन्ति पूर्णात्	बृह.उप.शां.भा.५।१।१	२४८
अत्र केचित् परिहारम्	बृह.उप.शां.भा.२।१।१	२४९
अथ अध्यात्मम् अधरा हनुः	तैत्ति.आर.३।१३।२	३७२
अथ एवं विरुद्धार्थानुपपत्तेः	कठोप.१।२।२०	१५०
अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवद्	भाग.पुरा.६।९।३५	१५०,४१३
अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि	भाग.पुरा.११।२४।१४	२२१
अथ य एषोऽन्तरादित्यः	छान्दो.उप.१।६।६	२४३
अथ सत्सम्प्रदायप्रवर्तकं	संक्षे.शारी.सुबो.१।७	२४७
अथातो ब्रह्म जिज्ञासा	ब्र.सू.१।१।१	३५४
अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव	त.दी.नि.१।१	३३८

अद्वैतं न सदेहे अस्ति	बोधसार.मनोमहिमा.५	२७१
अद्वैतं परमार्थो हि	माण्डू.कारि.शांक.भा.प्रक.	३
अधिष्ठानं तथा कर्ता	भग.गीता.१८।१४	२४
अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म हि	त.दी.नि.१।२६	३५०
अनन्यप्रोक्ते गतिः अत्र	कठोप.१।२।८	१२३,१३४, १४१,१४३
अनादिनिधनं ब्रह्म	वाक्यप.१।१	२३५
अनादिनिधना नित्या वाग्	महाभा.१२।२२४।५५	११३
अनायासेन हर्षात्	सुबो.१।१।४	२९३
अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने	सुबो.२।६।का.१	३५८
अनुकूले कलत्रादौ विष्णोः	पं.श्लो.३	३६
अनुसर्गं यथा शक्त्या	भाग.पुरा.६।४।४	२१४
अनेन जीवेन आत्मना	छान्दो.उप.६।३।२	२२४,२६९
अन्तः प्रविष्ट शास्ता जनानाम्	तैत्ति.आर.३।११।२०	११९
अन्तर्याम्यवतारादिरूपेषु पादत्वम्	त.दी.नि.२।१०२	३७६
'अन्ध'इति अन्ननाम	निघ.निरु.५।१।१	२१५
अन्धंतमः प्रविशन्ति	ईशा.उप.९	१६४,१७७, २१५
अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्	तैत्ति.उप.३।२	१४६
अन्नाद्धचेव खलु इमानि	तैत्ति.उप.३।२	१४६
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव	वि.धै.आ.१४	३३१
अन्ये पुनः श्रुत्यनुवादकम्	ब्र.सू.अणुभा.१।१।२	१५१
अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैः	माध्य.कारि.१८।९	२२२
अपरा इयम् इतस्तु अन्यां	भग.गीता.७।५	३६२
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं	भाग.पुरा.१।७।४	३२
अपि चेत् सुदुराचारो	भग.गीता.९।३२	१५
अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्	ब्र.सू.३।२।२४	५७

अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो	ब्र.सू.शां.भा.१।१।७	१२३
अभावास्तु अस्मन्मते	भाग.सुबो.२।९।३२	२७७
अभेदएव स्याद् इति	ब्र.सू.शां.भा.कल्पत.२।१।१४	२३७
अमृतं चैव मृत्युः च	भग.गीता.९।१९	५६,२१५
अयं प्रपञ्चो न प्राकृतो नापि	त.दी.नि.प्र.१।२३	११९, ३५५,३६६
अयञ्च विभागो बहु स्याम्	भाग.सुबो.२।९।१	७२
अर्चनसाधनमन्त्रोपेतः स्तोता	ऋक्संहि.सा.भा.१।१६७।६	३१२
अर्थद्वारा पदे धर्माः	त.दी.नि.प्र.२।१७३	५७
अर्थो अयमेव निखिलैरपि	त.दी.नि.१।१०४	५४,३२३
अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च	साहि.दर्प.२।२	१६१
अलौकिको हि वेदार्थो न	ब्र.सू.अणुभा.१।१।१	५०,१५१
अवजानन्ति मां मूढाः	भग.गीता.९।११	३१५
अवताराः हि असंख्येया	भाग.पुरा.१।३।२६	१४४
अवाच्यं वाच्यम् इति	न्याय.सि.३।४६	१३३,२६६
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः	भग.गीता.८।१८	३८०
अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम्	भ.व.२	३६,८३
अष्टाभिः यस्य कृत्स्नं	मालविकाग्निमित्र-मंग	२३१
'असद्वा...' इति श्रुत्या	ब्र.सू.अणुभा.२।१।१७	२८४
असन्नेव स भवति असद्	तैत्ति.उप.२।६	१३४,२१६, ४०१
असमर्पितवस्तूनां तस्माद्	सिद्धा.रह.४	३६
अस्ति भाति प्रियं	दृग्दृश्यविवेक : २०	४१
अस्तीत्येवोपलब्धस्य	कठोप.२।३।१३	११६
अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः	बृह.उप.२।१।२०	३१३
अस्य प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य	निर्ण.सिन्धु.३। प्रतिष्ठा.वि	६३
अस्याम् उपासनायां	ब्र.सू.शा.भा.मुखप्रबन्ध १	२९५

अस्यैव स्नेहः सहजो धर्मः	भाग.सुबो.१०।४।५४	७६
अहं कृत्स्नस्य जगतः	भग.गीता.७।६-७	३८०
अहं ब्रह्म अस्मि	बृह.उप.१।४।१०	४००
अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि	ऋक्संहि.१०।२५।१	६६
अहन्ता-ममता-नाशे सर्वथा	बा.बो.७	७९
अहम् अन्नम्... अहम् अन्नादो	तैत्ति.उप.३।४	२१४
अहम् आत्मा आत्मनां	भाग.पुरा.३।९।४२	४२,४६
अहम् एतत् कर्मकर्ता	त.दी.नि.प्र.१।२३	३४२
अहमेव आसमेव अग्रे न	भाग.पुरा.२।९।३२	३८२
अहस्तानि सहस्तानाम्	भाग.पुरा.१।१३।४६	२१४
अहो माहात्म्यं प्रज्ञायाः	नैष्क.सि.१।७८	२३९
आकाशाद् वायुः वायोः अग्निः	तैत्ति.उप.२।१	३७४
आत्मकृतेः परिणामात्	ब्र.सू.१।४।२६	५८
आत्मत्वात् प्रियत्वम्	सुबो.२।२।६	४६
आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे	छान्दो.उप.६।३।२	३५९
आत्मा अस्य जन्तोः निहितो	कठोप.१।२।२०	३७०
आत्मनो वपाम् उदक्खिदत	तैत्ति.संहि.२।१।१।४	३७३
आत्मैव इदम् अग्रे आसीद्	बृह.उप.१।४।१	१२५,१७४, २६१
आत्मैव तदिदं विश्वं	भाग.पुरा.११।२८।६	२१७
आत्मैव तदिदं सर्वम्	त.दी.नि.२।१८३	२८०
आत्रेयवाक्यमपि संव्यवहारमात्रम्	संक्षे.शारी.३।२१७	२५१
'आधेय'पदार्थो धर्मः	न्या.को.	११
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्	तैत्ति.उप.२।९	२१८
आनन्दमयोभ्यासात्	ब्र.सू.१।१।११	२६६,३८१
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः	त.दी.नि.१।४४	३६५
आनीद् अवातं स्वधया तद्	ऋक्संहि.१०।१२९।२, शतप.ब्रा.१०।५।३।९	२२०

आपो वा इदम् आसन्	तैत्ति.ब्राह्म.१।२३।१	२२४,२६९
आप्यायन्तु मम अंगानि	केनोप.शां.पा	१८४
आम्नायस्तु क्रियार्थत्वाद्	जैमि.मी.सू.१।२।१	१४८
आविर्भावतिरोभावैः मोहनं	त.दी.नि.१।७२	७७,३५१, ३८३
आविर्भावतिरोभावौ शक्ती	त.दी.नि.२।१४०	२८४
आसीद् इदं तमोभूतम्	मनुस्मृ.१।५	२२१
आसीद् ज्ञानम् अथो ह्यर्थः	भाग.पुरा.११।२४।२	५८,१४१, ३६०
आस्थापयन्त युवतीं युवानः	ऋक्संहि.१।१६७।६	३१२
इच्छामात्रात् तिरोभावः तस्य	त.दी.नि.२।१००	३७५
इच्छायां प्रविष्टायां	त.दी.नि.प्र.२।१००	३७५
इति उक्त्वा आसीद्	भाग.पुरा.१०।३।४६	३८९
इति श्रीकृष्णव्यासविष्णु-	त.दी.नि.१।१०४	३३९
इत्येषा सहकारिशक्तिः	न्या.कु.स्तब.१	२९५
इदं केचिद् ईश्वरस्वरूपेऽपि	सर्वा.सि.३।७३	२५८
इदं पुच्छं प्रतिष्ठा	तैत्ति.उप.२।१।१	३७८
इदं विश्वं भगवान्	सुबो.१।५।२०	२३८
इदम् अत्र विचार्यते	ब्र.सू.अणुभा.१।१।१	२९७
इदानीं दिगम्बरपादपातिनां	इष्टसिद्धिविवरण.५।५८	२३९
इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम्	ऋक्संहि.१।१६४।४६	६२,२१६
इन्द्रादयो बाहवः आहुः	भाग.सुबो.२।१।२९	६३
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि	भग.गीता.२।६०	१८
इयञ्च उपादानपरिणामादिभाषा	ब्र.सू.शां.भा.भा.१।४।२७	२५२
ईश्वरः सर्वभूतानां	भग.गीता.१८।६१	२५
उपक्रमादिलिंगानां बलीयो	द्रष्ट.सर्वदश.संग्र.व्या.५	१४९
उपक्रमोपसंहारावभ्यासो	बृहत्संहितायां क्वचित्	१४८
उपद्रष्टा अनुमन्ता च	भग.गीता.१३।२२	२५

उपसंहारदर्शनान्नेति	ब्र.सू.२।१।२४	२५१
उभयव्यपदेशात् तु अहिकुण्डलवत्	ब्र.सू.३।२।२७	३८४
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्	ऋक्संहि.१।१६४।३९	२९
ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य	मनुस्मृ.६।३५	६
एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति	ऋक्संहि.१।१६४।४६	२२०,२६५
एकएव अग्निः बहुधा	ऋक्संहि.६।४।२८	२१६
एकमेव अद्वितीयम्	छान्दो.उप.६।२।१	३०५
एकमेव तद् एकं	बृह.उप.१।४।११	३०५
एकमेवाद्वितीयम्	छान्दो.उप.६।२।२	११९,१२०
एकैव अहं जगति अत्र	दु.स.श.१०।१	२८९
एकैव उषा सर्वम्	ऋक्संहि.६।४।२८	२७
एको देवो बहुधा निविष्टो	मुद्ग.उप.३	५७,२१७, २९४
एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं	त.दी.नि.प्र.१।७	१४२,३६१
एतद् ज्ञेयं नित्यमेव	श्वेता.उप.१।१२	२२,१४३
एतदेव अनुमानं	ब्र.सू.शां.भा.१।१।१	१५२
एतस्य महतो भूतस्य	बृह.उप.२।४।५	१९
एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि	बृह.उप.४।३।३२	३५
एतावदेव जिज्ञास्यं	भाग.सुबो.२।९।३५	६१,३८२
एतावान् अस्य महिमा	ऋक्संहि.१०।९०।३	२१४,२१५
एवं चतुर्णां वर्णानाम्	मनुस्मृ.१०।१३०	९
एवं पूर्णज्ञानोदयावधि यद्	त.दी.नि.प्र.१।९	५४,१४९
एवं शब्दगतान् धर्मान्	द्रष्ट.त.दी.नि.प्र.२।१७७	२३
एवं सर्वं ततः सर्वं	त.दी.नि.१।१०१	७९,३२३
एवं स्वचित्ते स्वतएव	भाग.पुरा.२।२।६	४६
एष उ ह्येव साधु	कौषी.ब्रा.उप.३।९	२३,४३
एष ह्येव आनन्दयाति	तैत्ति.उप.२।७	१६
एष ह्येवैनं साधु कर्म	कौषी.ब्रा.उप.३।९	९

एषो अस्य परमः आनन्दः	बृह.उप.४।३।३२	१७१
ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्	छान्दो.उप.६।८।७	२१५,४००
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य	विष्णुपु.६।५।७४	१४३
औपनिषदम्मन्याअपि	बृह.उप.भा.२।३।६	२४८
कतमानि तानि चत्वारि पदानि	निरु.निघ.१३।१।१०	१२२
कब देखोगे मेरी ओर	सूरदास.पद	३४३
कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा	ब्र.सू.शां.भा.१।१।२	२१३
कर्तृकरणाद् धात्वर्थे	पाणि.धा.गणपाठ	१७०
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि	भग.गीता.३।१५	६७
कर्मयोगादयः सर्वे	त.दी.नि.२।३१२	७२
कर्मवद् ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते	त.दी.नि.२।२८	१५९
कामाद् द्वेषाद् भयात्	भाग.पुरा.७।१।२९	३२७
कामुमा एनं स्त्रियो	तैत्ति.संहि.६।१।६।६	१५७
कारणनिष्ठः कार्योत्पादनयोग्यो	तर्कसंग्रहदीपिका	२९५
कार्यकारणयोः भेदाभेदमतनिराकरणाय	ब्र.सू.अणुभा.१।४।८	२३९
कालः स्वभावो नियतिः	श्वेता.उप.१।२	२१५,३७८
किं कारणं ब्रह्म कुतः	श्वेता.उप.१।१	२१५
किंविधत्ते किम् आचष्टे	भाग.पुरा.११।२१।४२	१२२
किंस्विद् वनं क उ	ऋक्संहि.१०।८१।४	२१६,२८०, २९६
किञ्च आपाततः शिष्यस्य	संक्षे.शारी.सुबो.२।८१	२३७
कृतं मे दक्षिणे हस्ते	अथ.संहि.७।५०।८	२७
कृषिर् भूवाचकः शब्दो	गो.पू.ता.उप.१।१	२७१,३८०
कृष्णसेवा सदा कार्या	सिद्धा.मु.१	३८,८३, ३३९
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न	नि.ल.१२	३६
कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः	त.दी.नि.३।६।२	६८

केचित्तु औपनिषदाः	शा.दी.१।१।५	२५३
केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भाद्	नैष्क.सि.१।६७	२५३
को अद्धा क इह प्रवोचत्	ऋक्संहि.३।३।२४	२२४,२६८
क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्ती सन्दिह्येते	ब्र.सू.अणुभा.१।१।२	३५९
क्रीडार्थम् आत्मनः इदं	भाग.पुरा.८।२२।२०	३४
क्षरं प्रधानम् अमृतम् अक्षरम्	श्वेता.उप.१।१०	२१५,३७०
गते अर्थवत्त्वम् उभयथा	ब्र.सू.३।३।२९	६९
गुणदोष-भिदा-दृष्टिः	भाग.पुरा.११।२०।५	१४
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं	कठोप.२।१।६	२१
गृहेषु आविशतां चापि	भाग.पुरा.४।३०।१९	२१८
गोपीनां तत्पतीनां	भाग.पुरा.१०।३३।३६	४५
ग्रसते अव्याकृतं राजन्	भाग.पुरा.१२।४।१८	३६०
चक्षू रूपपुरस्कारेण	भाग.सुबो.३।३२।३३	३३०
चत्वारि वाक् परिमिता पदानि	ऋक्संहि.१।१६४।४५	६६,१२०
चरित्र ए जे मीराँबाई	दया.रस.२।१	३२६
चित्तं प्रति यद् आकर्ण्य	अन्तःप्रबो.११	३६
चेष्टाम् आहु चेष्टते	भाग.पुरा.१०।३।२६	२१
चोदनालक्षणो अर्थो धर्मः	जैमि.मी.सू.१।१।२	११
जगतः समवायि स्यात्	त.दी.नि.१।६८	२८३
जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरंगे	साध.दीपि.३६	३९१
जगन्नाथे पाण्डुरंगे श्रीरंगे	त.दी.नि.२।२५५	३९१
जनि प्रादुर्भावे	पाणि.धा.पा.११७४	२५७
जनिकर्तुः प्रकृतिः	पाणि.सू.१।४।३०	२५७,३००
जयो अस्मि व्यवसायो अस्मि	भग.गीता.१०।३६	२७
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः	भग.गीता.२।२७	७४
जीवः ईशो विशुद्धा चित्	सि.ले.सं.१।१७	१२३
जीवाः पुद्गलकायाः	पञ्चास्तिकाय.त.प्रदी.२२	४०७

जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा	भाग.पुरा.१।२।१०	३५०
ज्ञाननिष्ठाय देयानि	भाग.पुरा.७।१५।२	१५६
ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो	भाग.३।३२।३२	१२२
ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि	भग.गीता.१३।१३	२२१
'णश्' अदर्शने	पाणि.धा.पा.१२१९	२५७
तं त्वौपनिषदं पुरुषम्	बृह.उप.३।९।२६	१२२,१३४, १४१,२७४
तणक हरि चितवां म्हारी	मेरे तो गिरिधर गोपाल पृ.४०५	३४३
ततश्च अस्य लक्षणसूत्रस्य	शाक्त भाष्य १।१।२	३००
तत्र आदौ प्रकृतिनिराकरणार्थं	सुबो.१०।८४।१४	२९४
तत्र किंलक्षणकं किम्प्रमाणकम्	ब्र.सू.अणुभा.१।१।२	२९९
तत्र केचिद्...अन्येतु अक्षरस्य	बृह.उप.भा.३।८।१२	२४८
तत्र को मोहः कः	ईशा.उप.७	४०८
तत्र आवश्यकत्वं नाम	सिद्धा.मु.वि.प्र.१	३८
तत्र प्रमेयं द्विविधम्	त.दी.नि.प्र.२।२	२०
तत्सादृश्यम् अभावश्च	दृष्ट.वैया.भू.सा.नञर्थ ४१	११७,२६२
तत् आद्यजन्मापादानत्वम्	शाक्त भाष्य १।१।४	३०४
तत्छक्त्या अविद्ययातु अस्य	त.दी.नि.१।२३	३६४
तत्तु समन्वयात्	ब्र.सू.१।१।३	३६३
तथा सुवर्णं कयाचिद् आकृत्या	पातं.महाभा.१।१।१	२२७
तथैव तस्य लीलेति मत्वा	न.र.८	३६
तद् आत्मानं स्वयम्	तैत्ति.उप.२।७	२८३
तद् एतत् सत्यं यथा सुदीप्तात्	मुण्ड.उप.२।१।१	३७०
तद् ऐक्षत बहु स्यां	छान्दो.उप.६।२।३	११७,१२२, २६६,३०१
तद् यथा रथनाभौ	बृह.उप.२।५।१५	३१३
तद् ह इदं तर्हि अव्याकृतम्	बृह.उप.१।४।७	२८४
'तद्...' स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्	ब्र.सू.अणुभा.१।४।२६	२८६

तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः	ब्र.सू.२।१।१४	२३७
तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै	बा.बो.१८	३६
तदिच्छामात्रतः तस्माद्	त.दी.नि.१।२७	११६
तदुपासनया ज्ञानात् परमात्मत्वम्	त.दी.नि.२।१०३	३७६
तदेव कारणं कार्यम्	इष्टसि.१।१०९	११७
तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम्	बृह.उप.१।४।७	११८,१४३, २८४
तम् अक्रतुं पश्यति	श्वेता.उप.३।२०	१६
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको	कठोप.१।२।२०	३७१
तर्हि सो...इत्यादिकम्	सर्वा.सि.३।२६	२५४
तस्मात् च देवाः सम्प्रसूताः	मुण्ड.उप.२।१।७	६२
तस्मात् तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यम्	बृह.उप.भा.२।१।२०	५३
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा	भाग.पुरा.१०।१४।५४	७६
तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं	भग.गीता.१६।२४	११,१७, २८
तस्माद् अक्षरं परमात्मैव	ब्र.सू.भा.१।३।१०	३७५
तस्माद् असम्प्रदायवित्	भग.गीतोप.भा.१३।२	३२३
तस्माद् एकाकी न रमते	बृह.उप.१।४।३	११३
तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः	तैत्ति.उप.२।१	१४६,२२४, २६९,३६१,४०७
तस्य ज्ञानबलक्रियात्मिका	शाक्त भाष्य १।१।४	३०४
तस्या शिखायाः मध्ये	महाना.उप.११।१३	३१३
तानि-तानि साधनानि	ब्र.सू.अणुभा.१।१।११	४३
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान्	अथ.संहि.१०।२३।४।२७	६२
तार्किकमते तावद् उत्पन्नं	विव.प्र.सं.वर्ण.१।अनु.२८	११६
तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैः	बृह.उप.शां.भा.१।४।७	१४५
तावत् कर्माणि कुर्वीत	भाग.पुरा.११।२०।९	१४
तेतु कुतर्कदूषितान्तःकरणाः	बृह.उप.१।१।२	३२३

ते ध्यानयोगानुगता: अपश्यन्	श्वेता.उप.१।३	३८०
ते प्राप्नुवन्ति मामेव	भग.गीता.१२।४	३७७
तेषां खलु एषां भूतानां	छान्दो.उप.६।३।१	३५९
तेषां सततयुक्तानां	भग.गीता.१०।१०	१६
त्रयं वा इदं नाम रूपं	बृह.उप.१।६।१	६०,११७, ११९,१४३,१७६,२१३,२१९,२८६,४०२
त्रैगुण्यविषया: वेदा:	भग.गीता.२।४५	२८,३४
त्रैवर्गिकायासविघातम्	भाग.पुरा.११।६।२३	१८
त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज	भाग.पुरा.३।२।२४	५७
त्वम् अग्ने: वरुणो जायसे	ऋक्संहि.३।१६।१	३१२
त्वम् अग्ने...ब्रह्म चासि	ऋक्संहि.२।१।१	३१२
त्वया एतद् धार्यते विश्वं	दु.स.श.१।५६	२८२
त्वयि धृतासव: त्वां	भाग.पुरा.१०।३१।१	१९
त्वामेव अन्ये शिवोक्तेन	भाग.पुरा.१०।३७।८	८०
दरस बिना म्हांने	मेरे तो गिरिधर गोपाल पृ.३४८	३४२
द्रव्यं कर्म च काल: च	भाग.पुरा.२।५।१४	६१,२१४
द्रव्यं कर्म च काल: च	भाग.पुरा.२।१०।१२	२१७,४०७
द्रव्यं मन्त्रो विधि: यज्ञो	भाग.पुरा.९।६।३६	६०
द्वयमेव हि साध्यम् असंग:	भाग.सुबो.१।८।४०	७८
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	भग.गीता.१५।१६-१८	३७४
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद्	सिद्धा.मु.३	३६५
द्विविधा हि वेदान्ते	ब्र.सू.अणुभा.२।३।१	२८७
देवस्य पश्य काव्यं न	अथर्ववेद १०।८।३२	३७४
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे	बृह.उप.२।३।१	११८,२१५, २८१
द्वे विद्ये वेदितव्ये	मुण्ड.उप.१।१।४	२८
द्वैतं मोहाय बोधात्	बोधसा.३३४,३३८	३७

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने	पाणि.सू.१।४।२२	१२०,२६५
द्व्येकयोर्द्विचनैकवचने...	सि.कौ.त.बो.टिप्प.१।४।२२	२१९
धर्मः प्रोज्झितकैतवो अत्र परमः	भाग.पुरा.१।१।२	१२
धर्मः स्तनाद् दक्षिणतो यत्र	भाग.पुरा.३।१२।२५	९
धर्मस्यहि आपवर्गस्य	भाग.पुरा.१।२।९	१८
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि	भग.गीता.७।११	६
धर्मो ज्ञानं च साधनं	सुबो.१।१।२	१२
ध्रुवम् अपाये अपादानम्	पाणि.सू.१।४।२४	३००
न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यः	कठोप.१।२।२३	३४५
न असद् आसीद् नो सद् आसीद्	ऋक्संहि.१०।१२९।१	२२४,२६९
न असदुत्पादो नृशृंगवत्	सां.सू.१।१।११४	२४३
न खलु अनन्यत्वम् इति	ब्र.सू.शां.भा.भा.२।१।१४	२२५
नच एकं तदन्यद्	दशश्लो.१०	१६५,२७०
नच एकत्वमेव तादात्म्यम्	विव.प्र.सं.वर्ण.१।अनु.२६	११७
नच ब्रह्मणः इष्टम्	बृह.उप.भा.१।४।१०	५३
नच वेदस्य सर्वप्रकाशकत्वे	वि.प्र.सं.६।३	११८
न तद्भासयते सूर्य	भग.गीता.१५।६	५२,३५९
नतु अक्षरमात्रता	त.दी.नि.प्र.२।१०३	३७७
नतु तथापि काचिद्	ब्र.सू.अणुभा.१।२।३२	१३८
नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि	बा.बो.१	७५
ननु एवं भ्रमं भगवान् उत्पाद्य	भाग.सुबो.१०।३७।९	८०
ननु कारणात् कार्यस्य	शाक्त भाष्य २।१।१४	२७४
ननु सत्यं ज्ञानम् अनन्तं	ब्र.सू.अणुभा.३।३।२९	६९
ननु न जायते अजो नित्यः	ब्र.सू.भास्क.भा १।४।२५	२४१
ननु भर्तृप्रपञ्चादिभिरेव	कठ.शां.भा.गो.टी.१।१।१	२४७
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं	भाग.पुरा.१०।५।१९	३८७
नन्दनन्दनसूं मन मान्यो	मेरे तो गिरिधर गोपाल पृ.३७७	३४३

नम त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्	कुमा.सम्भ.२।४	२३०
नमो भगवते तस्मै कृष्णाय	त.दी.नि.१।१	२८८
नमो विश्वसृजे पूर्वं	रघुवं.१०।१६	२२९
न यत्र वाचो न मनो	भाग.पुरा.१२।४।२०	२२१,३७५
न यथोक्तविशेषणस्य	ब्र.सू.शां.भा.१।१।२	४९
नवा अरे सर्वस्य	बृह.उप.२।४।५	१६,१७३
न शास्ता शास्त्रं न	दशश्लो.७	१६५
न सन् न असन् न सदसद्	माध्य.कारि.	३५०
न सन् नच असन् न तथा	महायानसूत्रालं.६।१	२३४
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके	वाक्पदी.१।११५(१२३)	१३४
नहि इदम् अतिगम्भीरं	ब्र.सू.शां.भा.२।१।११	१३८
नहि विरोधः उभयं	भाग.पुरा.६।९।३६	१३७
नहि साधनसम्पत्त्या हरिः	भाग.सुबो.१०।२९।१	७०
नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं	ब्र.सू.अणुभा.१।१।१	२८२
नहीदम् अतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं	ब्र.सू.शां.भा.२।१।११	१२३
नागमाद्ऋते धर्मस्तर्केण	वाक्यप.१।३०	१२१
नाना सृष्टिप्रकाराः हि नाना	त.दी.नि.१।७०	३८२
नान्यद् एवं व्रजेद् देवः	द्रष्ट.साध.दीपि.६८	३३१
नापि असतः सत्तारूपः	त.दी.नि.प्र.१।२३	२८३
नापि चिन्मात्रं जननापादानम्	शाक्त भाष्य १।१।२	३००
नाभाजी महाराजने भक्तमाल	उत्त.भ.मा.	३२३
नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः	छान्दो.उप.७।१।४	१५४
नायं सुखापो भगवान्	भाग.पुरा.१०।९।२१	१५
नायमात्मा प्रवचनेन	कठोप.१।२।२३	१६,३७१
नारायणपराः वेदाः	भाग.पुरा.२।५।१५	६२
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन	भाग.पुरा.६।१७।२८	३८,८२
नासतो विद्यते भावो	भग.गीता.२।१६	११६

नित्यैव सा जगन्मूर्तिः	दु.स.श.१।४७	२९०
नित्यो नित्यानां चेतनः	कठोप.२।२।१३	३०१
निमित्तत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वाद्	ब्र.सू.अणुभा.१।१।३	३०३
निश्चयो यथार्थानुभवो	भाग.सुबो.३।२६।३०	५१
निषिद्धानां दुःखं फलं	त.दी.नि.प्र.२।२८६	३५
निष्ठाभावे फलं तस्माद्	त.दी.नि.१।१८	७२
नैनेन किञ्चन अनावृतम्	बृह.उप.२।५।१८	२८१
नैवं वादीनां वाक्यानि	त.दी.नि.प्र.१।७०	३५२
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं	कठोप.२।३।१२	१३४
नैवेह किञ्चन अग्रे आसीद्	बृह.उप.१।२।१	१२२,२२४, २६९
नैषा तर्केण मतिः आपनेया	कठोप.१।२।९	१३४
पतिश्च पत्नी च अभवताम्	बृह.उप.१।४।३	३५७
पञ्चात्मकं द्विरूपं च साधनैः	त.दी.नि.२।१	६४
परः तस्मात्तु भावो अन्यो	भग.गीता.८।२०-२१	३८१
परं ब्रह्म तु कृष्णो हि	सिद्धा.मु.३	५०,३६४, ३७०
परमात्मा स्वयंको जगद्रूपेण	ब्र.सू.भास्क.भा.२।४।२५	३४१
परसमवेतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्व	न्यायको.	३००
परा पश्यन्ति मध्यमा वैखरी	ऋक्संहि.सा.भा.१।१६४।४५	१२०
पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा	बा.बो.१०	८०
परोक्षवादो वेदो अयं	भाग.पुरा.११।३।४४	१३
पुरुषः सः परः पार्थः	भग.गीता.८।२२	३८१
पुरुषएव इदं सर्वं यद्भूतं	ऋक्संहि.१०।९०।२	६६,१२०, २१४
पुष्टिः नाम यया सर्वे	भाग.सुबो.१०।३६।५५	६८
पुष्टिः स्वार्था	त.दी.नि.३।६।१३	१५

पुष्टिमार्गे हरेः दास्यं	वृत्रा.चतु.वि.४।१	२०
पूर्णम् अदः पूर्णम्	बृह.उप.१।१।१	२८१
प्रकीर्णकानां फलं वक्तुं	त.दी.नि.प्र.२।२६६	६३
प्रकृतिः पुरुषश्च इति	भाग.पुरा.११।२२।२९	१३९
प्रकृतिः पुरुषश्च उभौ	भाग.पुरा.११।२२।२६	१३९
प्रकृतिः पुरुषश्च उभौ परमात्मा	त.दी.नि.२।९८	३५८,३७५
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्	ब्र.सू.१।४।२३	२५१
प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो	ब्र.सू.३।२।२२	१२२
प्रजापतिः आत्मनो वपाम्	तैत्ति.संहि.२।१।१।४	३७३
प्रजापतेरेव सायुज्यम्	शतप.ब्रा.१२।१।३।२	१५७
प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधः	अद्वैतसि.परि.१	१२३
प्रतीकारो यदृच्छातः	वि.धै.आ.७	३६
प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः	भाग.सुबो.२।९।३२	५२,१५३
प्रपञ्चो गोघटादि कार्यजातं	न्या.कु.प्रका.१।२०	२९६
प्रपंचो भगवत्कार्यः तद्रूपो	त.दी.नि.१।२३	३६४
प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन	त.दी.नि.२।१०२	३७६
प्रमेयं हरिरेव एकः सगुणो	त.दी.नि.प्र.२।८४	६०,३८२
प्राकृताः सकला देवाः	कृष्णा.स्तो.८	३६५
प्रायो नाम तपः प्रोक्तं	मनुस्मृ.११।४७	९
प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः भगवान्	भाग.सुबो.२।२।७	७३
बहु स्यां प्रजायेय	तैत्ति.उप.२।६	४०६
बाधप्रतियोगित्वस्य सिद्धये	वि.प्र.सं.१।७५	१२३
बृहच्च तद्दिव्यम्	मुण्ड.उप.३।१।७	११८,२८०
बृहत्वाद् बृंहणत्वात् च	विष्णुपुरा.३।३।२२	३५३
ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि	बृह.उप.१।६।३	२६५
ब्रह्मणे अनन्तशक्तये अगुणाय	भाग.पुरा.१०।१६।४०	१४१
ब्रह्मदत्तादिभिः उक्तं	तत्त्वमुक्ताकलाप २।१४	२५६

ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहित	ब्र.सू.शां.भा.२।१।१४	२५२
ब्रह्म प्रतिष्ठा मनसो	तैत्ति.ब्राह्म.३।७।११।१	१२१
ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्षः	तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।७	२१६,२८०, २९६
ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत्	बृह.उप.१।४।१०	२१५
ब्रह्मवादव्यतिरिक्तेषु	त.दी.नि.२।१७७	२७
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु	पत्राव.३	२७,१४०, २७०
ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति	मुद्ग.उप.३।२।९	१५६
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां	सि.रह.	३९०
ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम्	त.दी.नि.प्र.१।५०	३९
ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठः	ऐत.आर.३।९।६	१५६
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः	भग.गीता.४।२४	२१४
ब्रह्मैव इदम् अग्रे आसीत्	बृह.उप.१।४।१०	११३
भक्त भक्ति भगवन्त गुरु	नाभा.कृ.भ.मं	३२५
भक्तिस्त्वयि उपयुज्येत	भाग.पुरा.११।११।२६	३१६
भगवच्छास्त्रे भगवानेव	भाग.सुबो.१०।२।३८	५८
भगवच्छास्त्रे भगवानेव	सुबो.१०।२।३८	२२
भगवत्पदपद्मपरागजुषां नहि	८४वै.वार्ता ३४।३	३३५
भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य	त.दी.नि.प्र.२।४	७९
भगवानेव सर्वं करोति	सुबो.३।३२।२२	३३
भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन	भाग.पुरा.२।२।३४	४६
भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः	भाग.सुबो.२।२।३५	२१८,३४८
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः	ऋक्संहि.१।८९।८	३१२
भर्तृप्रपञ्चभाष्याद्विशेषान्तरमाह	बृह.शां.भा.आ.गि.१।१।१	२४७
भावप्रधानम् आख्यातं	निरु.निघ.१।१।१	२१३
भास्करस्तु इह बभ्राम	ब्र.सू.शां.भा.कल्पत.१।४।२७	२४२

भीषा अस्माद् वातः	तैत्ति.उप.२।८	२८१
भुवः प्रभवः	पाणि.सू.१।४।३१	३००
भूतं न जायते किञ्चिद्	माण्डू.कारि.शांक.भा.प्रक.४	२३३
भूमिः आपो अनलो वायुः	भग.गीता.७।४	४१,५८, १८०,३६२
भृत्येतु स्वामिभृत्यभेदस्य	ब्र.सू.शां.भा.१।१।७	१५१
भेदः पारमार्थिकः इति	सुबो.३।३२।३७	३४
भेदसहिष्णुः अभेदः	सुबो.१।५।२०	११७,२७७
भेदाभेदयो हि सर्वप्रमाणसिद्धत्वाद्	ब्र.सू.भास्क.भा.२।१।१३	२७८
भेदाभेदोपपाद्यं सकलम्	तत्त्वमुक्ताकलाप ३।२८	२४०
भोक्त्रापत्तेः अविभागः	ब्र.सू.२।१।१३	२५१
मटचीहतेषु कुरुषु आटिक्या	छान्दो.उप.१।१०।१	८
मयैव एते निहता पूर्वमेव	भग.गीता.११।३३	३३
महतः ऋग्वेदादे शास्त्रस्य	ब्र.सू.शां.भा.१।१।३	१५४
महाभाग्याद् देवताया:	निघ.निरु.७।१।५	६२,३३४
मां विधत्ते अभिधत्ते मां	भाग.पुरा.११।२१।४३	३०,५९
मानमेयै साधनैश्च फलैश्चापि	त.दी.नि.३।१०।४१	५७
मायामात्रं सर्वम् इत्येतद्	संक्षे.शारी.सुबो.३।२।७	२५५
मीराँबाईकी प्रोहिती रामदास	उत्त.भ.मा	३२३
मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः	अम.को.१।४।२४-५	१७०
मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः	त.दी.नि.२।१०१	३७५
मूलेच्छातो फलं लोके	पु.प्र.म.१०	८१
मूलेन पुरुषोत्तमेन सह अविच्छिन्नतया	त.दी.नि.प्र.२।१०१	३७५
मृत्युः सर्वहरश्च अहम्	भग.गीता.१०।३४	१२२,२१५, २१७
मेरे येई वेदव्यास	पदप्रबो.मा.१	३२५
मैं अपनो मन हरिसों	परमा.सा.पदसं ४५२	३४३

म्हारा सतगुरु मिल्या	मेरे तो गिरिधर गोपाल पृ.४२९	३३४
यः इह आत्मानम् अनुविद्य	छान्दो.उप.८।१।६	२४७
यः एवं वेद	तैत्ति.उप.३।६	१५७
यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्	बृह.उप.३।७।१५	१४३
यच्च द्वैतोक्तिरत्नमालाख्ये	ईश.उप.शा.भा.उपक्रमे	२७६
यज्ञेन यज्ञम् अजयन्तः देवाः	तैत्ति.आर.३।१३।२	३७३
यज्ञो भूत्वा यज्ञम्	तैत्ति.ब्राह्म.२।५।८	२१३
यज्ञो वै विष्णुः	तैत्ति.ब्रा.१।२।५।१	३७३
यतो वा इमानि भूतानि	तैत्ति.उप.३।१	१४६,१५९, २८०,२९३,३५४,३६८,३८१
यतो वाचो निवर्तन्ते	तैत्ति.उप.२।४	१२१
यत्तु अद्वितीयं ज्ञानमिति	सुबो.१।२।११	१२०
यत्र येन यतो यस्य यस्मै	त.दी.नि.१।६९	६५
यत्र लोकान् च कोशान्	अथ.संहि.१०।२१	२१६
यत् किञ्चिद् दूषणं	सुबो.२।९।३२	१६६
यत् पत्यपत्यसुहृदाम् अनुरक्तिः	भाग.पुरा.१०।२९।३२	४५
यत् पुनः इदम् उक्तम्	ब्र.सू.शां.भा.१।४।२७	२५१
यत् साक्षाद् अपरोक्षाद्	बृह.उप.३।४।२	३२९
यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः	बृह.उप.२।१।२०	३६९
यथा अमित्रो न मित्रं	भाव.प्रका.३।२।२८	२७७
यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्यते	मुण्ड.उप.१।१।७	११८,२८२
यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना	बृह.उप.२।१।२०	२८२
यथाकथञ्चिद् माहात्म्यं	त.दी.नि.१।४१	३२
यथा मतयो दर्शनज्ञानानि	भाग.सुबो.१।१२।३९	६४
यथा शास्त्रद्वयं भक्तिज्ञानप्रतिपादकं	भाग.सुबो.१०।२६।१३	५६,८२
यथा सुदीप्तात् पावकाद्	मुण्ड.उप.२।१	३०१
यद् अग्नेः रोहितं रूपं	छान्दो.उप.६।४।१	३५९

यद् इदं किञ्च तत्	तैत्ति.उप.२।६	२८०
यद् उक्तं हिरण्मयश्रुत्वादिरूपश्रवणं	ब्र.सू.शां.भा.१।१।२०	२४४
यद् ऋचो अध्यगीषत ताः	तैत्ति.आर.२।१०।१	३१५
यद् एकम् अव्यक्तम्	महाना.उप.१।५	२१६,२८०
यद् वाचा अनभ्युदितं	केनोप.१।४	१२१,१४२
यद्-यद्धिया त उरुगाय	भाग.पुरा.३।९।११	२६५,४१४
यदा अखण्डाद्वैतभानं	त.दी.नि.प्र.१।९१	२८७
यदा बहिर्मुखा यूयं	शिक्षाश्लो.१	१८
यदा यदा हि.. आत्ममायया	भग.गीता.४।७	६
यदा वैराग्यगुणप्राधान्येन	भाग.सुबो.१०।३७।८	८०
यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः	भाग.पुरा.७।१।१०	२९३
यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा	तैत्ति.उप.३।८	११८
यदुक्तं परिनिष्पन्नत्वाद्	ब्र.सू.शां.भा.२।१।६	१५२
यदेकम् अव्यक्तम्	महाना.उप.१।५	११८
यदेव विद्यया करोति	छान्दो.उप.१।१।१०	१५६
यन्न दुःखेन सम्भिन्नं नच		१७२
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव	ईशा.उप.६	१७६
यस्मात् क्षरम् अतीतो	भग.गीता.१५।१८	३४८
यस्मिन् विरुद्धगतयो	भाग.पुरा.४।९।१६	२१७
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि	ईशा.उप.७	२१४
यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः	अथ.संहि.१०।७।१६।२७	३१४
यस्य देवे परा भक्तिः	श्वेता.उप.६।२३	३३६
यस्य वा अयथादेवतम्	तैत्ति.ब्राह्म.१।१।४।८	३२८
यस्य यदा खलु पुण्यं	पञ्चास्तिकाय.त.प्रदी.१४३	४०८
यः संवरेण युक्तः आत्मार्थ	पञ्चास्तिकाय.त.प्रदी.१४५	४०८
यस्स कायेन वाचाय	धम्म.ब्राह्म.९	२९
या खलु शक्तिः अस्मत्	शाक्त भाष्य १।४।२३	३०७

या प्रीतिः अविवेकानांतु	विष्णुपु.१।२०।१९	४१
या श्रीः स्वयं सुकृतिनां	दु.स.श.४।४	२९०
या सृष्टिः स्रष्टुः	अभिज्ञानशाकुन्तल-मंग.	२३१
यावद् देहोऽयं तावद्	सुबो.३।२८।२	१५
यावन्तः कर्मिणो देहाभिमानिनो	सुबो.१०।९।२१	१६
युक्तं च सन्ति सर्वत्र	भाग.पुरा.११।२२।४	१३९
युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः	ब्र.सू.शां.भा.१।१।१	१२९
युवां मां ब्रह्मभावेन	भाग.पुरा.१०।३।४५	३९०
ये चैव सात्त्विकाः भावाः	भग.गीता.७।१२	१८१
ये तु अक्षरम्	भग.गीता.१२।३	३५९
ये धर्माः भ्रान्तिलक्षणाः	महायानसूत्रालं.११।२७	२३४
ये धातुशब्दाः यत्र अर्थे	त.दी.नि.प्र.२।७४	२६
येन अहं न अमृता स्यां	बृह.उप.२।४।१	१७३
ये यथा मां प्रपद्यन्ते	भग.गीता.४।११	५७,२६५, ३२८
ये ये प्रत्ययाः ते ते निरालम्बाः	द्र.ब्र.सू.शां.भा.२।२।२९	१३०
यो अन्तःप्रविश्य मम	भाग.पुरा.४।९।६	४४
योगो हि बहुविधो भगवत्साक्षात्कारे	भाग.सुबो.३।२५।१३	७९
यो देवानां नामधा एकएव	ऋक्संहि.१०।८२।३	६१,३१३
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं	श्वेता.उप.६।१८	११३
यो विश्वात्मा विधिजविषयान्	माण्डू.उप.भा.मं.२	१२३
यो वै भूमा तत् सुखम्	छान्दो.उप.७।२३।१	३५,१७१
यो वै सप्तदश प्रजापतिं	तैत्ति.संहि.६।११।१	२१३
रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे	त.दी.नि.२।१८	१६४
रूपाद्यभावाद्धि न अयम्	ब्र.सू.शां.भा.२।१।६	१३८
लक्षणां नैव वक्ष्यामि	भाग.सुबो.१।१।१	१६१
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्	ब्र.सू.२।१।३३	२५१,२६२, २८८

लोकस्येव जनस्येव लीलाकैवल्यं	शाक्त भाष्य २।१।३३	३०८
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्	पु.प्र.म.२०	१५
वंशस्तु भगवान् रुद्रः	कृष्णोप.८	२६४
वचसा वेदमार्गं हि	पु.प्र.म.९	४५
वदन्ति तत् तत्त्वविदः	भाग.पुरा.१।२।११	१२२,१४१, १४३
वसीयान् भवति	तैत्ति.संहि.३।१।७।४	१५७
वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम्	त.दी.नि.प्र.१।७०	३५२
वस्तुनः समसत्ताको अन्यथाभावः	सि.ले.सं.१।१६	२२५
व्रजो गोष्ठऽध्ववृन्देषु	मेदि.को.३।३।१११	३८७
वागर्थाविव सम्पृक्तौ	रघुवं.१।१	६७
वागेवार्थं पश्यति वाग्	वाक्यप.१।११०	१२१
वाग्देवी ब्रह्मशंसिता	अथ.संहि.१९।९।४	१२२
वाग्रूपता चेद् उत्क्रामेद् अवबोधस्य	वाक्यप.१।११६	१२१
वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा	भाग.पुरा.११।४।३-४	३६३
वाचा ब्रह्मान्वभवद्	तैत्ति.संहि.७।१४।१	१२१
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं	छान्दो.उप.६।१।४	११९,१२०, १४०,१४७,२८५
वाणीयं वेदसंज्ञिता मयादौ	भाग.पुरा.११।१४।३	१२२
वादिवैमत्यदुर्ग्रह-श्रुतिस्मृतितात्पर्य	शाक्त भाष्य १।१।१	२९८
वायुः यमो अग्निः वरुणः	भग.गीता.११।३९	६२
विज्ञप्तिमात्रमेव एतद्	विज्ञ.मा.सि.प्र.१	२२२
विद्यया अविद्यानाशे	त.दी.नि.१।३३	१६४
विद्यां च अविद्यां यः	ईशा.उप.११	२१७
विद्याविद्ये हरेः शक्ती	त.दी.नि.१।३१	६८
विधर्मः परधर्मश्च आभासः	भाग.पुरा.७।१५।१२	९
विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु	पाणि.सू.३।३।१६१	२७

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो	भाग.पुरा.११।२०।१	१४८
विभूतिं प्रसवं त्वन्ये	माण्डू.कारि.शांक.भा.प्रक.१	२३३
विरतासु अभिधाद्यासु	साहि.दर्प.२।१२	१६१
विराजम् अभिसम्पद्यते	तैत्ति.संहि.७।१।१	१५७
विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं	त.दी.नि.१।७१	३५१
विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये	वि.धै.आ.१	३८
विशिष्टरूपं वेदार्थं फलं	त.दी.नि.प्र.२।२२०	४३
विष्णुः यज्ञो देवताः च	गोप.ब्राह्म.२।१।१२	२१३
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि	भग.गीता.१०।३७	२७
वेद अहम् एतं पुरुषं महान्तम्	तैत्ति.आर.३।१२।७	६०,११९
वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मः	भाग.पुरा.६।१।४०	११
वेदम् अनूच्य आचार्य	तैत्ति.उप.१।११।१	१५६
वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि	त.दी.नि.१।७	५४,१४२, ३५४
वेदान्तवाक्यानाम् अस्मिन्	वाल्लभ भाष्य १।१।३	३०३
वेदान्ते च स्मृतौ	त.दी.नि.१।६	१४४
वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः		२६५
वेदैश्च सर्वैं अहमेव वेद्यो	भग.गीता.१५।१५	५९,१२२
वेदोऽखिलो धर्ममूलम्	मनुस्मृ.२।६	१५६
वैतथ्यं सर्वभावानाम्	माण्डू.कारि.शांक.भा.प्रक.२	२३३
वैराग्यं सांख्ययोगौ च	त.दी.नि.१।४५	४०८
शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः	भाग.सुबो.३।१२।४६	६७,१२४
शब्दब्रह्मात्मनः तस्य	भाग.सुबो.३।१२।४६	५५
शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं	ब्र.सू.शां.भा.२।१।२७	२७४
शब्दशब्दवत् स्वपरनिर्वाहकेषु	वि.प्र.सं.अनु.९	१२२
शमो दमः तपः शौचं	भग.गीता.१८।४२	२९
शरणं गृहरक्षित्रो वधरक्षणयोरपि	मेदिनी १५ णान्तवर्ग।७९	४४

शाक्तवादो हि सरूपाद्वैतवादः	शाक्त भाष्य मुख	२७३
शास्त्रयोनित्वस्य शास्त्रप्रमाणकत्वाद्	शाक्त भाष्य१।१।३	३०२
शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये	त.दी.नि.३।१।२	१५९
शुक्लः पटः इत्यादौ	शाक्त भाष्य २।२।१५	३०९
शूरसेन यदुपतिः मथुरां	भाग.पुरा.१०।१।२७	३८७
श्रीकृष्णं परमानन्दं	त.दी.नि.प्र.३।१।१	१६०
श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण	जैमि.मी.सू.३।३।१४	१४७,१६०
श्रुत्यादिभेदेषु नानाप्रकारेण	त.दी.नि.१।७०	२१८
स आत्मानं स्वयम् अकुरुत	तैत्ति.उप.२।७	३०३
स इममेव आत्मानं द्वेधा	बृह.उप.१।४।३	१२३,३५७
स इयं देवता ऐक्षत	छान्दो.उप.६।३।२	३५९
स एकधा भवति	छान्दो.उप.७।२६।३	१२३
स एकाकी न रमते	बृह.उप.१।४।३	४००
सएव अधस्तात् स	छान्दो.उप.७।२५।१	३९
सएव कदाचिद् जगदुद्धारार्थम्	त.दी.नि.प्र.१।१	१४४
सत् च त्यत् च अभवत्	तैत्ति.उप.२।६	४०६
सत्ताविशेषवद्वृत्तिभेदाप्रतियोगी	शाक्त भाष्य १।१।४	३०६
सत्त्वं रजः तमः इति	भाग.पुरा.१।२।२४	२९३
सत्त्वेव सौम्य इदम् अग्रे	छान्दो.उप.६।२।२	३०,११६, २५७,२८२,२८३
सत्यपि भेदापगमे नाथ तव	विष्णुषट्पदी ३	३७६
सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म	तैत्ति.उप.२।१	२१,१४२, २१४,२७९
स द्वितीयम् ऐच्छत्	बृह.उप.१।४।३	३५७
सदेव सत् स्यात् सद्	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका २८	२१६
सदेव सौम्य इदम् अग्रे	छान्दो.उप.६।२।१	११८,१४३, २१९

सदेव... इत्यादि तत्र	शाक्त भाष्य २।१।१८	३०६
सन्ति भिक्खवे एके	दीघनि.१।१।३।२९	२२२,२६६
सन्देहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात्	ब्र.सू.अणुभा.१।१।१	१५८
सन्मात्रत्वं च सत्यत्वं	तैत्ति.उप.शां.भा.२।१	११७
सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूला:	छान्दो.उप.६।८।४	६,११८, १८१,२८३
स भू:इति व्याहरद्	तैत्ति.ब्राह्म.२।२।४।१	५६
स भूमिं विश्वतो वृत्वा	ऋक्.संहि.१०।९०।१	३८२
सम्भवामि आत्ममायया	भग.गीता.४।६	३४१
स य एषो अणिमा	छान्दो.उप.६।९।४	२८६
स य एषो अणिमा	छान्दो.उप.६।८।७	३१,६०, ११९,१२३
स वा अयम् आत्मा	बृह.उप.२।५।१५	४५
स वै नैव रेमे तस्माद्	बृह.उप.१।४।३	४३,११९, १२३,१२५,२२४,२६९,२८८,३५५
स यथा ऊर्णनाभि:	बृह.उप.२।१।२०	३६९
सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि भवेत्	पु.प्र.म.८	३२३
सर्वं खलु इदं ब्रह्म	छान्दो.उप.३।१४।१	३१,६०, ११९,२१५,२४५,२८०,४००
सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवा:	नृ.उ.ता.उप.९।४	११९
सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे	त.दी.नि.२।६२	१५९
सर्वथा वृत्तिहीनश्चेद् एकं	त.दी.नि.प्र.२।२३४	३६
सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो	चतुश्लो.१	३८
सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि	त.दी.नि.प्र.१।७०	६४,३५०, ३६६,३८२
सर्वाणि भूतानि पृथिवी	सुबा.उप.२	२२३,२६८
सर्वाणि रूपाणि विचित्य	तैत्ति.आर.३।१२।७	२१५

सर्वान् बलकृतान् अर्थान्	मनुस्मृ.८।१६८	४
सर्वे वेदाः यत्रैकं भवन्ति	तैत्ति.आर.३।११।१	२६३
सर्वेषां धर्माणां विरुद्धानाम्	शाक्त भाष्य २।१।२७	३०७
स वै नैव रेमे तस्माद्	बृह.उप.१।४।३	३५५
सहस्रधा पञ्चदशानि उक्था	ऋक्संहि.१०।११४।८	६६
संशयो अथ विपर्यासो	भाग.पुरा.३।२६।३०	४०९
सांख्यः बहुविधः प्रोक्तः तत्र	त.दी.नि.१।१३	३८३
सात्त्विकं सुखम् आत्मोत्थं	भाग.पुरा.११।२५।२९	४२
साधनं च फलं चैव हरिः	त.दी.नि.प्र.२।१८	८०
सिद्धान्ते तु चरणस्य ब्रह्मधर्मत्वं	ब्र.सू.अणुभा.१।१।२३	१२१
सुखन्तु इदानीं त्रिविधं शृणु	भग.गीता.१८।३६	१७९
सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण	ब्र.सू.शां.भा.२।१।१४	२५१
सूर्याचन्द्रमसौ धाता	ऋक्संहि.१०।१९०।१	२२४,२६९
सेवकानां यथा लोके	सिद्धा.रह.७	३८,४०
सेवायां फलत्रयं	सेवा.विव.१	८३
सैषा आनन्दस्य मीमांसा	तैत्ति.उप.२।८	१७२
सो अकामयत बहु स्यां	तैत्ति.उप.२।६	३०,५५, ५८,११९,१४२,१७८,२१६,३०१
सो अकामयत द्वितीयो	बृह.उप.१।२।३	१२३
सो अबिभेत् तस्माद् एकाकी	बृह.उप.१।४।२	७४
सोऽहं तवांघ्र्युपगतो	भाग.पुरा.१०।४०।२८	४५
स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः	जैमि.मी.सू.१।२।७	१४८
स्नेहः पदार्थान्तरं स	सुबो.१।१९।१६	१९
स्मृतिः प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम्	तैत्ति.आर.१।२।१	५१
स्याद् एतद् आविर्भावः	सां.त.कौ.९	२४२
स्वतन्त्रः कर्ता	पाणि.सू.१।४।५४	२
स्वसत्ताव्यापकसत्तासम्बन्धेन	शाक्त भाष्य १।१।४	३०५

स्वसृष्टम् इदम् आपीय	भाग.पुरा.१०।८४।१२	२९४
स्वामिनः फलश्रुतेः इति आत्रेयः	ब्र.सू.३।४।४८	२४१
स्वे-स्वे कर्मणि अभिरतः	भग.गीता.१८।४५	३२८
हस्त्यृषभं सहस्रं ददामि इति	बृह.उप.४।१।२	३३७
हेतु समस्तजगतां	दु.स.श.४।६	२८२

उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका

अम.को.	अमरकोषः
अथ.संहि.	अथर्वसंहिता
अन्त.प्रबो.	अन्तःकरणप्रबोधः
आप.श्रौ.सू.	आपस्तम्बीयश्रौतसूत्रम्
ईशा.उप.श.भा.	ईशावास्योपनिषद् शक्तिभाष्यम्
ईशा.उप.	ईशावास्योपनिषद्
ऋक्संहि.	ऋग्वेदसंहिता
ऋक्संहि.सा.भा.	ऋग्वेदसंहिता सायणभाष्यम्
ऐत.आर.	ऐतरेयारण्यकम्
ऐत.उप.	ऐतरेयोपनिषत्
कठोप.	कठोपनिषत्
कठोप.शां.भा.	कठोपनिषत् शांकर भाष्यम्
कुमा.सम्भ.	कुमारसम्भवम्
कृष्णोप.	कृष्णोपनिषद्
कृष्णा.स्तो.	कृष्णाश्रयस्तोत्रम्
केनोप.शां.पा.	केनोपनिषत् शान्तिपाठः
कौषी.ब्रा.उप.	कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्
गोप.ब्राह्म.	गोपथब्राह्मण
गो.पू.ता.उप.	गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्
चतुश्लो.	चतुश्लोकी
छान्दो.ब्राह्म.	छान्दोग्यब्राह्मणम्
छान्दो.उप.	छान्दोग्योपनिषद्
जैमि.मी.सू.	जैमिनिमीमांसासूत्रम्
त.दी.नि.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धः
त.दी.नि.प्र.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः
तैत्ति.आर.	तैत्तिरीयारण्यकम्

तैत्ति.उप.	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्ति.ब्राह्म.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
त्रि.वि.ना.	त्रिविधनामावली
दशश्लो.	दशश्लोकी
दीघनि.	दीघनिकाय
दु.स.श.	दुर्गासप्तशती
दृग्दृश्यविवेकः	
धम्म.ब्राह्म.	धम्मपद ब्राह्मणवग्गो
न.र.	नवरत्नम्
निघ.निरु.	निघण्टु निरुक्त
निर्ण.सिन्धु.	निर्णयसिन्धु
नि.ल.	निरोधलक्षणम्
नैष्क.सि.	नैष्कर्म्यसिद्धि
नृ.उ.ता.उप.	नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
न्या.कु.स्तब.	न्यायकुसुमाञ्जलि स्तबकः
न्या.कु.प्रका.	न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशः
न्याय.को.	न्यायकोषः
न्या.सि.	न्यायसिद्धाञ्जनम्
पं.श्लो.	पंचश्लोकी
पञ्चास्तिकाय.त.प्रदी.	पञ्चास्तिकाय तत्त्वप्रदीप
पत्राव.	पत्रावलम्बनम्
पातं.महाभा.	पातंजल महाभाष्यम्
पा.धा.पा.	पाणिनिधातुपाठः
पाणि.सू.	पाणिनिसूत्रम्
पाणि.सू.महाभा.	पाणिनिसूत्रमहाभाष्यम्
पा.यो.सू.	पातञ्जलयोगसूत्रम्
पु.ना.म.	पुरुषोत्तमनामसहस्त्रं स्तोत्रम्
पु.प्र.म.	पुष्टिप्रवाहमर्यादा

बा.बो.	बालबोधः
बोधसा.	बोधसार
बृह.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृह.उप.शां.भा.	बृहदारण्यकोपनित् शांकर भाष्यम्
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
ब्र.सू.अणुभा.	ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
ब्र.सू.भास्क.भा.	ब्रह्मसूत्रम् भास्करभाष्यम्
ब्र.सू.शां.भा.	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्
ब्र.सू.शां.भा.कल्पत.	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् कल्पतरुटीका
ब्र.सू.शां.भा.भा.	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् भामतीटीका
भग.गीता.	श्रीमद्भगवद्गीता
भग.प्र.कृ.पू.	भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः
भ.व.	भक्तिवर्धिनी
भाग.पुरा.	श्रीभागवतपुराणम्
भाग.सुबो./सुबो.	भागवत सुबोधिनी
भाव.प्रका.	भावप्रकाशिका
मनुस्मृ.	मनुस्मृतिः
महाना.उप.	महानारायणोपनिषद्
महाभा.	महाभारत
महायानसूत्रलं	महायानसूत्रालंकार
माण्डू.उप.गौड.कारि.	माण्डूक्योपनिषत्गौडपादकारिका
माण्डू.कारि.शांक.भा.प्रक.	माण्डूक्योपनिषत्कारिकाशांकरभाष्यप्रकाश
माध्यम.कारि.	माध्यमिककारिका
मुण्ड.उप.	मुण्डकोपनिषद्
मुद्ग.उप.	मुद्गलोपनिषद्
मेदि.को.	मेदिनी कोषः
रघुवं.	रघुवंशम्
वाक्यप.	वाक्यपदीयम्

वि.धै.आ.	विवेकधैर्याश्रयः
विव.प्र.सं	विवरणप्रमेयसंग्रहः
विष्णुपुरा.	विष्णुपुराणम्
वैया.भू.	वैयाकरणभूषणसारः
वृत्रा.चतु.वि.	वृत्रासुर चतुश्लोकी विवरणम्
शतप.ब्रा.	शतपथब्राह्मण
शा.दी.	शास्त्रदीपिका
शिक्षाश्लो.	शिक्षाश्लोकी
श्वेता.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सर्वदर्श.संग्र.	सर्वदर्शनसंग्रहः
सर्वा.सि.	सर्वार्थसिद्धिः
संक्षे.शारी.सुबो.	संक्षेपशारीरकसुबोधिनी
साहि.दर्प.	साहित्यदर्पणम्
सां.त.कौ.	सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां.सू.	सांख्यसूत्रम्
सि.कौ.त.बो.टिप्प.	सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनी टिप्पणी
सिद्धा.मु.	सिद्धान्तमुक्तावली
सिद्धा.मु.वि.प्र.	सिद्धान्तमुक्तावली विवरणप्रकाशः
सिद्धा.मु.सप्रका.	सिद्धान्तमुक्तावली श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः
सिद्धा.र.	सिद्धान्तरहस्यम्
सि.ले.सं.	सिद्धान्तलेशसंग्रहः
सुबा.उप.	सुबालोपनिषद्
सेवा.फ.विव.	सेवाफलविवरणम्

अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत्तु निरूपितम् ।।
आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ।।
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति ।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् ।।

TITLE : PIYUSH GONDHIA